रस - सिद्धान्त

डॉ. नगेन्द्र

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद
की
पावन स्मृति में

पूज्यवर,

मेरी साध थी कि मैं अपनी साहित्य-साधना का उत्तमांश ही आपको अर्पित करूँ। किन्तु मेरी साधना फलवती होने से पूर्व ही आप स्वर्गस्थ हो गये! अतः आज इस ग्रन्थ के द्वारा आपकी पुण्यस्मृति का ही तर्पण कर रहा हूँ।
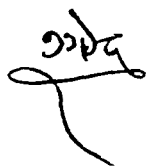
निवेदन

मूल योजना के अनुसार 'रस-सिद्धान्त' 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' शीर्षक ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ है जो द्वितीय ग्रन्थ के लगभग ९ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है। अनेक कारणों से मैं इसे अपनी साहित्य-साधना की परिणति मानता हूँ। पिछले तीस वर्षों में काव्य के मनन और चिन्तन से मेरे मन में जो अन्तःसंस्कार बनते रहे हैं उनकी संहृति रस-सिद्धान्त में ही हो सकती है। अतः रस-सिद्धान्त की उपलब्धि मैंने मूलतः 'साधुकाव्य-निषेवण' के द्वारा ही की है—शास्त्र के अनुचिन्तन से तो उसका पोषण मात्र हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति तक आते-आते मेरी धारणा कुछ ऐसी होने लगी थी कि अब शास्त्र-चर्या छोड़कर आधुनिक काव्य के अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिए और इस प्रकार फिर उसी भूमि पर उतर आना चाहिए जहाँ से यात्रा आरम्भ की थी। परन्तु भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाते समय अनायास ही यह तथ्य सामने आया कि वर्तमान काव्य-सर्जना के आधार-तत्त्वों—बिम्ब, प्रतीक, प्रभाव-छवि आदि—की सम्यक् व्याख्या के लिए भारतीय अलंकार-सिद्धान्त की अनुस्थापना कदाचित् उपादेय हो सके। वास्तव में ऐसे प्रयासों से परम्परा को नवजीवन मिलता है और प्रयोग को स्थिर आधार। इस प्रकार—एक बार फिर उक्त ग्रन्थमाला के तृतीय ग्रन्थ को पूरा करने का लोभ उत्पन्न हो गया है। शास्त्र की भूमि निश्चय ही कठिन है, पर अब मन को अभ्यास हो चला है—यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा !

दिल्ली विश्वविद्यालय
जवाहर-जयन्ती, १९६४

अनुक्रमणिका

अध्याय १

(क) रस शब्द का अर्थ-विकास
(ख) रस-सम्प्रदाय का इतिवृत्त

(क) रस शब्द का अर्थ-विकास

भारतीय सौन्दर्य-कल्पना

भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। यद्यपि दर्शन में भी, विशेषकर आनन्दवादी आगम-ग्रन्थों में, आत्म-तत्त्व के व्याख्यान के अन्तर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी सौन्दर्य के आस्वाद और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्र में ही मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य-चेतना एक मिश्रवृत्ति है। इसके योजक तत्त्व हैं—१. प्रीति अर्थात् आनन्द, और २. विस्मय। भारतीय काव्यशास्त्र इस रहस्य से आरम्भ से ही अवगत था : उसके दो प्रतिनिधि सिद्धान्त रस और अलंकार क्रमशः प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में निहित प्रीति-तत्त्व का प्राधान्य रस-सिद्धान्त में प्रस्फुटित और विकसित हुआ, और उधर विस्मय-तत्त्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया। इन दोनों में रस-सिद्धान्त केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र की आधारशिला यही है।

रस शब्द का अर्थ-विकास

रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता है : १. पदार्थों का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; २. आयुर्वेद का रस; ३. साहित्य का रस; और इसी से मिलता-जुलता ४. मोक्ष या भक्ति का रस। प्राकृतिक (पार्थिव) रस में रस का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़कर निकाला हुआ द्रव जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ-सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता है : पदार्थ का सार (या सार-भूत द्रव) भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है। आगे चलकर ये दोनों अर्थ स्वतन्त्र रूप में विकसित हो गये। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद—यह प्राकृतिक रस का ही अर्थ-विकास है। यहाँ पदार्थ-सार तो अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नहीं वरन् गुण (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। पदार्थ-रस जहाँ आस्वाद-प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति-प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक और अर्थ है देह-धातु—अर्थात् शरीर में अन्तर्भूत ग्रन्थियों का रस जिस पर शरीर का विकास निर्भर रहता है। यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस, जहाँ रस का अर्थ है (अ) काव्य-सौन्दर्य, और (आ) काव्यास्वाद—तथा काव्यानन्द भी। मोक्ष-रस या आत्म-रस ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द का वाचक है; भक्ति-रस का अर्थ भी, सिद्धान्त-भेद होने पर भी, मूलतः यही है।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में आस्वाद का अन्तर्भाव तो स्पष्ट है, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा; द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का भाव भी प्रायः किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र मिलता है।

रस शब्द का पहला अर्थ—अर्थात् पदार्थों का सारभूत द्रव—वेदों में स्पष्ट रूप से लातमि है। वनस्पतियों के रस का वैदिक युग में प्रचुर प्रयोग होता था : मानव-सभ्यता के उस प्रभात-युग में यह स्वाभाविक ही था :

महे यत्पित्र ई रसं दिवे करवत्सरत्……। ऋग्० १.७१.५

—जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हव्य रूप में रस देता है।

इसके अतिरिक्त दूध और जल के अर्थ में भी रस का प्रयोग है :

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।

ऋग्०७.१०४.१०

—हे अग्नि ! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वों, गायों और सन्तानों का सार नष्ट करने की इच्छा करता है × × ×।

किन्तु इन सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग। ऋग्वेद में सोमरस का अत्यन्त उच्छ्वसित वाणी में स्तवन किया गया है :

तं गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये। सुतं भराय सं सृज। ऋग्० ९.६.६

—देवों को मत्त करने के लिए उस अभियुत और अभीष्टवर्षक सोमरस में गव्य मिलाओ।

सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपाः। ऋग्० ९.२३.५

—संसार को धारण करने वाले सोम इन्द्रिय-पोपक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले हैं।

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रवरूप वनस्पति-सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था—अतएव 'आस्वाद' रूप में भी रस का अर्थ-विकास स्वतः ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक ओषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेप प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमें ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन में स्फूर्ति, शक्ति तथा मद का संचार होता था और उसके पान से एक विचित्र आह्लाद की प्राप्ति होती थी। अतः सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अन्त में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया—वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद में परिणत हो गया, और वैदिक युग में ही आत्मानन्द का वाचक बन गया; अथर्ववेद में उपर्युक्त अर्थ-विकास के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते हैं :

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अथर्व० १०.५.४४

—अकाम, धीर, अमृत स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है वह। किसी विपय में भी न्यून नहीं है, उस धीर अजर सदा-तरुण आत्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

इसके उपरान्त उपनिपत्काल आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिपत्काल

को वेदान्त-काल अथवा वैदिककाल का अन्तिम चरण भी कहा जाता है। वेद में जहाँ अन्तर्जगत् और वहिर्जगत्—आत्म-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्व, तथा अनुभूति और तर्क दोनों का महत्त्व है, वहाँ उपनिषद् की प्रवृत्ति एकान्त अन्तर्मुखी है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि रस के अर्थ में भी इस युग में आकर सूक्ष्म तत्त्वों का समावेश हो गया। उपनिषद् में रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ में तो इतना नहीं है—हाँ, द्रव्य की पोपक शक्ति और आस्वाद—द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ में अनेक सन्दर्भों में मिलता है :

औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

तैत्तिरीय उपनिषद् २.१ (क)

—ओपधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुप अर्थात् शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर अन्न रसमय है अर्थात् अन्न के रस से वना है।

यहाँ रस का अर्थ केवल द्रव्य नहीं है, वरन् द्रव्य-जन्य देह-धातु और शक्ति आदि है। अर्थात् यहाँ प्राकृतिक रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस (देह-धातु) की विवक्षा अधिक है। द्रव्य और द्रव्य-जन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है तन्मात्रा के अर्थ में : यह प्रयोग भी वैदिक ही है। उपनिषद् में इसका स्पष्ट व्यवहार है :

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वैतत्। कठ० ४.३

—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान [या अनुभव], उसी आत्मा के कारण होता है। यदि वह न रहे, तो [फिर] क्या कुछ वच रहता है ?

वाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय के विपय का नाम रस है, और तत्त्व-दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है। यहीं से यह शब्द गुण, द्रव्य आदि का नाम धारण कर सांख्य, वैशेपिक आदि दर्शनों में गया, जहाँ इसका सूक्ष्म-गहन विश्लेपण किया गया। आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति में ही तन्मात्राओं की स्थिति रहती है : शान्त आत्मा इन सवसे मुक्त हो जाता है :

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। कठ० ३.१५

—किन्तु भौतिक अर्थ में ही वह परमतत्त्व अरस है, पारमार्थिक अर्थ में वह सर्वरस है :

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः
सर्वगन्धः सर्वरसः············ छान्दोग्य० ३.२

—वह ब्रह्मज्योति मनोमय है, प्राण शरीर है, प्रकाशरूप है, सत्यसंकल्प है, आकाश उसका आत्मा है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध और सर्वरस है······।

रस के अर्थ-विकास के प्रसंग में उपर्युक्त दोनों (अथवा इस प्रकार के अन्य भी) उद्धरणों का विशिष्ट महत्त्व है—यहाँ रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती हैं, अथवा यह कहा जा सकता है कि रस भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा में प्रवेश करता है। वह परमतत्त्व अरस भी है और सर्वरस भी है—'अरस' में रस का भौतिक अर्थ अभीप्ट है और 'सर्वरस' में आध्यात्मिक, क्योंकि भौतिक अर्थ में ही वह रस से विहीन और आध्यात्मिक अर्थ में ही रसमय हो सकता है। लक्षणा की

शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तरसंक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है। रस का यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य में और भी स्पष्ट हो जाता है :

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। तैत्तिरीय उपनिषद् २.७

—वह रस-रूप है, इसीलिए रस को पाकर, जहाँ कहीं रस मिलता है उसे प्राप्त कर, मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है।

रस शब्द के अर्थ-विकास का क्रम यहाँ आकर एक मंज़िल पूरी कर लेता है। उपर्युक्त उद्धरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्‌भावना नहीं हुई, एक ही अर्थ क्रमशः सूक्ष्मतर होता चला गया है। रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियों का रस, अर्थात् 'द्रव्य' रूप रस। 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के 'आस्वाद' का वाचक बना, और फिर विशिष्ट-आस्वादयुक्त सोमरस का। सोमरस में आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणों का भी वैशिष्ट्य था—ऊर्जा, स्फूर्ति, मस्ती आदि। अतः रस की परिधि में विकास-क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणों का भी समावेश हो गया। सामान्य अन्नरस जहाँ आस्वाद-विशिष्ट ही होते थे, वहाँ सोमरस में आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था—अर्थात् सोमरस के आस्वाद में प्रकारान्तर से मानसिक तत्त्व का भी विशेष रूप में समावेश हो गया था। विचार के क्षेत्र में आस्वाद ही 'रस' तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मरस या ब्रह्मरस के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार रस का अर्थ अन्नरस या पदार्थ-रस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि में ही पूरी कर लेता है :

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः
शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे। विश्वकोश

रस के उपर्युक्त अर्थों में से 'शृंगारादौ' अर्थात् 'काव्यरस' को छोड़ प्रायः अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्‌भावना इस युग में हो चुकी थी। (प्रायः में पारद आदि परवर्ती अर्थ-विवृत्तियों का अन्तर्भाव हो सकता है—वैसे 'पारद' के रूप में भी रस का प्रयोग 'देहधातु' आदि का ही अर्थ-विकास है)। काव्यरस के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता। डॉ० शंकरन का यही मत है (देखिए—दी थिअरीज़ ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि—सम एस्पेक्ट्स ऑफ़ सं० अलं०, पृ० ५)—हम भी छानबीन के वाद अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। परन्तु ऋग्वेद की ही अनेक ऋचाओं से यह संकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लक्षणा ऋषियों की चिरवन्दिता शक्ति 'वाक्' के लिए भी रस का अर्थ-प्रसार करने लगी थी : वाणी के लिए 'पीना' क्रिया, और 'स्वादु', 'मधु' आदि विशेषणों का प्रयोग इसका असन्दिग्ध प्रमाण है। स्वयं डॉ० शंकरन द्वारा उद्धृत ऋग्वेद के कतिपय वाक्य हमारे मन्तव्य को पुष्ट करते हैं :

पिबत्वस्य गिर्वणः। ऋग्० ८.१.२६

—हे गीत-रसिक देव ! तू इस [गीत के रस] का पान कर।

वचः स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्। ऋग्० १.११४.६

रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत)······।

मध्व ऊषु मधुयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी……। ऋग्० ५.७३.८

—मधु-प्रेमी रुद्रगण ! मधुवर्षिणी वह [वाक्] तुम्हारे लिए प्रस्तुत है…

वाचो मधु पृथिवि ! देहि मह्यम्। ऋग्० १२.१.१६

—हे पृथ्वी ! मुझे वाणी का मधु प्रदान कर।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः। पूर्वार्ध ऋग्० १०.२४.६

—यहाँ वाणी के लिए न केवल 'मधुमती' वरन् 'मधु के समान दीखने वाली' विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

वाणी के चमत्कार से वैदिक ऋषि पूर्णतः परिचित था—उसकी विभूतियों का उसने अनेक स्थलों पर भाव-विभोर होकर उद्गीथ किया है। —ऋग्वेद के उपर्युक्त उद्धरणों में प्रयुक्त 'पीना' क्रिया, और 'स्वादु' तथा 'मधुर' विशेषणों से यह स्पष्ट है कि इस चमत्कार की 'मधुर पेयरस' के रूप में भी वैदिक ऋषि कल्पना करते थे, और सोमरस के प्रति अबाध आकर्षण होने के नाते यह बिम्ब कदाचित् उन्हें प्रिय भी था। मेरी अपनी धारणा है कि 'वाणी के चमत्कार' के लिए पहले 'आस्वाद' शब्द, और फिर आस्वाद्य 'रस' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के बीज कदाचित् यहीं मिल जाते हैं—ऋषि वाणी का पान करते थे, और वे वाणी की मधुर एवं स्वादु रूप में भी कल्पना करते थे, अर्थात् वाणी उन्हें मधुर पेय अथवा 'रस' रूप में काम्य थी।

डॉ० शंकरन के ही ग्रन्थ में उद्धृत ऋग्वेद का वाक्य हमारे अनुमान को पुष्ट कर देता है :

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥
××× तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरम्। ऋग्० ९.६७.३१-३२

—जो पवमान ऋचाओं के रूप में ऋषियों द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है, वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लेता है……उसके लिए सरस्वती क्षीर आदि का दोहन करती है।

यहाँ रस का प्रयोग निश्चय ही ऋचाओं के अर्थात् वाणी के रस के लिए किया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में ही रस शब्द का प्रयोग वाणी या शब्द+अर्थ के लिए होने लगा था : किन्तु यह भी व्यावहारिक प्रयोग मात्र था, शास्त्रीय नहीं।

इसके बाद रामायण-महाभारत काल आता है। यों तो वाल्मीकि-रामायण के प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है,

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम्॥८॥
रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिश्चसंयुक्तं काव्यमेतदगायताम्॥९॥ रामायण—नि.सा.प्रे.

परन्तु बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है; किसी भी प्रामाणिक संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते। ब्लूमफ़ील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह

कहा जा सकता है कि रामायण और महाभारत में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। रामायण में रस का प्रयोग जीवन-रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों में ही हुआ है। महाभारत में भी वह जल, सुरा, पेय, गंध आदि का ही पर्याय है: केवल दो-एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं, जैसे काम और स्नेह के अर्थ में। महाभारत-काल के पश्चात् [भरत के नाट्यशास्त्र की रचना तक] सूत्रकाल आता है: यह मूल दर्शन-सूत्रों की रचना तथा बौद्ध एवं जैन दर्शनों के प्रथम आविर्भाव का युग है। इसी युग में वैयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन का कामसूत्र लिखा गया। इनमें से अधिकांश ग्रंथों में रस शब्द का विशेष अर्थ-विकास नहीं हुआ। दर्शन-सूत्रों में तन्मात्रा के अर्थ में और अर्थशास्त्र आदि में द्रव्यादि के रूप में ही उसका प्रयोग होता रहा।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव—हमारे अनुसंधान में सहायक इस युग का एक ग्रंथ है—कामसूत्र। वात्स्यायन के नाम से प्रचलित कामसूत्र का जो प्रसिद्ध संस्करण जयमंगला टीका के साथ इस समय मिलता है उसमें रस शब्द का प्रयोग रति, काम-शक्ति आदि के अर्थ में प्रायः हुआ है:

रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः। कामसूत्र २.१.६५

शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। कामसूत्र २.२.३२

एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ में भी रस का स्पष्ट प्रयोग है:

तदिष्टभावलीलानुवर्तनम्। कामसूत्र ६.२.३५

इस पर जयमंगला टीका है:

नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो भावः स्थायिसञ्चारिसात्त्विकेषु, लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम्।

—अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय शृंगारादि रस और स्थायि-संचारी आदि भावों का है।

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है—वह वात्स्यायन-कृत मूलसूत्रों में से है या नहीं है यह कहना कठिन है। किन्तु वात्स्यायन के ही युग में या उसके आसपास रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। अधिकांश विद्वानों का आज यही मत है कि वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना कदाचित् ईसापूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी: यह युग सूत्रकाल कहलाता है और इसका विस्तार ५-६ शती ई० पू० से ५-६ शती ईस्वी तक माना जाता है। इस कालावधि में ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। कामसूत्र की रचना इसके पूर्वार्ध में और भरत-सूत्र की कदाचित् उत्तरार्ध में हुई। एक तो भरत-सूत्रों में ही प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इतना सांगोपांग और परिपूर्ण है और दूसरे स्वयं भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा आनुवंश्य श्लोकों में उनके मन्तव्य का प्रयोग इतने प्रचुर रूप में किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार रस शब्द के शास्त्रीय अर्थ के आविर्भाव का समय कामसूत्र की रचना

के आसपास ही पहुँच जाता है। इन दो शताब्दियों में शास्त्रीय अर्थ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को या भरत नाम से रचना करने वाले सूत्रकार को उसका पूर्ण विस्तार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप हमारे निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१. रस का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियों के द्रव के लिए होता था—जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे।

२. 'द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्यवाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग' के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा 'आस्वाद और ऊर्जा' आदि के अर्थ में उसका विकास हो गया।

३. सोमरस के वर्द्धमान प्रचार ने रस शब्द के अर्थ में आनन्द, मस्ती और तन्मयता—'चमत्कार' आदि का समावेश कर दिया। प्रत्येक 'रस' या उसका 'आस्वाद' आनन्दप्रद नहीं होता, किन्तु सोमरस के प्रभाव से रस आनन्द और तन्मयता—चमत्कार आदि का वाचक बन गया।

४. लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओं के रस आदि) के लिए होने लगा और दूसरी ओर—

५. सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा।

६. 'वाणी का रस' काव्य-रस का ही समानार्थक है। यों तो वेद में कवि और काव्य शब्दों का भी प्रयोग है, पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोड़ा दूर है; काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है। अतः वाग्रस को काव्य-रस का वाचक मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

७. किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है, रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं है।

८. अतः रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण-महाभारत काल के पश्चात् भरत के नाट्य-सूत्रों से बहुत पहले—कामसूत्र के प्रभाव के फलस्वरूप अनुमानतः चौथी-पाँचवीं शती ईसापूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शती ईसापूर्व तक हुआ होगा। यह वह युग था जब भरत के पूर्ववर्ती आचार्य (जिनके मत भरत ने विस्तार से आनुवंश्य श्लोकों में उद्धृत किये हैं) रसशास्त्र की परम्परा का निर्माण कर रहे थे।

(ख) रस-सम्प्रदाय का इतिवृत्त

रस-सिद्धान्त का प्रतिपादक प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ नाट्यशास्त्र है जो भरत मुनि की रचना के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें नाटक के संदर्भ में रस के अंग-उपांगों का पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है। विशेषज्ञ विद्वानों का मत है कि अपने वर्तमान समग्र रूप में नाट्यशास्त्र ईसा की छठी शती से पूर्व की रचना नहीं हो सकता—साथ ही इसके बहुत बाद की भी रचना यह नहीं है क्योंकि नाट्यशास्त्र के जिस संस्करण पर परम-माहेश्वर अभिनवगुप्त ने आठवीं-नवीं शती में अपनी प्रसिद्ध टीका अभिनवभारती लिखी है, वह प्रस्तुत संस्करण से प्रायः अभिन्न ही है। किन्तु यह तो हुई नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करण की बात ! जो विद्वान् इसे छठी शती के आस-पास की कृति मानते हैं, वे प्रायः यह भी स्वीकार करते हैं कि इस नाट्यशास्त्र का आधारभूत एक लघुतर संस्करण भी प्रारम्भ में था—आज मूल और उसके विस्तार में भेद करना सरल नहीं है, परन्तु उसके चिह्न मिल ही जाते हैं। यह भरत की रचना थी और कदाचित् सूत्र-रूप में थी—कालिदास इसी रूप से परिचित थे। अतः इसकी रचना का समय ई०पू० दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक माना जा सकता है। इस लघुतर संस्करण में प्रायः समस्त मौलिक नाट्यांगों का विवेचन था—रस-प्रसंग की विवेच्य वस्तु और शैली[1] दोनों के ही आधार पर यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि रस का भी अन्तर्भाव निश्चय ही इसमें था। निष्कर्ष यह है कि रस-सिद्धान्त का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन मूल भरत-सूत्रों में ईसा के जन्म के एक-दो शती इधर या उधर निश्चित रूप से हो चुका था। इससे पहले का कोई विवेचन उपलब्ध नहीं है। किन्तु प्रश्न उपलब्धि का ही है, अस्तित्व का नहीं है। भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त का आविर्भाव हो चुका था, इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता। एक तो भरत-सूत्रों (मूलसूत्रों का भी) का रस-प्रतिपादन इतना सांगोपांग और पूर्ण है कि उसके पीछे एक विस्तृत विचार-परम्परा की कल्पना अनिवार्य है, दूसरे नाट्यशास्त्र में सर्वत्र उद्धृत आनुवंश्य श्लोक अपने आप में इस बात का अकाट्य प्रमाण हैं कि भरत से पूर्व शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा के माध्यम से रस-सिद्धान्त काफ़ी पहले से ही चला आ रहा था। अभिनवगुप्त के साक्ष्य के अनुसार पूर्वाचार्यों ने लक्षण रूप में इनका कथन किया था और भरत ने परम्परा से प्राप्त कर इन्हें, अपने विवेचन को पुष्ट करने के लिए, यथास्थान निवेशित कर दिया है :

ता एतां ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः। अभिनवभारती अ० ६

राजशेखर के प्रसिद्ध उद्धरण में भी भरत के अतिरिक्त नन्दिकेश्वर का उल्लेख है। उसके अनुसार भरत ने मुख्यतया रूपक का निरूपण किया और नन्दिकेश्वर ने रस का—अर्थात् भरत की अपेक्षा नन्दिकेश्वर का रस-सिद्धान्त से घनिष्ठतर सम्बन्ध था।

---

[1] वस्तुतः सूत्र-शैली का प्रयोग इसी प्रसंग में सर्वाधिक स्पष्ट है।

आनुवंश्य श्लोकों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में दो और ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे भरत-पूर्व रस-सिद्धान्त-परम्परा के अनुसन्धान में सहायता मिलती है—१. कामसूत्र के प्रचुर उद्धरण, और २. अथर्ववेद से रस-ग्रहण की कल्पना : **रसानाथर्वणादपि** । १. १७ । यों तो वात्स्यायन के नाम से उपलब्ध कामसूत्र के प्रचलित संस्करण में शास्त्रीय अर्थ में भी रस का प्रयोग विद्यमान है (देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ ८), किन्तु यदि उसकी प्रामाणिकता में सन्देह हो तो भी कामसूत्र में श्रृंगाररस के परिपाक के समस्त उपकरण—रस-सिद्धान्त के समस्त शास्त्रीय अवयव निर्भ्रान्त रूप से मिलते हैं, इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता । उसमें रस के आलम्बन नायक-नायिका के भेद, उद्दीपन की सम्पूर्ण सामग्री, सखी-दूती आदि के नाना रूप, अनुभाव, सात्त्विक भावादि का तो प्रत्यक्ष विवेचन ही है, स्थायी और संचारी का उल्लेख भी प्रकारान्तर से अवश्य है । वैसे भी सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से नाट्यादि कलाओं का विकास नागरिक जीवन के विलास-उपकरणों के रूप में मानना ही अधिक संगत है, और इस तर्क-पद्धति से नाट्यशास्त्र का रचनाक्रम कामशास्त्र के उपरान्त ही आता है । अतः इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कामसूत्र—सम्भवतः वात्स्यायन का ही कामसूत्र, भारतीय नाट्य-साहित्य एवं नाट्यशास्त्र का प्रमुख आधार रहा है, और रस तथा रसांगों की कल्पना को यहीं से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा मिली है । स्वयं भरत ने ही कामसूत्र को इस वर्णन का आधार माना है :

वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थाऽभिहितः । ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः ।

हिन्दी अ० भा०, पृ० ५६०

—अर्थात् कामशास्त्र के आचार्यों ने दश अवस्थाओं का कथन किया है । उनको सामान्य अभिनय के प्रसंग में कहेंगे ।

उधर अभिनव का उद्धरण भी इस तथ्य का प्रमाण है कि अनेक मनीषी नाट्य को 'कामज वर्ग' के व्यसनों के अन्तर्गत मानते थे । इसी आक्षेप का खण्डन करते हुए अभिनव ने लिखा है :

एतेन 'कामजो दशको गणः' इति वर्जनीयत्वेन नाट्यस्यानुपादेयतेति यत् केचिदाशङ्किरे, तदयुक्तीकृतम् ।

—अर्थात् इससे 'कामजो दशको गणः' इस मनुस्मृति के वचन के द्वारा वर्जनीय होने से नाट्यशास्त्र की अनुपादेयता की शंका जो किन्हीं ने उठायी थी वह खण्डित हो जाती है । (हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ३६)

जैसा कि हमने आरम्भ में ही संकेत किया है, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के दो प्रमुख अंग हैं : रस और अलंकार । इनमें से अलंकार का मूल आधार है व्याकरण और रस का मूल आधार है कामसूत्र । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कामसूत्र का आधार क्या है ? हमारी धारणा है—अथर्ववेद । अथर्ववेद के ऋषि लौकिक जीवन की सिद्धियों को ही प्रमाण मान कर चले हैं; जहाँ उसमें अनेक प्रकार की भौतिक बाधाओं के निराकरण की कामना और व्यवस्था है, वहाँ इसी परिधि के अन्तर्गत एक या अनेक नारियों का प्रेम प्राप्त करने, उनकी प्रसन्नता के लिए नाना प्रकार के उपकरण जुटाने, सपत्न और सपत्नियों के विरोध का शमन

करने, अभिसार आदि की सुविधाएँ प्राप्त करने तथा दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाने के उद्देश्य से भी अनेक अभिचार-मन्त्रों का समावेश किया गया है।[1] कदाचित् ये ही मन्त्र काम-सूत्र के उद्गम-स्रोत हैं। हमारे इस अनुमान की पुष्टि वेद-विद्या के प्रसिद्ध आचार्य वैबर के इस मन्तव्य के द्वारा भी हो जाती है कि परवर्ती संस्कृत-साहित्य में धार्मिक स्तोत्रों को प्रेरणा ऋग्वेद की ऋचाओं से मिली है और ऐहिक शृंगार-मुक्तकों को अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों से।[2] यदि इस तर्कणा-पद्धति में बल है तो रसशास्त्र का सम्बन्ध कामसूत्र के माध्यम से अथर्ववेद के साथ सहज ही स्थापित हो जाता है : अथर्ववेद के शृंगारपरक अभिचार-मन्त्र→कामसूत्र→रसशास्त्र। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित प्रसिद्ध श्लोक का रहस्य भी खुल जाता है :

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ नाट्यशास्त्र १.१७

—अर्थात् नाट्यशास्त्र नामक इस पंचम वेद में पाठ्य तत्त्व (वस्तुतत्त्व) ऋग्वेद से, संगीत (गीत, नृत्य आदि) सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से, और रस-तत्त्व अथर्ववेद से लिया गया है।[3]

कुछ विद्वानों ने—डॉ० शंकरन और उनके आधार पर पं० बलदेव उपाध्याय ने रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध वाल्मीकि से स्थापित किया है और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के प्रमाण देते हुए क्रौंचवध-सम्बन्धी श्लोकों में रसवाद के बीज का अनुसन्धान किया है। वाल्मीकि के इस प्रसंग में दो श्लोक हैं :

१. पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ रामायण (बा० का०) २३.६

२. समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ रामायण (बा० का०) २.४२

अर्थात्

१. शोक से कातर मेरे मन से पादबद्ध, समान अक्षरों से युक्त, तन्त्रीलय-समन्वित जो श्लोक उद्गीर्ण हुआ है, वह अन्यथा नहीं हो सकता (सत्य होकर ही रहेगा)।

---

[1] देखिए, अथर्ववेद, १,३४; २,३०; २,३६; ३,२५; ४,५।

[2] क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (हैरिटेज ऑफ़ इण्डिया सीरीज़) १९४७ : कीथ, पृ० २७

[3] अभिनवगुप्त की व्याख्या इससे कुछ भिन्न है। उनके मत का सारांश यह है कि अथर्ववेदोक्त कर्मों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का एकत्र समाहरण होने से वही रस की सामग्री का स्रोत है : देखिए हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ९८। परन्तु अभिनव का यह तर्क अधिक संगत प्रतीत नहीं होता; इसके विपरीत वैबर आदि के प्रमाणों से पुष्ट पूर्वोक्त आनुमानिक तर्क ही (किसी अधिक प्रामाणिक तर्क के अभाव में) अधिक ग्राह्य है।

२. समान अक्षरों और चार पादों में महर्षि ने जिस शोक का उद्गार किया था, वह बाद में [मुनि तथा उनके शिष्यों के] बार-बार वाचन से श्लोक (छंद) में परिणत हो गया।

इनमें से पहले श्लोक में 'अन्यथा' का अर्थ 'मिथ्या' ही है—डॉ० शंकरन की यह व्याख्या कि 'शोक की प्रेरणा के कारण ऋषि का उद्गीथ पादबद्ध, समाक्षर तथा तन्त्रीलय-समन्वित ही हो सकता था अन्यथा नहीं'—प्रसंग के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में भाव और कविता अथवा रस और छन्द के मौलिक सम्बन्ध का अस्फुट संकेत मात्र ही है—उससे अधिक नहीं। वस्तुतः 'शोक और श्लोक के समीकरण' का श्रेय कालिदास को है :

······श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। रघुवंश १४.७०

यहाँ श्लोक का अर्थ निश्चय ही काव्य-छन्द है। आनन्दवर्धन के सामने भी उस समय कालिदास की यह सूक्ति विद्यमान थी जबकि उन्होंने रस—(ध्वनि-) वाद की स्थापना के लिए आदिकवि का प्रमाण प्रस्तुत किया था :

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्यालोक १.५

—अर्थात् काव्य की आत्मा वही [प्रतीयमान] अर्थ (रस) है। इसी से प्राचीन-काल में क्रौंच [पक्षी] के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि का शोक श्लोक (काव्य) में परिणत हुआ।

इस पर अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका है :

स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादि-नियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः। ध्वन्यालोक, चौखम्बा सी०, १९९७, पृ० ८६

—इसका सारांश यह है कि वाल्मीकि के हृदय में वासना रूप में विद्यमान शोक स्थायी भाव को इस दृश्य से रस-सामग्री प्राप्त हो गयी। मृत पक्षी आलम्बन, जीवित पक्षी आश्रय, जीवित पक्षी का विलाप अनुभाव आदि थे। इनकी चर्वणा से मुनि का शोक पक्षी के शोक के साथ तन्मय हो गया। यह मनःस्थिति लौकिक शोक से भिन्न थी—उसका आस्वादन चित्त की द्रुति के रूप में ही किया जा सकता था। जिस प्रकार अधिक भर जाने से घड़ा छलकने लगता है—या भावना-विभोर हो जाने से चित्तवृत्ति स्वभावतः विलाप-प्रलाप में व्यक्त होने लगती है, उसी प्रकार शोक-भावना के अधिक भर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त में नियन्त्रित होकर तत्काल ही—वाल्मीकि का शोक श्लोक में परिणत हो गया।

इन उद्धरणों से क्या निष्कर्ष निकलता है ?

१. रस काव्य का प्राण-तत्त्व है : काव्य का जन्म ही रस-दशा में हुआ था। अतः

रसवाद के बीज वाल्मीकि-रामायण में ही मिल जाते हैं। आनन्दवर्धन और उनसे भी अधिक अभिनवगुप्त वाल्मीकि का प्रमाण देकर रस-ध्वनिवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। यहाँ तक तो ठीक है।

२. किन्तु रस-शास्त्र अर्थात् रस के शास्त्रीय विवेचन का भी संकेत वाल्मीकि में है, यह मानना कठिन है। कालिदास के छन्द और आनन्दवर्धन की कारिका—दोनों में से किसी में भी—रस के 'अर्थ' या 'अनुभव' रूप (स एवार्थः)—अर्थात् स्थायी भाव की परिणति-रूप 'रमणीय अर्थ' या 'अनुभव' से आगे, रस के **शास्त्रीय विवेचन** का कोई संकेत नहीं है। अभिनवगुप्त ने परवर्ती शास्त्र-विवेचन के आधार पर ही वाल्मीकि के छन्दों का रस-शास्त्र की शब्दावली में व्याख्यान किया है।

इसमें सन्देह नहीं है कि रामायण में सभी रसों का विस्तार से वर्णन किया गया है—सम्पूर्ण जातीय जीवन का महाकाव्य होने के कारण स्वभावतः उसमें नाना परिस्थितियों का और उनसे उत्पन्न मानव-मनोदशाओं का चित्रण है, अतएव समस्त रसभावादि की प्रभूत सामग्री वहाँ सहज ही प्राप्त है। महाभारत के विषय में भी यही सत्य है : महाभारत ही क्यों ऋग्वेदादि में, ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी संयोग-वियोग, शान्त, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स और भयानक आदि के अपूर्व वर्णन मिलते है। किन्तु प्रश्न रस-वर्णन का नहीं है, रस के शास्त्रीय विवेचन का है। वैसे भी भारतीय परम्परा रामायण-महाभारत को इतिहास के रूप में ही स्वीकार करती आयी है, उनमें रस की अपेक्षा कथावस्तु और नेता का प्राधान्य माना गया है—इन्हीं दो तत्त्वों की दृष्टि से वे भारतीय नाट्य-साहित्य तथा काव्य के उपजीव्य रहे है। उधर नाटक में रस का प्राधान्य रहा है। रामायण-महाभारत का सम्बन्ध मूलतः धर्म और नीति से था और नाटक का आमोद-प्रमोद से। अतः रामायण-महाभारत और नाटक में उद्देश्य का भेद आरम्भ से था; भारत के उत्कर्ष-काल—मौर्य-गुप्त युग—का सभ्य-समाज धर्मवृत्ति के परितोष के लिए—नीति-ज्ञान के लिए—रामायण-महाभारत की कथा सुनता था और आमोद-वृत्ति के परितोष के लिए—रस के लिए इन्हीं या अन्य कथाओं पर आश्रित नाटक देखता था। हाँ, दृश्य-काव्य के क्षेत्र के बाहर, श्रव्य-काव्य की परिधि में कतिपय रसमयी प्रेमकथाएँ विद्यमान थीं, जिनका उस युग की रसिक-गोष्ठियों में प्रचार था। संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों ने पतंजलि के महाभाष्य के आधार पर वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी आदि कुछ प्रेमकथाओं का रचना-काल भरत से पूर्व माना है।[1] हमारी धारणा है कि उस काल में एक ओर तो रामायण-महाभारत आदि इतिहास-काव्य, उन पर आश्रित नीतिकथाएँ या उनका प्रेरक गम्भीर वाङ्मय था जिसका उद्देश्य धर्म था, और, दूसरी ओर नाटक, प्रणय-कथा आदि से समृद्ध ललित वाङ्मय था जिसका उद्देश्य मनोरंजन था। एक के पोषक थे धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र और दूसरे के कामशास्त्र आदि। रस का मूल स्रोत दूसरे वर्ग का यह ललित वाङ्मय ही था। आरम्भ में रस से प्रायः शृंगार का ही अभिप्राय था और आमोद-प्रमोद से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था। नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है—"**तथा च**

---

[1] क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : कीथ, पृ० १४

यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा भवति तच्छृंगारेणोपमीयते ।' बाद में आचार्यों ने जब रस-सिद्धान्त का विस्तार किया तो उसका क्षेत्र नाटक के आगे बढ़कर सम्पूर्ण ललित वाङ्मय तक व्याप्त हो गया और उसकी परिधि में रति के अतिरिक्त अन्य समस्त मनोवृत्तियाँ अन्तर्भूत हो गयीं । —ऐसी स्थिति में उसका स्तर भी आमोद-प्रमोद या मनोरंजन से ऊपर उठकर आत्मानन्द के समकक्ष हो गया । किन्तु यह सब भारतीय प्रवृत्ति के अनुसार बाद में हुआ । भारतीय चिन्ताधारा की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह प्रत्येक जीवन-वृत्ति का उन्नयन करके ही सन्तुष्ट होती है; इसी प्रवृत्ति के अनुसार काम और अर्थ यहाँ धर्म और मोक्ष के समतुल्य परमपुरुपार्थ बन गये और जीवन के आमोद-प्रमोद में आत्मानन्द का आभास होने लगा ।

सारांश यह है कि भरत से पूर्व रस-सिद्धान्त की परम्परा निश्चय ही विद्यमान थी—भरत तक आते-आते उसे कम से कम दो शताब्दियाँ अवश्य लगी होंगी । भरत-पूर्व युग का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, किन्तु भरत के ही साक्ष्य पर, उनके ही ग्रंथ में उद्धृत आनुवंश्य श्लोकों के आधार कई पीढ़ियों से प्रवर्तित रस-परम्परा की स्थिति सहज ही स्वीकार की जा सकती है । इस रस-परम्परा का नीति-धर्म-परक रामायण-महाभारत की अपेक्षा आमोद-प्रधान प्रेमाख्यानों तथा कामसूत्र आदि के साथ घनिष्ठतर सम्बन्ध था, और सम्भावना यही है कि शास्त्र रूप में कामसूत्र ही इसका आधार-स्रोत था । कामसूत्र स्वयं भी निराधार नहीं हो सकता, और वर्ण्य विषय तथा मूल प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए उसका प्रेरणा-स्रोत अथर्ववेद आदि के शृंगारिक मंत्रों में ढूंढा जा सकता है । इस प्रकार हमारा अनुमान है कि रस-परम्परा अथर्ववेद के शृंगारपरक (अभिचार) मन्त्रों से आविर्भूत होकर लौकिक प्रेम-कथाओं, कामसूत्रों तथा नाट्यकला से संवर्धन प्राप्त करती हुई, भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों की वाणी में ईसा के जन्म से पूर्व निश्चित रूप से प्रस्फुटित हो चुकी थी ।

फिर भी, यह सब होते हुए भी, रस-सम्प्रदाय का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही है । नाट्यशास्त्र का पाठालोचन करना प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभीष्ट नहीं है । अधिकांश विद्वानों का मत यही है कि अपने वर्तमान रूप में यह छठी शताब्दी से पहले की रचना नहीं है—मूल भरत-सूत्रों के आधार पर चार-पाँच शताब्दियों तक इसका स्वरूप-विस्तार होता रहा और इन परवर्ती लेखकों में कदाचित् कोहल का विशेष योगदान था : **शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति** (नाट्यशास्त्र, ३८।१८) । कोहल नाम के प्राचीन नाट्याचार्य का अस्तित्व असंदिग्ध है—उनके नाम का नाट्यशास्त्र के प्रसंग में दामोदरगुप्त, अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र, शिंगभूपाल आदि ने प्रामाणिक रूप में उल्लेख किया है ।[1] नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य, वात्स्य, दत्तिल आदि अन्य आचार्यों (भरत-पुत्रों) के नामों का भी उल्लेख है । किन्तु इनमें से रस-सिद्धान्त के साथ वस्तुतः किसका कितना सम्बन्ध था, यह कहना कठिन है । भरत का उपर्युक्त उद्धरण भी, जो नाट्यशास्त्र के बिल्कुल अन्त में आता है, प्रस्तुत संदर्भ में यही इंगित करता है कि कोहल आदि सभी का सम्बन्ध रस की अपेक्षा

---

[1] भारतीय साहित्यशास्त्र (ब०उ०), पृ० ३०

कदाचित् अभिनय से अधिक था। अतः ईसा की पहली ५-६ शताब्दियों में भरत के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रामाणिक नाम रस-सिद्धान्त के इतिहास में प्राप्त नहीं होता।

नाट्यशास्त्र के प्रचलित संस्करण में छठे और सातवें अध्यायों में रस-भावादि का विस्तार से वर्णन है। छठे अध्याय में मुनिवृन्द 'मुनियों के मुनि' भरत से रस और भाव के विषय में पाँच प्रश्न करते हैं और वे उनके उत्तर में रस-भावादि के स्वरूप, परस्पर-सम्बन्ध तथा भेद-प्रभेदों का विस्तार से विवेचन करते हैं। रसों का वर्णन-विवेचन छठे अध्याय में है और संचारी तथा सात्त्विक भावों का निरूपण सातवें में। अन्य अध्यायों में रस की शेष सामग्री—नायिका के अंगज, सहज और अयत्नज अलंकार, कामदशा तथा अवस्थानुसार नायिका के वासकसज्जा आदि आठ भेद, प्रकृति के अनुसार उत्तम, मध्यम, अधम—नायक-नायिका-भेद तथा दूती-प्रसंग की चर्चा है। इनके अतिरिक्त—संगीत, आहार्य अभिनय (आभूषण आदि के प्रयोग), वाद्य-यन्त्रों के प्रयोग आदि के संदर्भ में भी रस का उल्लेख किया गया है: इन प्रसंगों में विभिन्न रसों के अनुसार स्वर-विधान, वाद्य-यन्त्र, वेशभूषा आदि के प्रयोग की व्यवस्था है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में प्रायः सम्पूर्ण रस-सामग्री यथास्थान मिल जाती है—भरत का विवेचन विशद और वर्णन सर्वत्र सांगोपांग है।

यहाँ तक तो रस-सामग्री के प्राचुर्य की बात हुई: रस की प्रधानता का भी नाट्यशास्त्र के अनेक प्रसंगों में और अनेक प्रकार से स्पष्ट विधान है—

१. भरत ने स्पष्टतः नाटक को ही वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है और नाटक का प्राण रस है; कोई भी नाट्यांग रस के बिना नहीं चल सकता:

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते॥

—उनमें रसों का सबसे पहले विशेष व्याख्यान करेंगे, क्योंकि रस के बिना कोई अन्य (नाट्यांग रूप) अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता। (नाट्यशास्त्र अ० ६, कारिका ३१ का परवर्ती गद्यभाग)।

२. नाट्य-सिद्धि के लिए भरत ने सूत्रधार और प्रेक्षक दोनों की दृष्टि से भाव तथा रस का आश्रय मुख्य माना है:

(क) **एवं रसानां भावानां व्यवस्थानमिह स्मृतम्।**
य एवमेताञ्जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम्॥ ना० शा० ७.१२६

—इस प्रकार सूत्रधार आदि को नाटक में रसों और भावों की व्यवस्था करनी चाहिए। जो इनको जानता है वह उत्तम सिद्धि प्राप्त करता है।

(ख) **सिद्धिस्तु द्विविधा ज्ञेया मानुषी दैविका तथा।**
वाङ्मनःकायसंभूता नानाभावरसाश्रया॥ २७.२

—अर्थात् प्रेक्षक-समाज की दृष्टि से सिद्धि दो प्रकार की होती है: मानवीय और दिव्य। यह सिद्धि वाणी, मन और शरीर से संभूत एवं नाना भावों तथा रसों पर आश्रित होती है।

३. नाटक के कलेवर का निर्माण करने वाले तत्त्वों में रस-भावादि को प्रमुखता दी गयी है :

(क) **त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्** । १.१०७

—नाटक इस समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन करता है।

(ख) **नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्** ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ १.११२

—मैंने जिस नाट्य का निर्माण किया है वह नाना प्रकार के भावों से समन्वित है, विविध प्रकार की अवस्थाएँ इसमें हैं, और यह लोक-चरित का अनुकरण करता है।

(ग) **(एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ ।)**
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ १.११३ के बाद का श्लोक

—यह नाट्य रसों, भावों और सब कर्म तथा क्रियाओं के माध्यम से सबको उपदेश देने वाला होगा।

४. नाट्य के चार प्रमुख अंगों—पाठ्य (वस्तु-तत्त्व), अभिनय, संगीत और रस में से प्रथम तीनों अंगों का नियन्ता रस ही है। नाट्यशास्त्र में विस्तार से यह प्रतिपादित किया गया है कि नाट्य की वस्तु, अभिनय तथा संगीत का विधान सर्वथा रसानुकूल ही होना चाहिए। इसी प्रकार नाट्य-वृत्तियाँ भी पूर्णतः रसाश्रयी मानी गयी हैं। नाट्य में प्रयुक्त काव्य-तत्त्व के लिए भी, '**बहुकृतरसमार्गम्**'[1] होना आवश्यक है। भरत ने अलंकार, लक्षण (काव्यबन्ध), गुण और दोष का विवेचन वाचिक अभिनय के अंगरूप में किया है—और यह वाचिक अभिनय रस का साधन है। अतः काव्य के ये सभी तत्त्व भी परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित हो जाते हैं :

एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥ १६.१०६ (निर्णयसागर)

—यहाँ तक अलंकार, गुण, दोष का कथन किया। अब रस के आश्रय से फिर इनके प्रयोग की व्याख्या करता हूँ। इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में, उसके अन्तर्गत समस्त नाट्य-प्रसंगों के विधान एवं विवेचन में, रस प्राणधारा के समान परिव्याप्त है।

५. नाट्य के उद्देश्यों में भी रस का प्राधान्य है :

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननम् काले नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥ ना० शा० १.११४

—मेरे द्वारा रचित यह नाट्य दुःख से पीड़ित, थके-माँदे, शोकसंतप्त, बेचारे लोगों के लिए समय पर विश्रांति प्रदान करने वाला है।

यहाँ विश्रांति का अर्थ भरत-प्रतिपादित 'रस' नहीं है, परन्तु आगे चलकर भारतीय

---

[1] **मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं**
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तम्
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ॥ ना० शा० १६.१२४ (निर्णयसागर प्रेस)

काव्यशास्त्र में रस के जिस संविद्विश्रान्तिमय स्वरूप का विकास हुआ, उसका बीज इस श्लोक में निश्चय ही विद्यमान है।

इन सब प्रमाणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक सिद्ध हो जाता है कि रस-सिद्धान्त का सर्वप्रथम तथा स्वतःसम्पूर्ण प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में मिलता है—भरत का मुख्य प्रतिपाद्य है नाट्य और अभिनवगुप्त की टिप्पणी के अनुसार, भरत के मत से, **'तेन रस एव नाट्यम्।'**[1]

भरत के उपरान्त रस-सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यो ने रस को मूलतः नाट्य के ही उपयुक्त मानते हुए काव्य के संदर्भ में अलंकार, रीति, गुण आदि पर अधिक बल दिया।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास को सामान्यतः तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है : १. **ध्वनि-पूर्ववर्ती काल**—आरम्भ से लेकर रुद्रट तक (ईसा की पहली-दूसरी शती से आठवीं शती के अन्त तक); २. **ध्वनि-काल**—आनन्दवर्धन से भोज तक (नवीं शती के आरम्भ से ग्यारहवीं शती के मध्य तक); ३. **ध्वनि-परवर्ती काल**—मम्मट आदि से पंडितराज जगन्नाथ तक (ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध से सत्रहवीं शती के अन्त तक)।

ध्वनि-पूर्ववर्ती काल

प्रथम चरण में भरत के नाट्यशास्त्र द्वारा रस-सिद्धान्त का व्यापक रूप में प्रवर्तन होने के बाद एक ओर उसका विरोध आरम्भ हो जाता है और दूसरी ओर आचार्यो की एक श्रेणी रस-परम्परा का विकास करती है। रस-विरोधी धारा के प्रमुख आचार्य हैं—भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट; यद्यपि इनमें से प्रत्येक के रस-विरोध में मात्रा का भेद है, फिर भी समग्र रूप में इन सभी का दृष्टिकोण प्रतिकूल ही था। रसवादी परम्परा के प्रमुख आचार्यो में भरत के टीकाकार—लोल्लट, शंकुक आदि आते हैं, जिन्होंने रस-सूत्र आदि की विस्तृत व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रस-सिद्धान्त का विकास किया।

ध्वनि-पूर्ववर्ती काल

रस-विरोधी धारा	रसवादी धारा
(भामह, दण्डी, वामन, उद्भट और रुद्रट)	(लोल्लट, शंकुक आदि और रुद्रभट्ट)
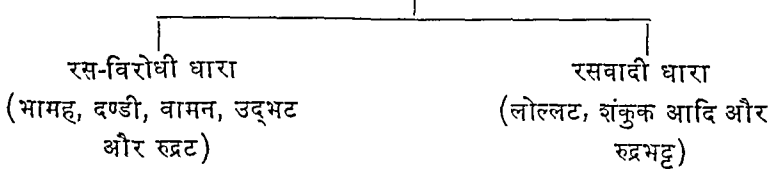
रस-विरोधी धारा—रस-सिद्धान्त का पहला विरोधी आचार्य था भामह जिसने छठी शती के आस-पास शब्दार्थ के 'साहित्य' को काव्य का लक्षण मानते हुए अलंकार को उसका प्राण-तत्त्व घोषित किया :

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। काव्यालंकार १.१३

भामह के काव्यालंकार में रस का तीन प्रसंगों में उल्लेख है :

१. महाकाव्य के प्रसंग में—

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥ का० अ० १.१३

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४२८

२. रसवद्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन् अलंकारों के प्रसंग में—

रसवत्—रसवद् दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं यथा।
देवी समागमद् धर्मसस्करण्यतिरोहिता॥ का० अ० १.६

—जहाँ श्रृंगारादि रसों का स्पष्ट तथा साक्षात् वर्णन होता है, वहाँ रसवद् अलंकार होता है : यथा—धर्मदण्ड धारण किये हुए देवी, अतिरोहित—प्रकट रूप में, उपस्थित हो गयी।

प्रेयस्—प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ का० अ० १.५

प्रेयस् अलंकार—अपने घर आये हुए कृष्ण से विदुर ने जो कहा वह 'प्रेयस्' है; जैसे, हे गोविन्द आज मेरे घर आपके आने से जो प्रीति (प्रसन्नता) हुई है वैसी ही प्रसन्नता समय पाकर आपके ही पुनः आने से मुझे हो[गी]।

ऊर्जस्विन्—ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः॥ का० अ० १.७

'हे शल्य ! क्या कर्ण दो बार बाण चढ़ाता है ?'—यह कहकर कर्ण ने अर्जुन [पर आक्रमण] के लिए फिर से आये हुए सर्प को हटा दिया।

३. काव्य-माहात्म्य के प्रसंग में :

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ का० अ० ५.३

—अर्थात् स्वादु काव्यरस से युक्त शास्त्र का भी उपयोग किया जाता है। जो पहले शहद चाट लेते हैं वे कटु ओषधि को [सरलता से] पी जाते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से रस के प्रति भामह की उपेक्षा स्पष्ट हो जाती है। रस का उन्होंने अलंकार में अन्तर्भाव कर दिया है : रस रसवद् अलंकार का उपकरण है और देव-विषयक प्रीति तथा ऊर्जा (उत्साह) आदि भाव क्रमशः प्रेयोऽलंकार तथा ऊर्जस्वी अलंकार के। रसवद् अलंकार के प्रसंग में भी भामह ने रसों का विशेष वर्णन नहीं किया, केवल श्रृंगार रस का एक उदाहरण देकर प्रसंग को समाप्त कर दिया है। उनके श्रृंगार-रस के उदाहरण से भी रस का स्वरूप वस्तुतः प्रस्फुटित नहीं होता—वहाँ केवल विभाव का वर्णन है—देवी (अथवा राजमहिषी) आलम्बन हैं, और 'राजदण्ड धारण किये हुए' तथा 'अतिरोहित' आलम्बन के ये दो विशेषण उद्दीपन हैं। विभाव के अतिरिक्त रस के अन्य अवयव यहाँ अविद्यमान हैं।—इसके अतिरिक्त आलम्बन के विषय में भी यह संदेह किया जा सकता है कि वह श्रृंगार का आलम्बन है या देवता अथवा राज-विषयक रति का, क्योंकि धर्मदण्ड आदि श्रृंगार के उद्दीपन नहीं हैं। इस प्रकार वस्तुतः यहाँ भी रस नहीं भाव की ही स्थिति है—एक तो 'रति' का ही स्वरूप स्पष्ट नहीं है, और दूसरे उसका परिपाक भी नहीं है। इसी तरह प्रेयोऽलंकार के उदाहरण में भी देव-विषयक प्रीति का रूप अस्फुट-सा ही है; ऊर्जस्वी का उदाहरण अधिक भावदीप्त है किन्तु उसमें भी उक्ति पर बल है। इन उदाहरणों

के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में भाव-समृद्धि के प्रति भामह के मन में उतना आदरभाव नहीं था जितना शब्दार्थ की वक्रता के प्रति।

'**स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रम्**' आदि तीसरे उद्धरण में काव्यरस का अर्थ विभावानुभावव्यभिचारिसंपुष्ट रस है या केवल काव्य-चमत्कार के अर्थ में ही रस का लाक्षणिक प्रयोग है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। शास्त्रादि का विषय भाव-विभाव-विधान के माध्यम से भी ग्राह्य बन जाता है और अलंकार, लय आदि शोभाधायक उपकरणों के द्वारा भी। भामह की दृष्टि में शोभाधायक उपकरणों का महत्त्व अधिक है, अतः काव्यरस से अभिप्राय भाव-वैभव का ही है, शब्दार्थ के चमत्कार का नहीं है—यह कैसे कहा जाए?

हाँ, महाकाव्य के प्रसंग में निश्चय ही रस का स्पष्ट रूप से ग्रहण है। महाकाव्य के लिए सभी रसों का यथास्थान पृथक्-पृथक् वर्णन आवश्यक माना गया है। क्योंकि महाकाव्य तथा नाटक के कलेवर में बहुत कुछ साम्य है—लोक-स्वभाव का वर्णन या अनुकरण दोनों में मूलतः समान है और लोक-स्वभाव में नाना रसों एवं भावों का अन्तर्भाव स्वयं-सिद्ध है, इस दृष्टि से प्रबन्ध काव्य में रसों का विधान अनिवार्य हो जाता है।—भामह रस-वर्णन की उपेक्षा कर सकते थे, परन्तु रस का बहिष्कार करना सम्भव नहीं था।

वास्तव में भामह का दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट है। उनके लक्षण से स्पष्ट है कि वे काव्य को शब्दार्थ-रूप मानकर चले हैं—अतः काव्य के सौन्दर्य का अनुसन्धान वे शब्दार्थ से बाहर नहीं करते। उनके लिए काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है अलंकार, जो शब्दार्थ की विविध सौन्दर्य-विवृतियों का सामासिक नाम है। रस तथा भावादि भी शब्दार्थ के चमत्कार की परिधि में आ जाते हैं और उसी रूप में वे उन्हें ग्राह्य हैं। शब्दार्थ की परिधि से बाहर जाना भामह को अभीष्ट नहीं है। नाटक केवल शब्दार्थ नहीं है, इसलिए वे '**तदभिनेयार्थम्**' कहकर उसे छोड़ देते हैं:

> नाटकं द्विपदीशम्यारासकस्कन्धकादि यत्।
> उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥ का० अ० १.२४

इस प्रकार काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण निश्चित रूप से वस्तुपरक है—भावपरक नहीं है। काव्य उनके लिए कला है और प्रीति के साथ-साथ उसका मूल लक्ष्य कीर्ति है—जिसका सम्बन्ध सहृदयता की अपेक्षा कौशल से अधिक है। वास्तव में भामह ने प्रीति (मनःप्रसाद) की अपेक्षा कीर्ति पर अधिक बल दिया है: अपने आमुख में प्रीति का तो वे एक बार उल्लेख कर छोड़ देते हैं, किन्तु कीर्ति का बार-बार कई श्लोकों में उल्लेख करते हैं। अतः उनके दृष्टिकोण में रस का स्थान स्वभावतः ही गौण रह गया है।

दण्डी की दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक उदार थी। सिद्धान्ततः तो भामह तथा अन्य ध्वनि-पूर्व आचार्यों की भाँति उन्होंने भी शब्दार्थ में ही काव्य का मूल सौन्दर्य माना है और अलंकार को सम्पूर्ण काव्य-सौन्दर्य का पर्याय मानते हुए रस का रसवद् अलंकार के अन्तर्गत ही वर्णन किया है। किन्तु स्वभावतः पदलालित्य-रसिक दण्डी के मन में रस के प्रति अधिक आदर था। भामह ने जहाँ रसवद् अलंकार के प्रसंग में केवल शृंगार रस का एक अपुष्ट उदाहरण देकर रस-विषय को चलता कर दिया है, वहाँ दण्डी ने आठ रसों का

रुचिपूर्वक वर्णन किया है। इसमें संदेह नहीं कि समास-शैली के कारण उन्होंने विभिन्न रसों के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का पृथक् विवेचन नहीं किया—केवल स्थायी की ही रस-परिणति का वर्णन किया है। किन्तु, एक तो इसलिए कि स्थायी भाव की रस-परिणति रस-सिद्धान्त का मूल आधार है और दूसरे इसलिए भी कि उनके उदाहरणों में विभाव-अनुभावादि के अत्यन्त स्पष्ट चित्रण द्वारा रस-परिपाक प्रस्तुत किया गया है—दण्डी का रस-वर्णन, संक्षिप्त होते हुए भी, अपूर्ण नहीं है। एक उदाहरण लीजिए; शृंगारमूलक रसवद् का प्रसंग है :

मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि॥ का० द० २.२८०
प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः॥ का० द० २.२८१

—[वासवदत्ता के जलने का समाचार सुन अत्यन्त क्लेश भोगने के पश्चात् सहसा उसे पुनः प्राप्त कर हर्षविह्वल उदयन कह उठते है] :

"जिसकी मृत्यु का समाचार सुनकर, उससे मिलने के लिए मैंने देह त्याग का निश्चय कर लिया था, वही अवंतिराजपुत्री वासवदत्ता मुझे यहीं—इसी जन्म में किस प्रकार प्राप्त हो गयी ?"

इससे पहले प्रेयोऽलंकार के उदाहरणों में प्रीति अर्थात् अपुष्ट रति का प्रतिपादन किया गया था, इस उदाहरण में वही रति विभावादि से परिपुष्ट होकर शृंगार रस में परिणत हो गयी है। इसलिए यहाँ रसवद् अलंकार है।

प्रस्तुत उदाहरण का विश्लेपण करने पर रस-विवेचन से सम्बद्ध कई स्पष्ट तथ्य उपलब्ध होते हैं : १. विभावादि से अपुष्ट स्थायी भाव केवल 'भाव' रहता है; २. विभाव, अनुभाव और संचारी से परिपुष्ट स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। ३. दण्डी रस के मर्म एवं स्वरूप से पूर्णतया अवगत हैं—उपर्युक्त श्लोक में रस-सामग्री सर्वथा परिपूर्ण है : उदयन आश्रय हैं, वासवदत्ता आलम्बन, उदयन के हर्षोद्गार अनुभाव और हर्ष-विस्मय आदि संचारी हैं—इनसे परिपुष्ट रति स्थायी भाव का शृंगार रस में परिपाक हो जाता है। ४. प्रस्तुत उदाहरण की भाँति दण्डी के अन्य उदाहरण भी इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी दृष्टि में रस-सामग्री का रूढ़िगत संयोजन मात्र ही पर्याप्त नहीं है—उन्हें रस के आस्वाद्य रूप की भी सच्ची पहचान है।

रसवदादि प्रसंग के अतिरिक्त माधुर्य गुण के विवेचन में भी कतिपय ऐसे संकेत है जिनसे दण्डी के रस-विपयक दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है :

माधुर्यगुण-वर्णन—**मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।**
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ का० द० १.५१
यया कयाचिछ्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि पदासत्तिः सानुप्रासा रसावहा॥ का० द० १.५२
कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ का० द० १.६२

कन्ये कामायमानं मां न त्वं कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्यायैव कल्पते ॥ का० द० १. ६३
कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ॥ का० द० १. ६४

—अर्थात् मधुर का अर्थ है रसमय; शब्द तथा अर्थ दोनों में रस की स्थिति रहती है जिससे सहृदय उसी प्रकार मस्त हो उठते हैं जिस प्रकार मधु से भौंरे।

सरस शब्द—जिसको सुनकर सहृदय का चित्त नाद-साम्य के चमत्कार का अनुभव करे, वह सानुप्रास पदावली रसमयी कहलाती है।

सरस अर्थ—यद्यपि सभी अलंकार अर्थ में रस का निषेक करते हैं, फिर भी उसके लिए (अर्थ की सरसता के लिए) अग्राम्यता ही प्रधानतः उत्तरदायी होती है। 'हे कन्ये ! मैं काम से पीड़ित हूँ, तुम मुझे क्यों नहीं चाहतीं ?' इस प्रकार का ग्राम्य अर्थ सहृदय के मन में विरसता ही उत्पन्न करता है। 'हे सुनयने ! कन्दर्प चाण्डाल मेरे प्रति निर्दय है, परन्तु भाग्यवश तुम्हारे प्रति उसके मन में द्वेषभाव नहीं है।' इस प्रकार अग्राम्य अर्थ रसावह होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में शब्द और अर्थ दोनों में रस की स्थिति मानी गयी है। सामान्यतः दण्डी समस्त अलंकार-विधान को ही रसावह मानते हैं, किन्तु फिर भी शब्द के अन्तर्गत श्रुत्यनुप्रास को और अर्थ के अन्तर्गत अग्राम्यता अर्थात् परिष्कृत भावाभिव्यक्ति को वे रस के लिए प्रधानतः उत्तरदायी मानते हैं। काव्यादर्श के कुछ नवीन टीकाकारों ने 'रसावह' का अर्थ 'रसव्यंजक' मानकर ध्वनि-सिद्धान्त के प्रकाश में दण्डी के मंतव्य की व्याख्या करने का प्रयास किया है—किन्तु वह अनैतिहासिक है, क्योंकि व्यंजना का प्रश्न ही दण्डी के लिए नहीं उठता। तब प्रश्न यह है कि 'रसावहा पदासत्ति' और 'अलंकार द्वारा रस-निषेक' का क्या अर्थ हुआ ? इस प्रश्न के दो उत्तर सम्भव हैं—१. दण्डी का मर्मज्ञ कवि-हृदय स्वभावतः ही इस तथ्य से अवगत था कि श्रुत्यनुप्रास आदि से युक्त ललित पदावली शृंगारादि रसों के आस्वाद में योगदान या उसकी परिवृद्धि करती है और इसी तरह अलंकार भी यथाप्रसंग विभिन्न रसों का उत्कर्ष करते हैं। अर्थात् दण्डी ने वहाँ भी भरत-सम्मत रस का ग्रहण किया है और वे यह मानते हैं कि उपयुक्त वर्णयोजना एवं शब्दार्थगत चमत्कार रस का परिपोष करते हैं। कैसे ? व्यंजना के द्वारा नहीं, क्योंकि दण्डी व्यंजना से परिचित नहीं हैं—कदाचित् गुणों के सम्बन्ध से। २. रस का अर्थ उपर्युक्त प्रसंगों में वह नहीं है जो रसवदादि के संदर्भ में है—वरन् यहाँ वह व्यापक रूप में काव्य-सौन्दर्य या/और उसके परिणामस्वरूप काव्यास्वाद का पर्याय है। इस अर्थ में श्रुतिमधुर वर्णयोजना तथा शब्दार्थगत चमत्कार द्वारा काव्यास्वाद या सहृदय की मनःप्रीति की समस्या आप से आप सुलझ जाती है। भामह, दण्डी आदि के लिए काव्यास्वाद में भावादि का माध्यम अनिवार्य नहीं है—भाव-सौन्दर्य के महत्त्व से वे इनकार नहीं करते—कर भी नहीं सकते, किन्तु उनकी दृष्टि शब्दार्थ के कुशल प्रयोग पर ही मूलतः केन्द्रित रहती है। दण्डी के अनुसार अर्थ के सौन्दर्य का आधार है अग्राम्यता। ग्राम्यता और अग्राम्यता के उपर्युक्त उदाहरणों

का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की सामग्री तो दोनों उदाहरणों में विद्यमान है—ग्राम्यता के उदाहरण में भी प्रार्थी युवक आश्रय है, कन्या (अभुक्तयौवना कुमारी) आलम्बन है, उसका अछूता यौवन उद्दीपन हो सकता है, रति स्थायी और औत्सुक्य व्यभिचारी भाव है : फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त छन्द काव्य-मर्मज्ञ का मनः-प्रसादन नहीं करता । क्यों ? अभिव्यंजनावादी (रीति-गुण, अलंकार, वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानने वाले आचार्य) कहेंगे कि यहाँ भाव की अभिव्यक्ति फूहड़ है—'कन्या' शब्द पर भी आपत्ति हो सकती है । ध्वनिवादी कहेंगे कि यहाँ रति की व्यंजना न होकर कथन किया गया है, इसलिए दोष आ गया है । रसवादी भी अपने सिद्धान्त की परिधि में इसका निर्भ्रान्ति उत्तर दे सकते हैं कि यहाँ औचित्य (शील) का विघात होने से रसाभास हो गया है । इन तीनों में से दण्डी निश्चय ही प्रथम वर्ग में आते हैं—अर्थात् उनके अनुसार काव्य का प्राण है 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' और उपर्युक्त छंद में वैरस्य का कारण है अभिव्यक्ति की ग्राम्यता । इन तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत संदर्भ में रस विभावानुभावसंचारी द्वारा पुष्ट स्थायीभाव का परिपाक रूप न होकर काव्यसौन्दर्य या/और काव्यास्वाद अथवा काव्य-जन्य अंतश्चमत्कार का ही पर्याय है ।

हमारे विचार में दूसरा विकल्प ही अधिक मान्य है । फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भामह की अपेक्षा दण्डी रस-सिद्धान्त के अधिक निकट हैं, क्योंकि—

(क) रस का वर्णन उन्होंने कहीं अधिक विस्तार और रुचि के साथ किया है ।

(ख) रस-सिद्धान्त का उन्हें कहीं अधिक स्पष्ट ज्ञान है : रस की सामग्री, रस और भाव का भेद, रस-परिपाक की विधि आदि के विषय में उनका ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्त है ।

(ग) उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुखी है—भाव-सौन्दर्य के प्रति अपनी रचना और विवेचन दोनों में वे अधिक संवेदनशील हैं : **इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली** में 'इष्ट' विशेषण इस तथ्य की ओर इंगित करता है ।

(घ) शास्त्रीय दृष्टि से भी भामह जहाँ अलंकारवादी हैं, वहाँ दण्डी का झुकाव गुण-चर्चित रीति के प्रति स्पष्ट है । अतः वे उसी अनुपात से भामह की अपेक्षा रस के निकट हैं जिस अनुपात से कि रीति-सिद्धान्त अलंकार-सिद्धान्त की अपेक्षा रस के निकट है ।

दण्डी की रीति-विषयक धारणाएँ आचार्य **वामन** की मौलिक प्रतिभा के प्रकाश में स्पष्ट और भास्वर हुई । वामन की दृष्टि दण्डी की अपेक्षा अधिक एकांगी है और इसीलिए कदाचित् अधिक निर्भ्रान्त प्रतीत होती है । 'रस' शब्द का प्रयोग काव्यालंकारसूत्र में केवल एक स्थान पर हुआ है । अर्थ-गुण कान्ति का लक्षण करते हुए वामन ने लिखा है—

दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥ का० सू० वृ० ३.२.१५

दीप्ता रसा शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः । तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः ।

—अर्थात् दीप्तरसत्व ही [अर्थगुण] कान्ति है । जिस [काव्यबन्ध] के शृंगार आदि रस दीप्त हों वह दीप्तरस हुआ ।—उसका भाव दीप्तरसत्व कान्ति [नामक अर्थगुण है] ।

लक्षण की पुष्टि में अमरुक का निम्नलिखित शृंगारिक उदाहरण है :

प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया ।
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः ॥
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटगलन्नीवीनितम्बं धृतो ।
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥

—सायंकाल के समय शपथपूर्वक पादलुण्ठित प्रिय को [मानिनी] कान्ता ने दुत्कार दिया । अभी उन्मन भाव से वह वासभवन से दो-तीन कदम भी नहीं गया था कि शिथिल नीवी को हाथ से थामे हुए [स्वयं नायिका ने ही] दौड़कर प्रणति-सहित उसे पकड़ लिया । अहो प्रेम की विचित्र महिमा है !

इसके आगे अन्य रसों की ओर भी इंगित है :

एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ।

—इसी प्रकार अन्य रसों में भी [दीप्तरसत्व के] उदाहरण समझ लेने चाहिए ।
(हिन्दी काव्यालंकारसूत्र, पृ० १५५-१५६)

वामन-कृत रस-चर्चा अर्थगुण कान्ति के इस संक्षिप्त प्रसंग में ही समाप्त हो जाती है । अन्य अर्थगुणों के प्रसंग में प्रकारान्तर से भाव-सौन्दर्य के व्याज से रस-विषयक संकेतों की आशा की जा सकती थी—'सौकुमार्य' और 'उदारता' के लक्षणों में कुछ आभास-सा मिलता भी है, किन्तु सम्पूर्ण विवेचन का अध्ययन करने के उपरान्त इस सन्देह का निराकरण हो जाता है, क्योंकि 'सौकुमार्य'[1] के लक्षणभूत अपारुष्य और 'उदारता'[2] के आधार अग्राम्यता दोनों में भावतत्त्व की अपेक्षा उक्ति-चारुत्व पर ही बल दिया गया है । इसके अतिरिक्त वामन ने रसवदादि का वर्णन भी नहीं किया—उनकी अलंकार-सूची भरी-पूरी है, परन्तु रसवदादि का अन्तर्भाव उसमें नहीं है । इसी प्रकार दोष-वर्णन में भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में रस-दोषों की ओर कोई इंगित नहीं है । प्रबन्धकाव्य के प्रसंग में रसों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, परन्तु वामन ने काव्य-भेदों का वर्णन ही नहीं किया; इस सम्पूर्ण प्रसंग को उन्होंने यह कहकर छोड़ दिया है : 'इनके प्रसिद्ध होने से लक्षण नहीं कहे है ।'[3] यहाँ उन्होंने केवल एक महत्त्वपूर्ण स्थापना की है, और वह यह कि मुक्तक और प्रबन्ध में प्रबन्ध श्रेष्ठ है और प्रबन्ध-विधाओं में रूपक सर्वोत्कृष्ट होता है :

सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । का० सू० वृ० १,२,३०

करस्मात् तदाह—

तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् । का० सू० वृ० १. २. ३१

—अर्थात् प्रबन्ध-काव्यों में दश रूपक श्रेष्ठ होते हैं । वह कैसे ? वह चित्रपट

---

१ **अपारुष्यं सौकुमार्यम् ॥ ३. २. १२**
यथा 'मृत' 'यशःशेषम्' इत्याहुः ।—अपारुष्य का नाम है सौकुमार्य जैसे 'मृत' के लिए 'यशःशेष' का प्रयोग होता है ।

२ **अग्राम्यत्वमुदारता ॥ ३. २. १३**
देखिए—हिन्दी काव्यालंकारसूत्र : पृ० १५५

३ हिन्दी काव्यालंकारसूत्र : पृ० ५६

के समान समस्त विशेपताओं से युक्त होने के कारण चित्ररूप (आश्चर्यकारी तथा आनन्ददायक) होते हैं।

इस विवेचन के आधार पर रस के प्रति वामन की भावना को कृपण ही माना जाएगा। दण्डी ने अपेक्षाकृत अधिक रसिकता का परिचय दिया था। वामन के मत से काव्य की शोभा है रीति, रीति के मूल तत्त्व हैं गुण और बीस गुणों में से एक गुण के शोभाधायक धर्म हैं रस—अतएव स्वभावतः ही रीतिचक्र में रसों का स्थान गौण है। किन्तु वामन के पक्ष में एक बात यह कही जा सकती है कि उन्होंने रस को अंग का नहीं, वरन् प्राण का धर्म माना है। गुण काव्य के नित्य धर्म एवं काव्यात्मा रीति के प्राणतत्त्व हैं और रस का सम्बन्ध गुण से है, अतः रस का सम्बन्ध सीधा काव्य की आत्मा से हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस तर्क से, वैदर्भी रीति का अनिवार्य तत्त्व होने के नाते, रस उत्तम काव्य का अनिवार्य तत्त्व सिद्ध हो जाता है, परन्तु फिर भी, बीस में से केवल एक गुण का अंग होने के कारण उसकी गौणता का परिहार नहीं हो सकता।

डॉ० शंकरन ने एक तर्क वामन के पक्ष में यह भी दिया है कि वे रूपक को काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते हैं, अतः रूपक के प्राणभूत रस के प्रति उनकी प्रवृत्ति स्वतःसिद्ध है। हमारे विचार से इस तर्क में विशेप शक्ति नहीं है, क्योंकि वामन ने रूपक का स्तवन उसके रस-तत्त्व के कारण नहीं किया वरन् इसलिए किया है कि 'वह सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त चित्रपट के समान होता है।' वामन की दृष्टि यहाँ रूपक के अंतरंग के साथ-साथ उसके वहिरंग—रंग-सज्जा, संगीत, नृत्य, अभिनय-चमत्कार आदि पर भी है, अतः इस उद्धरण के आधार पर रस का महत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, वामन की दृष्टि अत्यन्त वस्तुपरक थी। उन्होंने सौन्दर्य को प्रायः वस्तुनिष्ठ ही माना है—श्रव्यकाव्य में उसका आधार है पदरचना और दृश्यकाव्य में रंग-वैभव, संगीत, नृत्य आदि अनेक गुणों का साकल्य। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से तो काव्य के अंतरंग तत्त्व-रूप में प्रतिष्ठित हो जाने से रस का थोड़ा उत्कर्ष ही हुआ; परन्तु प्रत्यक्षतया वामन को रस के प्रति कोई विशेप अनुराग नहीं था। इस दृष्टि से वे दण्डी से आगे नहीं, पीछे ही रहते हैं।

उद्भट वामन के समसामयिक थे—उनके तीन ग्रन्थों का प्रामाणिक उल्लेख मिलता है—१. भरत की टीका, २. भामह-विवरण, और ३. काव्यालंकारसंग्रह। इनमें दुर्भाग्य से केवल एक ही ग्रन्थ प्राप्त है—काव्यालंकारसंग्रह। ग्रन्थों के नामों के आधार पर तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उद्भट की स्थिति रसवादी धारा और रस-विरोधी अलंकारवादी धारा की मध्यवर्तिनी थी, किन्तु प्रथम दोनों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अभाव में इस स्थिति का प्रमाणपूर्वक स्पष्टीकरण करना असम्भव है—केवल काव्यालंकारसंग्रह के आधार पर ही थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा सकता है। इस ग्रन्थ में केवल अलंकार-वर्णन है—रस का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन रसवदादि प्रसंग में ही आता है :

प्रेयस्वत् तावत्—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ का० सा० सं० ४.२

रसवत्—

रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोदयम् ।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम् ।। का० सा० सं० ४.३
श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ।। का० सा० सं० ४.४
चतुर्वर्गेतरौ प्राप्य परिहार्यौ क्रमाद्यतः ।
चैतन्यभेदादास्वाद्यात्स रसस्तादृशो मतः ।। का० सा० सं० ४.५

ऊर्जस्वि—

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ।। का० सा० सं० ४.६

समाहितम्—

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ।। का० सा० सं० ४.८

—सत्कवि रति आदि भावों के अनुभावादिसूचन द्वारा (सूचक अनुभावों की सहायता से) जिस काव्य की रचना करते हैं, उसे 'प्रेयस्वत्' कहते हैं। स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव और अनुभाव के द्वारा जहाँ रस का उदय स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाता है वहाँ 'रसवद्' अलंकार होता है। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—नाट्य में ये नौ रस कहे गये हैं। जिसमें चतुर्वर्ग की प्राप्ति और चतुर्वर्ग-विरोधी फलों का परिहार हो और जो चैतन्य भेद से (मानव-प्रसंगों के द्वारा) आस्वाद्य हो—ऐसा रस माना गया है। काम, क्रोध आदि के कारण अनुचित दिशा में प्रवृत्त रसों और भावों का वर्णन 'ऊर्जस्वि' कहलाता है। रस, रसाभास, भाव और भावाभास की वृत्ति के प्रशमन का वर्णन, जिसमें अन्य रस-भावादि के अनुभावों का भी कोई अस्तित्व न हो, 'समाहित' अलंकार माना गया है।

उपर्युक्त कारिकाओं से स्पष्ट है कि उद्भट ने रस-भावादि का वर्णन रसवदादि अलंकारों के अन्तर्गत ही किया है और इस प्रकार भामह का अनुकरण किया है, भरत का नहीं। रति आदि अपुष्ट भावों का उनके सूचक अनुभाव आदि के द्वारा काव्य में वर्णन प्रेयस्वत् कहलाता है; काम-क्रोध आदि के कारण भावों और रसों की अनुचित प्रवृत्ति का वर्णन ऊर्जस्वि अलंकार है; समाहित में रस, भाव, रसाभास और भावाभास के प्रशमन का वर्णन रहता है। रसवद् अलंकार वहाँ होता है जहाँ स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अभिनय (अनुभाव) के द्वारा रस का स्पष्ट प्रदर्शन—साक्षात् वर्णन रहता है। उद्भट ने शान्त को मिलाकर नाटक में नौ रसों का उल्लेख किया है। रसवद् से सम्बद्ध श्लोकों का विश्लेषण करने पर दो तथ्य हमारे सामने आते हैं। एक तो यह कि रस का प्रकृत क्षेत्र नाटक ही है: **'नव नाट्ये रसाः स्मृताः'** से अभिप्राय यह है कि नौ रसों का सम्यक् विकास नाटक में ही होता है। दूसरा यह कि काव्य में वाचक शब्दों के प्रयोग तथा विभाव,

अनुभाव, स्थायी, व्यभिचारी के द्वारा रसों का साक्षात् वर्णन किया जा सकता है, किन्तु रस का वहाँ स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है : काव्य का प्राण तो अलंकार अथवा शब्दार्थ का चमत्कार ही है, रस का यह वर्णन उसी का अंगभूत होकर काव्य का उत्कर्ष करता है। —अर्थात् नाट्य में जहाँ वह साध्य है, काव्य में साधन मात्र रह जाता है। भामह आदि अलंकारवादियों की भाँति उद्भट का भी यही मत है कि नाट्य का प्राण रस है, किन्तु काव्य का आधार है उक्ति-चारुत्व—रस-सामग्री अथवा रस-परिपाक उक्ति-चारुत्व में ही योगदान कर काव्य का उत्कर्ष करता है। भरत की टीका में उद्भट ने रस के विषय में क्या विचार व्यक्त किये थे, यह कहना कठिन है; किन्तु काव्यालंकारसंग्रह के आधार पर तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वे देहवादी आचार्यों की परम्परा में ही आते थे—उनकी दृष्टि वस्तुवादी थी, शब्दार्थ-गत चमत्कार ही उनके लिए काव्य में मुख्य था; रस नाट्यकला की वस्तु थी; रस की निष्पत्ति का अर्थ था उत्पत्ति (उदय) और वह वस्तुनिष्ठ ही था आत्मनिष्ठ नहीं। —हाँ, भामह की अपेक्षा तथा वामन की अपेक्षा भी कदाचित् नाट्य-शास्त्र के संसर्ग के कारण रस के आस्वाद्य रूप से उनका अधिक परिचय था, और उसी अनुपात से भाव-विभूति को वे, रसवद् अलंकार के अंग रूप में ही सही, अपने इन दो पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। किन्तु रस के पोषक तत्त्वों में 'स्वशब्दवाचन' का उल्लेख कर वे एक पग पीछे हट गये हैं। —'स्वशब्दवाचन' न केवल रस का परिपोष नहीं करता वरन् उसकी हानि भी करता है; इसीलिए रस-ध्वनिवादियों ने उसे दोष माना है और उद्भट के मत का प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। उद्भट का आशय कदाचित् यह था कि नाटक में तो नानाविध रस-सामग्री के प्रत्यक्ष नियोजन के द्वारा रस की उत्पत्ति सहज ही हो जाती है किन्तु काव्य में इस प्रकार के उपकरणों के अभाव में, स्व-वाचक शब्दों के प्रयोग के बिना, रस की सिद्धि में बाधा पड़ती है। वास्तव में 'व्यंजना' के ज्ञान के अभाव में उद्भट यह समझ नहीं पाये कि काव्य में भी शब्द की व्यंजना शक्ति के द्वारा कल्पना के उद्बुद्ध हो जाने से श्रोता सम्पूर्ण रस-सामग्री का मनसा साक्षात्कार कर लेता है। अपनी कारिका में 'स्पष्टदर्शित' के दुहरे प्रयोग के द्वारा वे इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए व्यग्र हैं और व्यंजना से अपरिचित होने के कारण उन्हें अन्ततः 'स्वशब्दवाच्यत्व' का आश्रय लेना पड़ा है।

ध्वनिपूर्व देहवादी परम्परा के अन्तिम आचार्य थे रुद्रट—वस्तुतः अलंकारवादी होते हुए भी रुद्रट का रस के प्रति वह अनादर भाव नहीं था जो भामह और उद्भट का था। रुद्रट के काव्यालंकार का मुख्य प्रतिपाद्य निश्चय ही अलंकार है जिसका अत्यन्त विस्तार से नौ अध्यायों में व्यवस्थित वर्णन किया गया है। इस प्रकार अलंकार के प्रति उनका पक्षपात तो स्पष्ट है, किन्तु रस के प्रति भी उनके मन में सौहार्द था इसके भी अनेक प्रमाण हैं :

१. रस का वर्णन पूरे चार अध्यायों में वैसे ही विस्तार और मनोनिवेश के साथ किया गया है जैसा कि सामान्य रस-ध्वनिवादी ग्रन्थों में मिलता है। रुद्रट ने केवल रूढ़ि का ही पालन नहीं किया रस के क्षेत्र में कतिपय महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएँ भी की हैं।

२. रस का यह वर्णन स्वतन्त्र है, रसवदादि के अन्तर्गत नहीं है। रुद्रट ने रस-वदादि अलंकार ही नहीं माने हैं।

३. काव्य में रस के महत्त्व की अनेक प्रकार से घोषणा की है :

(क) ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥ का० अ० १२.१
तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् । का० अ० १२.२ (पूर्वार्ध)
—सहृदयजन नीरस शास्त्रों से घबराते हैं। [परन्तु] काव्य के द्वारा जीवन के पुरुषार्थ-चतुष्टय का उन्हें सरल और मृदु रीति से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिए अत्यन्त यत्नपूर्वक काव्य को रसों से समृद्ध करना चाहिए ।

(ख) ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पनमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥ का० अ० १.४
—दूसरे के लिए भी, प्रकट अलंकारों से देदीप्यमान, दोषाभाव के कारण उज्ज्वल वाणी का धनी महाकवि सरस काव्य की रचना कर युगान्तस्थायी तथा जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है ।

(ग) जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
सम्यक्तानभिदध्याद्रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु ॥ का० अ० १६.१
—संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रबन्ध-काव्यों में रसों के साथ उनका निबन्धन करना चाहिए ।

(घ) एते रसाः रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥ का० अ० १५.२१
—निपुण कवि द्वारा सम्यक् रूप से स्फुटतया चारु शैली में वर्णित ये रस रसिकों का मनःप्रसादन करते है। चूंकि इनका ज्ञान हुए बिना कवि सर्वथा रमणीय काव्य की रचना नहीं कर सकता, अतः इनका आदर करना चाहिए।

(ङ) काव्य में रीतियों का प्रयोग रसों के अनुसार होना चाहिए : श्रृंगार और करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी तथा पांचाली का और रौद्र रस में लाटीया तथा गौड़ीया का । अन्य रसों में भी इन रीतियों का यथोचित प्रयोग करना चाहिए :

वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीयागौडीयो रौद्रे कुर्याद् यथौचित्यम् ॥ का० अ० १५.२०

इन प्रमाणों के आधार पर तथा उपर्युक्त उद्धरणों का विश्लेषण करने पर रस के प्रति रुद्रट का अनुराग सर्वथा स्पष्ट हो जाता है और एक प्रकार से यह शंका होने लगती है कि उन्हें अलंकारवादी ही क्यों माना जाए। किन्तु इस शंका का समाधान कठिन नहीं है और इसके निराकरण के लिए अनेक सद्यःप्रमाण दिये जा सकते हैं :

१. रुद्रट के ग्रंथ का नाम काव्यालंकार है जो भामह आदि की ग्रंथ-परम्परा में आता है और अलंकार के प्राधान्य का द्योतक है ।

२. ग्रंथ के उद्देश्य के अंतर्गत भी लेखक ने अलंकार का ही प्रमुख रूप से उल्लेख किया है :

अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति॥ का० अ० १.३

—इस ग्रंथ के हेतु और कार्य (पौर्वापर्य) का पर्यालोचन करने से कुशल कवि की मति शीघ्र ही काव्य को अलंकृत करने में अत्यंत समर्थ हो जाती है।

३. अन्य देहवादी आचार्यों की अपेक्षा रस के प्रति अधिक उदार होने पर भी, रस की अपेक्षा अलंकार के प्रति रुद्रट का पक्षपात सर्वथा स्पष्ट है। रस के विवेचन में तो रस का स्वरूप, रस-निष्पत्ति आदि गंभीर विषयों की ओर उन्होंने संकेत भी नहीं किया, किन्तु अलंकार के प्रसंग में विविध अलंकारों के भेद-प्रभेदों का वर्णन करने के अतिरिक्त अलंकार-वर्गीकरण आदि मौलिक प्रसंगों पर भी उन्होंने पहली बार गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

४. रुद्रट के काव्य-लक्षण के अनुसार—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' शब्दार्थ ही काव्य है, और इस प्रकार काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः वस्तुनिष्ठ ही है।

५. काव्य-लक्षण, काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, अलंकार-वर्णन आदि सभी प्रसंगों में रुद्रट पर भामह का प्रभाव स्पष्ट है—काव्य-भेदों में नाट्य की उपेक्षा भी उसी का परिणाम है। रस-प्रसंग में वे निश्चय ही भरत के ऋणी हैं, परन्तु सब मिलाकर भामह का ही प्रभाव अपेक्षाकृत गहरा और व्यापक है।

वास्तव में रुद्रट काव्य की देहवादी और आत्मवादी धाराओं के संगम पर खड़े हैं—उनके समय तक आते-आते काव्यशास्त्र में अलंकार की जकड़बंदी ढीली पड़ने लग गयी थी और रस के प्रति आकर्षण फिर बढ़ने लगा था। रस की वह धारा जो भरत के नाट्यशास्त्र से उद्भूत हुई थी, उनके टीकाकारों के द्वारा परिपोषित होती हुई, ईसा की नवीं शती तक आते-आते नाट्य के क्षेत्र का अतिक्रमण कर काव्य में प्रवेश करने लगी थी और रस-ध्वनि सिद्धांत के लिए भूमि तैयार हो चुकी थी : रुद्रट के ही समसामयिक रुद्रभट्ट अलंकारवादी उद्भट के 'नव नाट्ये रसा स्मृताः' का संशोधन कर 'नव काव्ये रसा स्मृताः' की घोषणा कर चुके थे।

रसवादी धारा—अलंकारवादी परम्परा के समानान्तर उधर रसवादी धारा भी निरन्तर प्रवाहित थी और भरत के टीकाकार उसका संवर्धन कर रहे थे। कालक्रमानुसार इस वर्ग में पहला नाम है लोल्लट का। लोल्लट के विषय में संस्कृत के विद्वान् अधिक से अधिक इतना ही अनुसन्धान कर पाये हैं कि वे उद्भट के परवर्ती तथा अभिनव के पूर्ववर्ती थे और कदाचित् प्रसिद्ध काश्मीरी दार्शनिक कल्लट (समय : नवीं शताब्दी का मध्य) के समसामयिक थे।[1] काव्यशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन के भी वे पण्डित थे और कदाचित् कविता के प्रति भी उनका अनुराग था।[2] भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या के अतिरिक्त

---

[1] इंडियन ऐस्थेटिक्स (कम्पैरेटिव ऐस्थेटिक्स, भाग १) —डॉ० कांतिचन्द्र पाण्डे : पृ० २८

[2] भारतीय साहित्यशास्त्र (प्र० सं०) पं० बलदेव उपाध्याय : पृ० ३३-३४

उन्होंने काव्यरचना भी की थी—और सम्भव है दर्शन पर भी कुछ लिखा हो। उनके केवल दो ही उद्धरण प्राप्त हैं—भरत-सूत्र की व्याख्या का अंश और अभिधा-विषयक मन्तव्य। लोल्लट ने अपने छोटे-से उद्धरण में जिस मनोयोग के साथ भरत-सूत्र की व्याख्या की है और रस को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, उससे उनके रसवादी होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। राजशेखर ने उनका उद्धरण देकर अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में इस मत की पुष्टि की है : **अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु रसवत् एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य' इति अपराजितिः** —अर्थात् अपराजित के पुत्र भट्टलोल्लट का मत है कि अर्थ-समूह भले ही असीम हो किन्तु काव्य में सरस अर्थ का निबंधन होना अत्यावश्यक है, नीरस विषय का नहीं। (हिन्दी का० मी०, पृ० ११०)। लोल्लट ने अपनी व्याख्या में भरत के पश्चात् पहली बार रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और भाव के साथ उसका प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार अपने युग के अन्य आचार्यों के असमान रस को शब्दार्थ का अंग न मानकर मानव-भावों की परिणति रूप मानकर उन्होंने रस-सिद्धान्त के उत्कर्ष में निश्चय ही योग दिया है—'**तेन स्थाय्येव विभावभावादिभिरुपचितो रसः।**'[1] इसके अतिरिक्त लोल्लट ने रस के विषय में दो और महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं :

१. वासना के आवेश के कारण नट में भी रस तथा भावों की अनुभूति सम्भव होने से नट को भी रसास्वादकर्ता मानना चाहिए :

रसभावानामपि वासनावशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च···।

हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४१८

२. मूलतः रस अनन्त हैं, किन्तु नटों में प्रसिद्ध होने के कारण नाटक में आठ रसों का ही प्रयोग करना चाहिए :

······**तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितम्···।**　　हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२९

लोल्लट के उपरांत भरतसूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं **श्री शंकुक**। नाम से ये भी काश्मीरी आचार्य प्रतीत होते हैं। डॉ० कांतिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार इनका सम्बन्ध भी शैव-दर्शन से था। किन्तु इनकी चिंतनपद्धति भी, लोल्लट की चिंतनपद्धति के समान, शैव-दर्शन के अधिक अनुकूलन हीं पड़ती। अतएव पुष्ट प्रमाणों के अभाव में, केवल प्राप्त उद्धरणों के आधार पर तो इन दोनों को शैव-दार्शनिक मानने में सामान्यतः संदेह ही होता है। इसके विपरीत शंकुक के विषय में यह नवीन अनुसंधान अपेक्षाकृत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है कि उन पर बौद्ध न्याय का प्रभाव था।[2] आविर्भाव-काल इनका भी लोल्लट के आसपास—उनसे कुछ बाद माना जा सकता है—क्योंकि अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार लोल्लट को उद्भट के, उसी प्रकार शंकुक को लोल्लट के मत के खण्डनकर्ता रूप में उद्धृत किया है। सम्भवतः नवीं शती के उत्तरार्ध में कुछ समय तक ये लोल्लट के समकालीन रहे होंगे। अभिनवभारती आदि में

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४३

[2] रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (शोध-प्रबन्ध—श्री प्रेमस्वरूप गुप्त—अलीगढ़ वि० वि०)

प्राप्त श्री शंकुक से सम्बद्ध उद्धरणों में रस के प्रति आग्रह सर्वथा स्पष्ट है—शंकुक ने रस के स्वरूप, निष्पत्ति और स्थान आदि का अनुसन्धान जिस उच्चतर दार्शनिक भूमिका पर किया है, उससे रस-सिद्धान्त के तात्त्विक विकास में निश्चय ही सहायता मिली है। वस्तुतः श्री शंकुक की दार्शनिक पृष्ठभूमि भट्टलोल्लट से भी अधिक सुदृढ़ और गंभीर है—और रस को शब्दार्थ-धर्म की निम्नतर भूमिका से ऊपर उठाकर 'अनुमान' आदि मन की क्रिया के रूप में उपस्थित कर उन्होंने रस-सिद्धांत की महत्त्व-प्रतिष्ठा में मूल्यवान् योग दिया है। लोल्लट की भाँति शंकुक ने भी रस को नाट्य-रस के अर्थ में ही ग्रहण किया है, किन्तु लोल्लट जहाँ अनुकार्य और अनुकर्ता पर ही रुक जाते हैं, वहाँ शंकुक रस को सहृदय तक पहुँचा देते हैं।

लगभग इसी समय की एक **सांख्यवादी टीका** का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में, नाट्यशास्त्र अध्याय ६, कारिका ३१ की व्याख्या के अंतर्गत किया है :

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव, सांख्यदृशा सुखदुःख-स्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

—और जिस [व्याख्याकार] ने यह कहा कि सुख-दुःख को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त [रस की] विषय-सामग्री वाह्य ही होती है—सांख्य के इस सिद्धान्त के अनुसार [संसार के सभी पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने के कारण] रस भी सुख-दुःख [मोहात्मक] होता है। और उस सामग्री में [जैसे आगे दिये जाने वाले व्यंजन आदि के उदाहरण में दाल आदि व्यंजन के उदाहरण में छौंक आदि के द्वारा संस्कार करने से रस की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार यहाँ] दाल आदि के स्थान पर विभाव, और उनके संस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं। और उस सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख-दुःख (मोह) रूप रत्यादि स्थायीभाव होते हैं।[1]

यद्यपि अभिनवगुप्त ने आगे के अनुच्छेद में भरत-विरोधी कहकर बड़े प्रबल शब्दों में इस मत का खण्डन किया है, फिर भी इस मत का उपस्थापक सांख्यवादी व्याख्याकार रसवादी धारा के ही अन्तर्गत आता है, और रस की वस्तुगत उत्पत्ति पर इतना अधिक बल होने के कारण यह मानना भी असंगत न होगा कि उसका आविर्भाव-काल ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्व ही रहा होगा। यह व्याख्या भी इस बात का प्रमाण है कि एक ओर जहाँ अलंकारवादी शब्दार्थगत चमत्कार की ही प्रतिष्ठा और प्रसार कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर रसवादी आचार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भरत के सिद्धान्त की व्याख्या एवं प्रचार करते हुए रस के भावाश्रित तथा 'आस्वाद्य' रूप का दार्शनिक स्तर पर गम्भीर विवेचन कर रहे थे।

ध्वनिपूर्व रसवादी धारा के अन्तिम आचार्य हैं **रुद्रभट्ट**। यद्यपि कतिपय विद्वान् इनका आविर्भाव-काल आनन्दवर्धन के बाद दशमी शती का आरम्भ मानते हैं, फिर भी अनेक कारणों से, जिनमें रुद्रट के साथ अत्यन्त घनिष्ठ साम्य और ध्वनि का अपरिचय मुख्य हैं, इन्हें ध्वनिपूर्व आचार्य मानना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। रुद्रभट्ट ने शृंगारतिलक में

---

[1] देखिए, हिन्दी अभिनवभारती : पृ० ४६१

रस का—विशेषकर श्रृंगार रस का—विस्तार से अत्यन्त रुचिपूर्वक विवेचन किया है : पहले परिच्छेद में नवरस, भाव तथा नायक-नायिका-भेद का वर्णन है, दूसरे परिच्छेद में विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन है और तीसरे में अन्य रसों का। इस प्रकार रुद्रभट्ट का मूल प्रतिपाद्य रस ही है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप में भी उन्होंने रस के प्रति आग्रह व्यक्त किया है :

यामिनीवेन्दुना मुक्ता नारीव रमणं बिना।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्नो वाणी भाति नीरसा॥ श्रृं० ति० १, ६

—जैसे चन्द्रमा के बिना रात्रि, पति के बिना नारी, और त्याग के बिना लक्ष्मी, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभा नहीं देती।

ध्वनिपूर्ववर्ती कवि और रस—इस युग के कवियों ने विशेषकर नाटककार और प्रबन्ध-कवियों ने अपने समसामयिक आलोचकों और उनकी काव्य-मान्यताओं के विरुद्ध रस का समर्थन किया है। जैसा कि डॉ० शंकरन ने निर्देश किया है, इन कवियों के भी दो वर्ग हैं। एक ओर कालिदास और भवभूति जैसे शुद्ध रसवादी कवि हैं जिन्होंने अत्यन्त प्रबल स्वर में अपने युग के अलंकारवादी आलोचकों का विरोध करते हुए रस के प्रति आग्रह व्यक्त किया है :

त्रैगुण्ययोद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ मालविका० १.४

सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं व्यवहार में भी कालिदास का काव्य रस से ओतप्रोत है—रस के जितने प्रचुर तथा परिष्कृत उदाहरण कालिदास के दृश्य और श्रव्य काव्यों में मिलते हैं, उतने अन्यत्र दुर्लभ हैं—उनमें श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों रूपों का अद्भुत परिपाक है, वीर और करुण पर भी उनका समान अधिकार है तथा शेष रसों का भी यथाप्रसंग समावेश है। रसावतार भवभूति का तो आग्रह और भी प्रबल है। उन्होंने चित्त की विद्रुति—व्यापक दृष्टि से—मानव-संवेदना को रस का मूल धर्म मानते हुए करुण को एकमात्र रस घोषित किया है : **एको रसः करुण एव**···! अपने नाटकों में उन्होंने अत्यन्त कौशलपूर्वक रस-चमत्कार का प्रदर्शन किया है। काव्य-रचना में अत्यन्त रसमय होने के अतिरिक्त काव्य-चिन्तन में भी भवभूति ने मौलिकता का परिचय दिया है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत ऐसे कवि आते हैं जो रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके प्रति उतने आग्रही नहीं है : रस के अतिरिक्त अपने युग की प्रवृत्ति शब्दार्थ-चमत्कारवाद के प्रति भी उनका स्पष्ट झुकाव है। इस प्रकार उनकी स्थिति मध्यवर्ती है। इनमें प्रमुख हैं—भारवि, बाण, श्रीहर्ष, माघ आदि।[1]

ध्वनि-काल (८५०-१०५० ई०)

इसके पश्चात् ध्वनि-काल आरम्भ हो जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहासकारों के अनुसार ध्वनि-काल का प्रसार आनन्दवर्धन से मम्मट तक अर्थात् लगभग ८५० ई० से १०५० ई० तक है। इसके अन्तर्गत आनन्दवर्धन, भट्टनायक, भट्टतोत, राजशेखर, कुंतक,

---

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए, थिअरीज़ ऑफ रस एंड ध्वनि, भाग १, परिच्छेद ५। (शंकरन)

अभिनवगुप्त, धनंजय, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, भोजराज आदि आचार्य आते हैं। इस युग में संस्कृत-काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का, गम्भीर विवेचन एवं तर्क-वितर्क द्वारा, स्थापन तथा स्थिरीकरण हुआ। इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि है ध्वनि-सिद्धान्त का आविष्कार—और उसके प्रकाश में काव्य के अन्य सिद्धान्तों का स्थान-निर्धारण। पूर्ववर्ती काल में जिन सिद्धान्तों की उद्भावना हुई थी उनमें एक विशेष दृष्टिकोण का ही उन्मेष था, इस युग की विशेषता है सार्वभौम सिद्धान्त का अनुसंधान। मूलतः ध्वनि की स्थापना रस से भिन्न रूप में ही हुई, किन्तु व्यवहार में ध्वनि तथा रस अभिन्न हो गये और रस-सिद्धान्त का सर्वाधिक उत्कर्ष ध्वनिवादियों ने ही किया। यह युग वास्तव में रस-सिद्धान्त का स्वर्ण-युग है: एक ओर जहाँ भट्टनायक, भट्टतोत, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय और महिमभट्ट ने प्रत्यक्ष रूप से रस-सिद्धान्त का मण्डन किया है, वहाँ आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि के रूप में तथा क्षेमेन्द्र ने रसाश्रित औचित्य के द्वारा उसकी गौरव-प्रतिष्ठा की है। भोज का दृष्टिकोण समन्वयवादी है—उन्होंने काव्य में ध्वनि के प्राधान्य को तो स्वीकार किया ही है, अलंकार और रीति के प्रति भी उनके मन में आदर है; फिर भी रस के प्रति उनका आग्रह असंदिग्ध है। केवल एक ही आचार्य ऐसे हैं—कुंतक जिन्होंने 'वक्रोक्ति' के रूप में रस से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु इनका विरोध भी ध्वनि के प्रति जितना प्रबल है, उतना रस के प्रति नहीं है—वरन् यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थ-वक्रता को काव्य-जीवित मानने पर भी रस के प्रति इनके मन में विशेष सम्मान का भाव है।
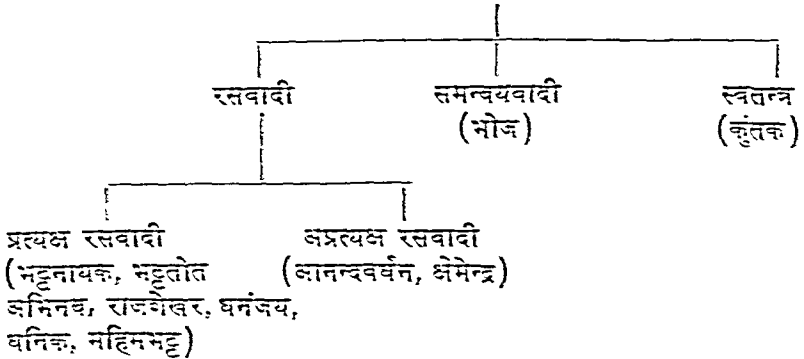
रस का प्रत्यक्ष समर्थन—इस वर्ग के अग्रणी हैं भट्टनायक—जिनका आविर्भाव-काल आनन्दवर्धन के बाद और अभिनव से पहले दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र का यह दुर्भाग्य है कि भट्टनायक का ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' आज केवल नाम-शेष रह गया है और अभिनवगुप्त तथा उनके परवर्ती काश्मीरी शैवाद्वैत-वादियों के तर्कों के घटाटोप में भट्टनायक का अपेक्षाकृत अधिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त लुप्त हो गया है। भट्टनायक भी निश्चय ही शैव आनन्दवादी थे—उनके मत से यह जगत् एक नाटक के समान है जिसके प्रयोग में मनुष्य निरन्तर रसास्वादन करते हैं:

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥ हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ३६

—अर्थात् त्रैलोक्य [रूप नाटक] का निर्माण करने वाले महाकवि शंकर को नमस्कार है; क्योंकि प्रतिक्षण संसार के लोग [उनके विरचित] इस जगत् रूप नाटक के प्रयोग में रसास्वादन का अनुभव करते है।

अभिनव के समान भट्टनायक भी शान्तरस को मूल रस मानते हैं :

स्वं स्वं निमित्तमास्वाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः। हि० अ० भा०, पृ० ३५

भट्टनायक हृदयवादी आलोचक थे—वे हृदय की परिपूर्णता से काव्य का उद्भव मानते थे :

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।

ध्वन्यालोकलोचन (चौ० सं० सी०) पृ० ८७

—अर्थात् जब तक हृदय भाव से परिपूर्ण नहीं हो जाता, तब तक पद्य के रूप में वह उसे उद्गीर्ण नहीं कर सकता।

वे काव्य के रस को योगादि द्वारा प्राप्त रस से उत्कृष्ट मानते थे :

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः॥ वही, पृ० ९२

—अपने सहृदय-रूपी वत्सों की तृषा शान्त करने के लिए सरस्वती-रूपी धेनु जिस रस का स्वयमेव प्रस्रवण करती है, उसकी समानता योगियों द्वारा [अनेक कष्ट साधनों से] प्राप्त रस [भी] नहीं कर सकता।

उन्होंने व्यंजना का निराकरण कर रस की भुक्ति को मान्यता देते हुए रस की प्रत्यक्ष सिद्धि में अपूर्व योगदान किया है :

तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥

—अर्थात् जहाँ शब्द का प्राधान्य रहता है, वह शास्त्र होता है; जो अर्थ-तत्त्व से युक्त होता है उसे आख्यान कहते हैं, और इन दोनों के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता में काव्य-संज्ञा प्राप्त होती है।[1]

भट्टनायक के मत से काव्य में रस-चर्वण ही प्राणभूत है :

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ९२

—काव्य रस प्रदान करता है—वह न तो [पुराणादि की भाँति] उपदेश करता है और न शास्त्रादि की भाँति विधि-निषेध ही।

भट्टनायक को सम्बोधित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं :

काव्ये रसचर्वणा तावत् जीवितभूतेति भवतोऽपि अविवादोऽस्ति।

ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३९

—अर्थात् काव्य में रसचर्वण प्राणभूत है, ऐसा आप भी निर्विवाद रूप से मानते हैं।

---

[1] ध्वन्यालोकलोचन (चौ० सं० सी० १९४०) पृ० ८७

भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना द्वारा काव्यास्वाद की मौलिक समस्या का अत्यन्त मार्मिक समाधान प्रस्तुत किया है और रस की सामाजिकगत अनुभूति को ही प्रामाणिक मानकर रस के आत्मगत स्वरूप का निर्भ्रान्त शब्दों में उद्घाटन किया है। एक ओर जहाँ लोल्लट आदि के मत से रस का स्वरूप एकान्त वस्तुनिष्ठ है, वहाँ दूसरी ओर अभिनव आदि के मत से वह सर्वथा आत्मनिष्ठ है। भट्टनायक ने दोनों सीमाओं को बचाकर मध्यवर्ती दृष्टिकोण अपनाया है और काव्यार्थ तथा प्रमाता के बीच—अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक—भोज्य-भोजक सम्बन्ध स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त के तर्कों और सम्पूर्ण अद्वैत-सिद्धान्त की विचार-पद्धति के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी जीवन तथा काव्य में वस्तु-तत्त्व का नितान्त निषेध करना कठिन ही हो जाता है; और, इस दृष्टि से—भट्टनायक का यह रस-भोगवाद अधिक व्यावहारिक है, इसमें संदेह नहीं।

भट्टनायक के समसामयिक भट्टतोत का योगदान भी बहुत कुछ अनुमानगम्य ही है। उनका ग्रन्थ काव्य-कौतुक भी आज केवल नामशेष है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन तथा अभिनवभारती में अपने इन उपाध्याय का अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण किया है। अभिनव के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'काव्यानुशासन' में प्रतिभा के प्रसंग में भट्टतोत के कतिपय मार्मिक उद्धरण दिये हैं। इन उद्धरणों में रस के प्रति आचार्य का आग्रह सर्वथा स्पष्ट है।

अभिनवभारती के दो अध्यायों में भट्टतोत के मन्तव्यों का विस्तार से वर्णन है: एक तो छठे अध्याय में, दूसरे उन्नीसवें अध्याय में। छठे अध्याय में भट्टतोत श्री शंकुक के रसानुकरणवाद का खण्डन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि भरत के अनुसार रत्यादि का परिपुष्ट रूप ही रस है, रत्यादि का अनुकरण रस नहीं है। अर्थात् नट-निष्ठ रस की स्थिति का निषेध कर वे सामाजिक-निष्ठ रस का प्रतिपादन करते हैं—रस को अभिनय-कला से उच्चतर भूमिका—सहृदय की चित्तवृत्ति—में प्रतिष्ठित करते हैं। उन्नीसवें अध्याय में भट्टतोत के कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किये गये हैं जो इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि लक्षण, गुण, अलंकार, शब्दशक्ति, वृत्ति आदि काव्य-तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे के आनुकूल्य से रस की व्यंजना करते हैं:

तथा चोक्तं भट्टतोतेन—

> लक्षणालङ्कृतिगुणा दोषाः शब्दप्रवृत्तयः।
> वृत्तिसन्व्यंगसंरम्भः संहारो यः कवेः किल॥
> अन्योन्यस्यानुकूल्येन सम्भूयैव समुत्थितैः
> झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादिभिर्गुणैः
> वृत्तैः सरलवन्वैर्यन्मुग्धैश्चूर्णपदैरपि।
> अश्लिष्टहृद्यघटनं भाषया सुप्रसिद्धया॥
> यच्चैवृक्काव्यमात्रं सद्रसभावानुभावनम्।
> सामान्याभिनये प्रोक्तं वाच्याभिनयसंज्ञया॥
> एवं प्रकारं यत्किंचिद्वस्तुजातं (कथार्पितम्)।
> अन्यूनाधिकसामग्री परिपोषोन्मिषद्रसम्॥ हि०अ०भा०, पृ० ९४

—आशय यह है कि लक्षण अलंकार, गुण, दोष, शब्द-प्रवृत्ति, वृत्ति और सन्ध्यंगों में अभिनिवेश—ये जो कवि के आवश्यक उपकरण कहे जाते हैं इनका एक-दूसरे की अनुकूलता के साथ मिलकर समुत्थान होना चाहिए। इस प्रकार आनन्ददायक गुणों से जिस काव्य में रस शीघ्र ही अभिव्यक्त हो जाते हैं; जिस काव्य की रचना सरल बन्धन वाले छन्दों से कोमल और स्निग्ध विलक्षण प्रयोगों के साथ सुप्रसिद्ध भाषा के द्वारा इस प्रकार की जाती है कि उसकी संघटना श्लेषरहित होने के कारण हृदय को प्रिय प्रतीत होती है; इस प्रकार का जितना भी काव्य होता है वह रस और भाव का अनुभावक होता है। इस काव्य का कथन वाच्याभिनय की संज्ञा से सामान्याभिनय के प्रसंग में किया गया है। इस प्रकार की समस्त वस्तु का जब कथा में अर्पण किया जाता है और उसमें ऐसी सामग्री का उपादान किया जाता है जो आवश्यकता से न न्यून हो और न अधिक, तो उससे रस का उन्मेष हो जाता है।

उपर्युक्त उद्धरण में रस साध्य है और अन्य काव्य-तत्त्व साधनमात्र हैं। भट्टतोत रस के प्रति आग्रह के कारण ही नाटक में गीत-प्रयोग पर बहुत बल देते थे; अभिनव का वाक्य प्रमाण है: **"हमारे गुरु भट्टतोत का तो यह मत है कि [नाटक में] रस का आस्वादन उस [गीत] के द्वारा ही होता है।"**

उधर प्रतिभा[1] के प्रसंग में भी प्रतिभा की अनुप्रेरणा को कवि का प्रमुख धर्म घोषित कर आत्मवादी काव्य-सिद्धान्त का ही पोषण किया गया है। रस-सिद्धान्त के विकास में भट्टतोत का सर्वप्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रस-चक्र के अन्तर्गत कवि के अनुभव का भी समावेश किया है और इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया में नायक और सहृदय के बीच माध्यम रूप में कवि को प्रतिष्ठित किया है: **नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।**[2] वस्तुतः साधारणीकरण का वृत्त कवि के बिना पूरा ही नहीं हो सकता—रस के प्रसंग में कवि-अनुभूति की उपेक्षा हो जाने से भारतीय काव्य-शास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण अंग एक दृष्टि से अधूरा ही रह गया। भट्टतोत ने इस ओर संकेत कर उचित दिशा-निर्देश किया था, किन्तु तत्कालीन शास्त्रीय परम्परा में उसका सम्यक् रूप से प्रवेश नहीं हो सका।

रस-सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख आचार्य हैं **अभिनवगुप्त**—उनकी क्रान्तदर्शी प्रतिभा ने रस-सिद्धान्त के इतिहास में क्रान्ति उपस्थित कर दी। काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उनके दो ग्रन्थ हैं: ध्वन्यालोकलोचन और अभिनवभारती। ध्वन्यालोकलोचन में उन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का विशदीकरण किया है और अभिनवभारती भरत के नाट्यशास्त्र का भाष्य है जिसमें भरत के नाट्य-सिद्धान्तों का गम्भीर दार्शनिक व्याख्यान किया गया है। अभिनव के विषय में यह प्रश्न किया जा सकता है कि वे रसवादी हैं या रसध्वनिवादी?—

---

[1] **प्रज्ञा नववोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता।**
तदनुप्राणनाजीवद्वर्णनानिपुणः कविः॥
(हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० ३ पर काव्यकौतुक का उद्धरण)

[2] ध्वन्यालोकलोचन (चौ० सं० सी० १९४०) पृ० ९२

वस्तुतः रस और रसध्वनि में कोई मूल भेद नहीं है, फिर भी रस-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय में व्यावहारिक भेद तो स्पष्ट है ही : वर्तमान आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में यह अनुभूति और कल्पना के प्राधान्य का भेद है; दोनों ही सम्प्रदाय अनुभूति और कल्पना को अनिवार्यतः अन्योन्याश्रित मानते हैं, परन्तु बलाबल का भेद दोनों में स्पष्ट है। बलाबल की कसौटी पर कसने से अभिनवगुप्त का रस के प्रति आग्रह स्पष्ट हो जाता है :

१. तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम् ।

—इसलिए रस ही वस्तुतः काव्य की आत्मा है; वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ वहीं काव्य-संज्ञा को प्राप्त होती हैं जहाँ वे रसपर्यवसायी होती हैं। ये दोनों भी वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं, अतः सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है। (ध्वन्यालोकलोचन, चौ० सं० सी०, पृ० ८५)

२. यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ इति ॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम् । अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसंमितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येनानन्द एवोक्तः । चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम् ।

—अर्थात्, जैसा कि कहा गया है :

सत्काव्य के सेवन से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तथा कलाओं में निपुणता, कीर्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर भी वहाँ आनन्द ही प्रधान है। अन्यथा उपदेश के लिए प्रभुसम्मित पद्धति का अवलम्बन करने वाले वेदादि, मित्रसम्मित पद्धति के अनुयायी इतिहासादि से कान्तासम्मित शैली का आश्रय लेने वाले काव्य में क्या वैशिष्ट्य रहा ? आनन्द की प्रधानता से ही इस वैशिष्ट्य का निर्देश किया गया है। चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति में भी आनन्द ही अन्तिम और मुख्य फल है। (वही, पृ० ४०-४१)।

३. प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्राविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमिति भावः।

—'रस और भाव प्रधान होते हैं' कहने का आशय यह है कि चर्वण का पर्यवसान रस और भाव में ही होता है। यद्यपि केवल वस्तु और अलंकार में काव्यास्वादन की विश्रान्ति नहीं होती, तथापि दूसरे शाब्दबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विलक्षणता होती है। इसी औचित्य के कारण इन्हें भी काव्य का प्राण कह दिया गया है। (वही, पृ० ६०)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ध्वनिकार रस के प्रति पक्षपात करते हुए भी वस्तु-अलंकार-ध्वनि को जहाँ मुक्त भाव से ग्रहण करते हैं, वहाँ अभिनव रस के प्रति अपने नितान्त आग्रह के कारण उन दोनों को आयासपूर्वक ही स्वीकार करते हैं। मूल लेखक और भाष्यकार के दृष्टिकोण का यह भेद अन्त तक बना रहता है। वास्तव में अभिनव का

दार्शनिक मत है शैवाद्वैत, जिसका मूल आधार है परमतत्त्व की आनन्दमयी तथा अद्वैत स्थिति। शैवाद्वैत का आधारभूत आनन्दतत्त्व अद्वैत होने के कारण अखण्ड और अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती अभिव्यक्ति मात्र होती है। इस प्रकार शैवाद्वैत अभिव्यक्तिवाद को आनन्दवाद के साधक सिद्धान्त के रूप में आग्रह के साथ स्वीकार करता है। अभिनवगुप्त ने इसीलिए रस-सिद्धान्त के साधक के रूप में ध्वनि-सिद्धान्त को मनोयोग के साथ ग्रहण किया है; वे मूलतः रसवादी ही हैं, व्यंजना (ध्वनि) भी उन्हें अपनी रस-विषयक धारणा की पुष्टि के लिए अनिवार्यतः मान्य है। दोनों सिद्धान्तों के प्रति आचार्य की आस्था का यही स्पष्ट कारण है—शिवतत्त्व और रसतत्त्व के इस सहज सम्बन्ध को उन्होंने स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है :

१. संसारनाट्यजननधातृबीजलताजुषाम् ।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे ॥

—संसार रूप नाट्य की उत्पत्ति और स्थिति के [क्रमशः] बीज तथा लता को धारण करने वाली भगवान् शिव की रसमयी और मंगलमयी जलमूर्ति की हम उपासना करते हैं।

२. यावन्निजहृदयरसविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्य्यम् ।

—अर्थात् जब तक भगवान् [शिव] के समान अपने हृदय में रस से उत्पन्न सौन्दर्य एवं उद्दाम आनन्द से पवित्रता उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक सैकड़ों बार सिखलाने पर भी [अभिनय में अपेक्षित स्वाभाविक] सौन्दर्य नहीं आ सकता है।[1]

अन्यत्र, ध्वन्यालोक की टीका लोचन के मंगलाचरण में सरस्वती-तत्त्व का भी रस-तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है :

जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।[2]

—पाषाणवत् नीरस जगत् को जो [सरस्वती-तत्त्व] अपने रस-भार से सरस तथा सारवान् कर देता है।

अपने दर्शन-ग्रन्थों में अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रकाश में रस-तत्त्व का अपूर्व व्याख्यान किया है और इधर अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन में मूल कारिकाओं की व्याख्या के साथ-साथ रस-सिद्धान्त के प्रायः समस्त प्रमुख प्रसंगों पर स्वतन्त्र तथा गम्भीर विचार व्यक्त किये हैं, जिनका व्यापक प्रभाव भारतीय रस-शास्त्र पर अद्यावधि अक्षुण्ण है। रस-शास्त्र में अभिनव ने अनेक क्रान्तिकारी स्थापनाएँ की हैं जो आज भी यथावत् मान्य हैं :

१. रस के स्वरूप और निष्पत्ति के प्रसंग में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों—उत्पत्तिवाद, अनुकृतिवाद तथा भुक्तिवाद आदि का प्रबल शब्दों में प्रतिवाद किया और

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती : पृ० १२५

[2] ध्वन्यालोकलोचन (काशी सं० सी० चौखम्बा) पृ० १

अभिव्यक्तिवाद की, दृढ़ दार्शनिक भूमिका पर, स्थापना की ।[1] उन्होंने रस की अनुकार्यगत तथा नटगत स्थिति का निषेध कर सहृदयगत स्थिति को ही मान्यता दी और इस प्रकार रस के वस्तुनिष्ठ रूप का खण्डन कर शुद्ध व्यक्तिनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ 'आस्वाद' रूप का प्रतिपादन किया—भट्टनायक के भोगवाद में द्वैत की अवस्थिति अथवा आभास निश्चित रूप से था, अभिनव ने रस की अखण्ड अद्वैत सत्ता की दृढ़ता के साथ स्थापना की :

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते ।[2]

सांख्य मत से प्रभावित रस के सुखदु:खात्मक स्वरूप का खण्डन यों तो भट्टनायक ही कर चुके थे, परन्तु अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत के प्रकाश में उसका निर्भ्रान्त शब्दों में निराकरण कर रस की एकान्त आनन्दमयी स्थिति का प्रतिपादन किया :

अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र संग्रहः । स च न युक्तः । सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम् ।[3]

इस दृष्टि से अभिनवगुप्त ने रस की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम रूपक को ही माना है, किन्तु प्रबन्धकाव्य में भी भाषा, वेष आदि की कल्पना तथा वर्णन-चमत्कार के द्वारा उसकी स्थिति उन्हें सर्वथा स्वीकार्य है—और प्रबन्ध का उपजीव्य होने से मुक्तक में भी—क्योंकि उसमें सहृदय [पुरुष] पूर्वापर उचित [प्रसंग आदि की कल्पना करके] 'यहाँ, इस अवसर पर, इस प्रकार का [इस श्लोक] का वक्ता है,' इत्यादि बहुत-सी भूमिका बाँध लेते हैं :

तद्रूपसमर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेष प्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात् । तदुपजीवनेन मुक्तके । तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धं रूपं विदधते ।[4]

इस प्रकार रसवत्ता की दृष्टि से काव्य-भेदों का कोटिक्रम इस प्रकार है : रूपक → प्रबन्ध → मुक्तक ।

२. अभिनव के मत से यद्यपि रस की सिद्धि केवल विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी के प्राधान्य द्वारा भी हो सकती है, किन्तु उसका पूर्ण उत्कर्ष रसावयवों के समप्राधान्य के द्वारा ही सम्भव है : **किन्तु समप्राधान्य एवं रसास्वादस्योत्कर्षः ।**[5]

३. अभिनव ने भरत और अपने गुरु भट्टतोत से संकेत प्राप्त कर कविगत रस की अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या की है । भारतीय काव्यशास्त्र में कविगत रस का इतना प्रामाणिक उल्लेख अन्य नहीं मिलता :

कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः । सैव च संवित् परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादि-प्रतीतिरिति । तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः ।

---

१ देखिए : हिन्दी अभिनवभारती, अ० ६

२ वही, पृ० ५०७

३ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५००

४ वही, पृ० ४६२

५ वही, पृ० वही

—उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है। वही कविगत संवित् वास्तव में [मूलभूत] रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस [कविगत रस से प्रभावित] सामाजिक को अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद में विभावादि की प्रतीति होती है, इसलिए कविगत रस मूलबीज रूप होता है।[1]

आगे, कविगत रस और सामाजिकगत रस के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए आचार्य लिखते हैं :

कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्तं शृंगारी चेत्कविः इत्यादि आनन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अर्थात् कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है, और यदि वह वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है, इत्यादि (ध्वन्यालोक, ३-४२)। उस [बीजस्थानीय कविगत रस] से वृक्षस्थानीय काव्य [उत्पन्न] होता है। उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए जगत् रसमय ही होता है।[2]

५. भरत ने ओषधि-व्यंजन आदि का दृष्टान्त देकर रस-परिपाक की व्याख्या की है। अभिनव ने शास्त्रीय दृष्टि से उसका विशदीकरण कर रस के परिपाक और आस्वाद के प्रश्नों पर प्रभूत प्रकाश डाला है। इसी प्रकार रसों के उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध का भी अभिनवभारती में विशद व्याख्यान है। भरत ने प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना कहा है कि शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है : कैसे ? शृंगार की अनुकृति हास्य है, रौद्र का कर्म करुण है, वीर का कर्म अद्‌भुत है और जहाँ बीभत्स का दर्शन होता है वहाँ भयानक रस समझना चाहिए। अभिनवगुप्त ने विस्तार के साथ शास्त्रीय पद्धति से इस सम्बन्ध का (१) अनुकृति और आभास, (२) व्यवहितफल, (३) अव्यवहित फल, (४) तुल्यविभावत्व के कारण आक्षेप—इन चार रूपों में विश्लेषण किया है।

६. लोल्लट-प्रतिपादित रसों की अनन्तता का निषेध कर अभिनव ने रस-संख्या नौ ही मानी है और शान्त को महारस माना है—शान्त के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक है कि वे बार-बार नाट्यशास्त्र के एक ऐसे संस्करण का हवाला देते हैं जिसमें स्वयं भरत ने शान्त की सत्ता को स्वीकार किया है। शान्त के साथ ही, शृंगार का विवेचन भी अभिनवभारती में विस्तार से किया गया है।

इस प्रकार रस के प्रति अभिनव का आग्रह सर्वथा असंदिग्ध है—उनका रस-विवेचन व्यापक और गम्भीर होने के साथ-साथ अत्यन्त प्रबल है, और इस दृष्टि से भारतीय रसशास्त्र में उनका स्थान अन्यतम है।

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१५

[2] वही, पृ० वही

राजशेखर का (जो वस्तुतः कालक्रमानुसार अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती थे) मुख्य विषय कवि-शिक्षा है, किन्तु उनके विचार की परिधि अत्यन्त व्यापक है और उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत आधुनिक है। उनका रस-विवेचन संक्षिप्त है, किन्तु रस के महत्त्व के विषय में उनकी दृष्टि सर्वथा अनाविल है :

शब्दार्थौ ते शरीरं......रस आत्मा......। काव्यमीमांसा (हिं० अ०) पृ० १४

अपने पुत्र काव्य-पुरुष से सरस्वती कहती हैं कि शब्द-अर्थ तेरा शरीर है...और रस आत्मा है। आगे चलकर अर्थव्याप्ति नामक प्रसंग में भट्टलोल्लट का उद्धरण देकर उन्होंने फिर रस के महत्त्व का प्रतिपादन किया है :

रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य। काव्यमीमांसा (हि० अनुवाद), पृ० ११०

प्रकृति अथवा भौतिक जीवन के पदार्थों का वर्णन—चाहे वे कितने ही रमणीय या महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, राजशेखर के मत से काव्य के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए रसानुकूलता अनिवार्य है :

मंजनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नाति बहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥

काव्यमीमांसा (हि० अनु०) पृ० १११

—जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होने पर भी अधिक मात्रा में न होना चाहिए तथा प्रस्तुत प्रसंग एवं रस के विरुद्ध भी न होना चाहिए।

यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥

काव्यमीमांसा (हि० अनु०), पृ० १११

—कविगण नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, हाथी एवं रथ आदि के वर्णनों में जो यत्न करते है, वह उनकी काव्यरचना-शक्ति का प्रचार मात्र है। मर्मज्ञ विद्वान् उसे बहुत अच्छा नहीं समझते।

उपर्युक्त आनुवंश्य उद्धरण देकर, राजशेखर उनके साथ अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त करते हैं **'आम इति यायावरीयः'**—अर्थात् यायावरीय कहते है कि यह उचित ही है। इस प्रसंग में रस का शुद्ध रसशास्त्रीय अर्थ में प्रयोग किया गया है—वस्तु-सौन्दर्य से भिन्न, भाव-सौन्दर्य के अर्थ में। भारतीय काव्य प्राकृतिक वैभव से जगमग है, किन्तु फिर भी भारतीय रसशास्त्र में प्रकृति को आलम्बन का स्थान प्राप्त नहीं हो सका—रस-परिपाक के लिए क्रिया मात्र पर्याप्त नहीं है, प्रतिक्रिया भी उतनी ही आवश्यक है। इसी तर्क से प्रतिक्रिया की शक्ति से वंचित प्रकृति रस-परिपाक के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकी। राजशेखर ने नवम अध्याय में भारतीय रसशास्त्र के इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन किया है। उनका स्पष्ट मत है कि प्रकृति के रमणीय दृश्यों के वर्णन आकर्षक होते हैं, परन्तु उनमें रसवत्ता मानव-भावनाओं के संस्पर्श से ही आती है। सरित्, अद्रि, सागर, पुर, तुरग, रथ

आदि के वर्णनों में किस प्रकार मानव-भावना के स्पर्श से रसवत्ता आती है इसका उन्होंने उपयुक्त उदाहरण देकर मार्मिक विवेचन किया है। एक उदाहरण देखिए :

तत्र नदीवर्णनरसवत्ता—

एतां विलोक्य तलोदरि ! ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥

—हे कृशोदरि ! समुद्र में मिलती हुई इस ताम्रपर्णी नदी को देखो, सीपियों के सम्पुट से निकले हुए जिसके जल-कण, सुन्दरियों के विशाल स्तन-तटों पर मोतियों के हार के रूप में शोभा पाते हैं। वही, पृ० १११

यहाँ नदी का वर्णन मानव-सौन्दर्य और मानवलालसा के संस्पर्श से रसवत्ता को प्राप्त हो जाता है।

राजशेखर ने जैन आचार्य पाल्यकीर्ति और अपनी पत्नी श्रीमती अवन्तिसुन्दरी के मत उद्धृत करते हुए इस प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण स्थापना की है और वह है रस की एकान्त आत्मपरक स्थिति :

१. "वस्तु का रूप चाहे कैसा भी हो, रसवत्ता तो कवि की प्रकृति पर आधृत है"—(पाल्यकीर्ति)। २. "किसी वस्तु का स्वरूप नियत नहीं है, प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव वाली है"—(अवन्तिसुन्दरी)। रस का यह कविगत रूप भारतीय काव्यशास्त्र में निश्चयपूर्वक स्वीकृत रहा है, परन्तु बाद में चलकर सहृदयगत रूप का इतना प्रसार हुआ कि कविगत रस एक प्रकार से आच्छादित हो गया। राजशेखर संस्कृत के उन स्वतन्त्रचेता आचार्यों में से हैं जिन्होंने उसका स्पष्ट शब्दों में व्याख्यान किया है।

इस युग में रस-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष समर्थन करने वाला एक और ग्रन्थ है दशरूपक। यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधृत है, अतः रस के प्रति इसके मूल-लेखक **धनंजय** और उनके समसामयिक वृत्तिकार **धनिक** दोनों की निष्ठा स्वाभाविक है। दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस के स्वरूप, स्थिति, काव्य और रस के सम्बन्ध, रस-विरोध और उसके परिहार, शान्त रस और नाट्य में उसकी असिद्धि, विभिन्न रसों के अवयवों और मुख्य भेदों का, मनोयोग के साथ स्पष्ट शैली में, प्रतिपादन किया गया है। धनंजय और धनिक के अनुसार काव्य का अर्थ है भाव-विभावादि-निरूपक शब्दार्थ और उसका रस के साथ व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध न होकर भावक-भाव्य सम्बन्ध है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा से भिन्न—उन पर लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक का प्रभाव स्पष्ट है। ध्वनिवाद का खण्डन कर उन्होंने रस को शब्दार्थ का मूल और एकमात्र 'तात्पर्य' घोषित किया है :

काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते।

—अर्थात् ऐसी दशा में काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय-व्यतिरेक-रूप सम्बन्ध है। (एक के होने पर ही दूसरे का अस्तित्व हो सकता है)

इन काव्योपात्त शब्दों का विभावादि में ही निरतिशय सुख का आस्वाद—रस-रूप अलौकिक आनन्द की चर्वणा—नहीं पाया जाता, अपितु वह रस इनका प्रतिपाद्य है। इस प्रकार काव्य-प्रयुक्त शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग विभावादि स्थायिभाव एवं रस के लिए होता है। इनमें भी विभावादि स्थायिभाव तथा रस के प्रतिपादक हैं, रस व भाव उनके प्रतिपाद्य। काव्य, काव्योपात्त शब्द, विभावादि, तथा स्थायिभाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य अथवा प्रयोजन दिखायी पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त काव्य का और कोई प्रयोजन दिखायी नहीं पड़ता: अन्य किसी भी काव्य-प्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए आनन्दोद्भूति को ही काव्य का कार्य माना जाएगा।

हिन्दी दशरूपक—डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० २३९

रस का अर्थ धनंजय और धनिक के लिए सामान्य काव्य-चमत्कार नहीं है—रस से अभिप्राय उस आनन्दोद्भूति से है जो विभावादि से युक्त स्थायी के कारण होती है:

तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते।

हि० द० रू०, पृ० २३९

—अर्थात् रस को दशरूपक में—उसके शुद्ध पारिभाषिक अर्थ में—स्थायिभाव के आस्वाद रूप में ही ग्रहण किया गया है।

महिमभट्ट—इसी युग में एक अन्य मेधावी आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिवाद का प्रबल खण्डन करते हुए काव्य की रसात्मकता का निर्भ्रान्त शब्दों में अनुमोदन किया:

काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमाद्।

व्यक्तिविवेक (चौ० ख०) प्रथम विमर्श, पृ० ९३

—अर्थात् ध्वनि का विषय काव्यमात्र है (काव्य का एक विशेष भेद नहीं)—वस्तुतः काव्य वहीं हो सकता है जहाँ रस हो।

तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्, किमुत विशिष्टत्वम्।

वही, पृ० ९८

—रसात्मकता के अभाव में काव्य का व्यपदेश ही नहीं रहता वैशिष्ट्य की तो बात ही क्या?

इस प्रकार उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध किया है कि काव्य की आत्मा रसादि ही हैं, इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता:

काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः। वही, पृ० १०५

इस रस का महत्त्व अपूर्व है:

पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः॥ वही, पृ० ९४

रस के अभाव में प्रहेलिकादि शेष रह जाते हैं काव्य नहीं। इसी तर्क से महिमभट्ट काव्य के भेद नहीं मानते—न रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि आदि और न ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि। उनकी तर्क-पद्धति सीधी है: जहाँ रस है वहाँ काव्य है और जहाँ रस नहीं है वहाँ काव्य नहीं है: इसलिए या तो वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि रस के अन्तर्गत ही हैं या वे काव्य ही नहीं हैं। इसी प्रकार, जहाँ रस है वहाँ रस के चमत्कार के कारण गौणता सम्भव नहीं है: रस-विहीन काव्य काव्य नहीं है और रस का सद्भाव होने पर गौणता का प्रश्न नहीं उठता।

किञ्च मुख्ये रसात्मनि काव्ये सम्भवति न तस्य गौणस्याश्रयणं युक्तम्। वही, पृ० १०१

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का इससे प्रबल समर्थन अन्यत्र दुर्लभ ही है।

रस का अप्रत्यक्ष समर्थन—इस वर्ग के अन्तर्गत ध्वनि-काल के दो प्रमुख आचार्यों का नाम आता है—आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र। यद्यपि इन दोनों ने ही रस से पृथक् ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया, किन्तु मूलतः रस के प्रति इनके मन में प्रगाढ़ आस्था थी, और ध्वनि तथा औचित्य का वास्तविक अर्थ क्रमशः रसध्वनि एवं रसौचित्य ही है। इस प्रकार आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र भी प्रकारान्तर से रस-सिद्धान्त के प्रबल पोषकों में ही परिगण्य हैं।

आनन्दवर्धन ने रस का महत्त्व-प्रतिपादन इतने विस्तार और वैविध्य से किया है कि अनेक आलोचक आज उन्हें निर्व्याज रसवादी ही मानते हैं।[1] इस मान्यता का समर्थन करना तो कठिन होगा क्योंकि रस, अलंकार और रीति से स्वतन्त्र ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक कारण थे, और जैसा कि मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है, ध्वनि-वाद काव्य में 'केवल भावना' के अतिरिक्त कल्पना-तत्त्व की महत्त्व-प्रतिष्ठा का सफल प्रयास था। आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसादि के अतिरिक्त संलक्ष्यक्रमव्यंग्य वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को भी उत्तम काव्य माना है और रसध्वनि में उनके पर्यवसान को उस रूप में अनिवार्य नहीं माना जिस रूप में कि अभिनव ने। अतः रस और ध्वनि का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होने पर भी दोनों का पार्थक्य स्वीकार करना ही होगा। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि रस के प्रति आनन्दवर्धन का आग्रह किसी भी रसवादी से कम नहीं है।

१. काव्य को मूलतः व्यंग्य-प्रधान मानते हुए भी आनन्दवर्धन ने अनेक प्रकार के व्यंग्यों में केवल रसादि को ही काम्य माना है:

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥ ध्वन्या० ४.५

—इस व्यंग्य-व्यंजक भाव के नाना रूप सम्भव होने पर भी कवि केवल एक रसादि भेद में ही ध्यान लगावे।

२. वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि) भी रस का उपकार कर अधिक शोभा को प्राप्त होती हैं। (ध्वन्या०, ३.१५)

---

[1] ग० त्र० देशपांडे आदि मराठी आलोचक

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥ ध्वन्या० ३.१५

—संलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप ध्वनि का जो प्रभेद किन्हीं काव्यों में [साक्षात्] व्यंग्य रूप से स्थित (वर्णित) होता है, वह भी [पर्यवसान में] इस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के व्यंजक रूप में भासता है।

गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति, सभी रस के आश्रित हैं—रसव्यंजकता ही उनकी सार्थकता है :

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ध्वन्या० २.६

—जो उस प्रधानभूत [रस] अंगी के आश्रित रहने वाले [माधुर्यादि] हैं उनको गुण कहते हैं और जो [उसके] अंग [शब्द तथा अर्थ] में आश्रित रहने वाले हैं उनको कटकादि के समान अलंकार कहते हैं।

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥ ध्वन्या० २.१८
निर्व्यूढापि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्याऽङ्गत्वसाधनम् ॥ ध्वन्या० २.१९

१. [रूपकादि की] विवक्षा [सदैव रस को प्रधान मानकर] रसपरत्वेन ही [वर्ण्य] हो, २. प्रधान रूप से किसी भी दशा में नहीं, ३. [उचित] समय पर [उनका] ग्रहण और ४. त्याग होना चाहिए, ५. [आदि से अन्त तक] अत्यन्त निर्वाह की इच्छा [यत्न] नहीं करना चाहिए ६. [यदि कहीं अनायास आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो] निर्वाह हो जाने पर भी [वह] अंगरूप में [ही] हो, यह बात सावधानी से फिर देख लेनी चाहिए। यही [समीक्षा] रूपकादि अलंकारवर्ग के अंगत्व का साधन है।

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्, × × × ॥ ध्वन्या० ३.६

—माधुर्यादि गुणों को आश्रय करके स्थित वह [संघटना] रसों को अभिव्यक्त करती है।

४. काव्य के छोटे से छोटे अवयव—सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारक, कृत्, तद्धित, समास से लेकर प्रबन्ध-काव्य तक सभी रस का प्रकाशन करते हैं। वास्तव में रस के संस्पर्श से ही वे काव्यपद के अधिकारी होते हैं :

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥ ध्वन्या० ३.१६

—सुप् (अर्थात् प्रथमा आदि विभक्तियाँ), तिङ् (अर्थात् क्रिया-विभक्तियाँ), वचन (एक, द्वि, बहुवचन), सम्बन्ध (षष्ठी विभक्ति), कारक शक्ति, कृत् (धातु से विहित तिङ् भिन्न प्रत्यय), तद्धित (प्रातिपदिक से विहित सुप् भिन्न प्रत्यय)

और समास से [अभिव्यक्त जो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य उससे भी] कहीं-कहीं असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि अभिव्यक्त होती है। हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २७०

काव्य के सम्पूर्ण भेदों में—मुक्तक से लेकर महाकाव्य तक में—रस ही प्राण रूप से व्याप्त रहता है :

कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। × × × न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २६४

—अर्थात् काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से रस-परतन्त्र वन जाना चाहिए। × × × इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि वह तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकार ध्वन्यालोक में रस के सार्वभौम महत्त्व की निर्भ्रान्त शब्दों में घोषणा की गयी है—किन्तु माध्यम सर्वत्र ध्वनि ही रही है। अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन के मन्तव्यों की सूक्ष्म विवेचना से रस के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष समर्थन का भेद स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में अन्तिम रूप में रस और ध्वनि का अन्तर इतना नगण्य रह जाता है कि दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन होता है—किन्तु अन्तर तो है ही—अभिनवगुप्त जहाँ वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि पर क्षण भर के लिए नहीं रुकते—रस-पर्यवसान ही उनकी दृष्टि में इन दोनों की सिद्धि है, वहाँ आनन्दवर्धन संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की स्वतन्त्र सत्ता मान लेते हैं—उसकी रसोन्मुखता की बात वे भी करते हैं, परन्तु उतने स्पष्ट और निर्भ्रान्त शब्दों में नहीं। यही कारण है कि आनन्दवर्धन का रस-समर्थन सिद्धान्ततः अप्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा।

औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य **क्षेमेन्द्र** का दृष्टिकोण भी वहुत कुछ ऐसा ही है। वे रस-सिद्ध काव्य को ही वस्तुतः काव्य-पद का अधिकारी मानते हैं और आनन्दवर्धन के अभिमत :

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा। हिन्दी ध्वन्या०, पृ० २५६

अर्थात् 'प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।'—को ही अपने शब्दों में प्रतिध्वनित करते हुए लिखते हैं—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ औचित्यविचारचर्चा, पृ० ५

—अर्थात् अलंकार अलंकार ही हैं और गुण सदा गुण ही हैं। रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन तो औचित्य है।

क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य का आस्वादनीय तत्त्व रस ही है, औचित्य के द्वारा रस और अधिक आस्वादनीय बनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है :

कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः। औ० वि० च०, पृ० १६

अपने ग्रन्थ के छोटे-से कलेवर में आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य की विस्तार से विवेचना की है। उनका मत है कि रस के समस्त अवयवों—आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, व्यभिचारी

आदि के वर्णन में औचित्य का पूर्ण निर्वाह होना चाहिए तथा रसों के परस्पर सम्बन्ध, संकर एवं संसृष्टि में औचित्य की पूर्णतया रक्षा होनी चाहिए।

इस प्रकार वास्तव में क्षेमेन्द्र भी रस को ही काव्य का प्रमुख तत्त्व मानते हैं, किन्तु रस का आधार उनकी दृष्टि में औचित्य ही है। यह मत रस-सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है, क्योंकि रस-सिद्धान्त भी रस-परिपाक के लिए औचित्य को अनिवार्य मानता है। रस-सिद्धान्त में भी औचित्य के अभाव में रस रसाभास बन जाता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र भी मूलतः रसवादी ही हैं। उनकी औचित्य-कल्पना का आधार भी अन्ततः रस ही सिद्ध होता है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में रस और औचित्य का प्रायः अनिवार्य अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिस प्रकार ध्वनिकार द्वारा निरूपित ध्वनि के रसेतर भेदों में भी रस का अनिवार्य स्पर्श विद्यमान रहता है, इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने भी औचित्य के रसेतर भेदों में अनिवार्यतः रस का पुट दिया है। भाव-सौन्दर्य से रहित केवल नैतिक या बौद्धिक औचित्य की कल्पना उन्होंने काव्य की परिधि में नहीं की है। परन्तु, इतना होते हुए भी उन्हें प्रत्यक्ष रसवादी न मानकर अप्रत्यक्ष रसवादी ही मानना होगा।

समन्वयवादी—शृंगार रस को एकमात्र एवं सार्वभौम रस मानने पर भी, समग्रतः, भोजराज को समन्वयवादी आचार्य मानना ही समीचीन होगा। काव्य के स्वरूप के विषय में उनका मन्तव्य इसका स्पष्ट प्रमाण है :

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥ स० क० भ०, १.२

—अर्थात् दोष से मुक्त, गुण से युक्त, अलंकार से अलंकृत और रस से परिपुष्ट काव्य की रचना करता हुआ कवि कीर्ति और प्रीति का भागी बनता है।

भामह आदि पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते हुए भोज भी शब्द-अर्थ के साहित्य को काव्य मानते हैं। यह साहित्य अथवा सम्बन्ध बारह प्रकार का होता है। इनमें से अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य आदि प्रथम आठ सम्बन्ध तो वाङ्मय के सभी रूपों में अनिवार्यतः विद्यमान रहते हैं, किन्तु अन्तिम चार अर्थात् दोषहान, गुणोपादान, अलंकारयोग तथा रसावियोग काव्य के ही लक्षण हैं। काव्य में इन चारों का ही अपना महत्त्व है, फिर भी रसावियोग का प्राधान्य निर्विवाद है :

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥ स० क० भ० ५.८

—वाङ्मय के तीन भेद हैं—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति। इन तीनों में रसोक्ति अधिक मनोग्राही है।

रस के प्रति भोजराज का आकर्षण उसके अत्यन्त विस्तृत वर्णन से भी स्वतःसिद्ध है। रस के प्रत्येक अवयव का जितना सांग और परिपूर्ण वर्णन शृंगारप्रकाश में किया गया है उतना संस्कृत काव्यशास्त्र में और कहीं नहीं मिलता। शृंगारप्रकाश के छत्तीस प्रकाशों में से पहले छह में शब्द-अर्थ का विवेचन है, सातवें-आठवें में शब्द-अर्थ के अभिधादि आठ

सम्बन्धों का वर्णन है, नवें में दोपहान और गुणोपादान का, दसवें में अलंकारयोग का और बारहवें में नाटक का—शेष पूरे पच्चीस प्रकाश रस को समर्पित हैं। किन्तु इतना होने पर भी भोज गुण के समान रस को भी अलंकार मानने से नहीं हिचकते :

नानालंकारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः। स० क० भ०, ५.११

वास्तव में, उनकी दृष्टि केवल समन्वयात्मक ही नहीं वरन् संग्रहात्मक भी है; वे भरत और दण्डी दोनों के प्रति समान रूप से निष्ठावान् हैं, उधर वामन और आनन्दवर्धन का भी उन पर गहरा प्रभाव है। ऐसी दशा में व्यवहार में, रस का अत्यधिक पक्षपात करते हुए भी, सिद्धान्त में वे समन्वयवादी ही हैं।

स्वतन्त्र—इसी युग में **कुन्तक** ने परम्परा से भिन्न अपनी स्वतन्त्र-चिन्तना द्वारा वक्रोक्ति-सिद्धान्त की उद्‌भावना की। सामान्यतः वक्रोक्ति-सिद्धान्त अलंकार-सिद्धान्त का ही प्रतिरूप और परिणामतः रसवाद का विरोधी सिद्धान्त माना जाता है, और कुन्तक ने भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में **'सालंकारस्य काव्यता'** की घोषणा की है। किन्तु 'वक्रोक्तिजीवितम्' का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कुन्तक का दृष्टिकोण रस-विरोधी नहीं था—हाँ, वह रस से स्वतन्त्र अथवा भिन्न अवश्य था क्योंकि १. उन्होंने काव्य का आत्मभूत तत्त्व रस को न मान कर वक्रोक्ति को ही माना है और इस प्रकार २. भाव-तत्त्व की अपेक्षा कला-तत्त्व पर अधिक बल दिया है। फिर भी रस के प्रति उनके मन में उत्कट अनुराग था और स्थान-स्थान पर उन्होंने रस के महत्त्व का प्रकाशन किया है। सिद्धान्त रूप से वक्रोक्ति और रस में वैसा मौलिक साम्य तो नहीं है जैसा ध्वनि और वक्रोक्ति में है, किन्तु सब मिलाकर वक्रोक्ति-चक्र में रस का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है : वास्तव में यह कहना असंगत न होगा कि रस के प्रति वक्रोक्ति और ध्वनि दोनों सम्प्रदायों का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है।

काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस की महत्ता—सब से पूर्व तो कुन्तक ने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत ही रस का महत्त्व स्वीकृत किया है।

काव्य-लक्षण :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ व० जी० १.१०

यहाँ काव्य-बन्ध के लिए वक्रकविव्यापार के साथ ही तद्विदाह्लादकारिता को भी अनिवार्य माना गया है : तद्विद् का अर्थ है काव्य-मर्मज्ञ अथवा सहृदय—इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य को अनिवार्यतः सहृदय-आह्लादकारी होना चाहिए।

काव्य-प्रयोजन :

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ व० जी० १.५

—अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

चमत्कारो वितन्यते का अर्थ स्वयं कुन्तक की वृत्ति के अनुसार यह है : **आह्लादः पुनः**

पुनः क्रियते अर्थात् आनन्द का विस्तार करता है। इस प्रकार कुन्तक आनन्द को काव्य का चरम प्रयोजन मानते हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि कुन्तक इतना महत्त्व आह्लाद को दे रहे हैं—रस को नहीं, अर्थात् काव्यानन्द को रसास्वाद का पर्याय क्यों माना जाय? भामह आदि अलंकारवादियों ने भी प्रीति अथवा आनन्द को मूल प्रयोजन माना है, परन्तु उनकी आनन्द-विषयक धारणा रस से भिन्न है। इसी प्रकार कुन्तक का आह्लाद-स्तवन रस का स्तवन नहीं है। इस शंका का समाधान स्वयं कुन्तक के शब्दों का आधार लेकर किया जा सकता है। सुकुमार मार्ग के विवेचन में कुन्तक ने सहृदय या तद्विद् को स्पष्टतया रसादिपरमार्थज्ञ अर्थात् रसादि के परम तत्त्व का वेत्ता कहा है:

रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः। व० जी० १.२६

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कई स्थानों पर तथा कई रूपों में उन्होंने सहृदय को रसज्ञ का ही पर्याय माना है। उदाहरण के लिए, सौभाग्य गुण के लक्षण में सहृदय के लिए 'सरसात्मनाम्' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसकी व्याख्या करने के लिए 'आर्द्रचेतसाम्' शब्द का:

सर्वसम्पत्परिस्पन्दसम्पाद्यं सरसात्मनाम्। व० जी० १.५६

× × **सरसात्मनाम् आर्द्रचेतसाम्**···।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक का 'सहृदय' निश्चय रूप से सरसात्मा अथवा आर्द्रचित रसज्ञ ही है और उसका आह्लाद रसास्वाद से अधिक भिन्न नहीं है।

कुन्तक के मत से काव्य में रस का स्थान

कुन्तक के विवेचन में कई प्रसंगों के अन्तर्गत ऐसी स्पष्ट उक्तियाँ हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि ध्वनिकार की भाँति वे भी रस को काव्य का परम तत्त्व मानते हैं। प्रबन्ध-वक्रता के विवेचन में उन्होंने निर्भ्रान्त शब्दों में यह घोषित किया है कि वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप प्रबन्ध-वक्रता है:

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषु किं पुनः। व० जी० ४.२६ (अंतःश्लोक)

—अर्थात् प्रबन्ध कुन्तक के मत से साधारण कवियों की नहीं वरन् कवीन्द्रों की कीर्ति का मूल कारण है।

इसी प्रबन्ध के विषय में उनका यह दृढ़ विश्वास है:

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥ व० जी० ४.११

—अर्थात् निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों से परिपूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है।

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनसे यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि कुन्तक के अनुसार भी काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप है प्रबन्ध, और प्रबन्ध का प्राणतत्त्व है रस—इस प्रकार ध्वनि-काव्य की भाँति वक्रोक्तिजीवित काव्य का भी प्राण-तत्त्व रस ही सिद्ध होता है।

ध्वनि-सिद्धान्त के समान ही वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी रस को वाच्य नहीं वरन् व्यंग्य माना गया है—इस प्रसंग में कुन्तक ने उद्भट द्वारा मान्य रस के स्वशब्द-वाच्यत्व का उपहास करते हुए लिखा है :

उसके [उपर्युक्त मन्तव्य] के विषय में रसों की स्वशब्दावाच्यता हमने आज तक नहीं देखी है। × × इसका यह अभिप्राय हुआ कि शृंगार आदि रस अपने वाचक शब्दों के द्वारा कहे जाकर श्रवण से गृहीत होते हुए चेतन सहृदयों को चर्वणा का चमत्कार—आस्वाद का आनन्द प्रदान करते हैं। इस युक्ति से घृतपूप आदि खाद्य पदार्थ अपने नामों से कहे जाने पर [ही] आस्वादन-सम्पत्ति अर्थात् खाने का आनन्द उत्पन्न कर देते हैं, [यह सिद्ध हो जायगा]। इस प्रकार उन उदारचरित महाशयों की कृपा से किसी भी पदार्थ के उपभोग-सुख की कामना करने वाले सभी व्यक्तियों के लिए, उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से त्रैलोक्यराज्य की सुख-सम्पदा बिना प्रयत्न के सिद्ध हो जाती है। व० जी० ३.११ (वृत्ति)

काव्यवस्तु के विवेचन में भी कुन्तक ने रस को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने काव्य की वर्ण्य वस्तु को स्पष्ट शब्दों में रसस्वरूप माना है और विविध प्रकार से उसकी रसनिर्भरता का प्रतिपादन किया है :

इस प्रकार स्वभाव-प्राधान्य और रस-प्राधान्य से दो प्रकार की वर्ण्य विषय-वस्तु का सहज सौकुमार्य से रसस्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है। व० जी० ३.११ (वृत्ति)

इसका अभिप्राय यह है कि कुन्तक रसनिर्भरता को काव्यवस्तु का प्रमुख अंग मानते हैं—उन्होंने रस-प्रधान वस्तु के अन्तर्गत ही रसों का वर्णन किया है। काव्यवस्तु के चेतन और जड़ नाम से दो भेद करते हुए उन्होंने प्रथम भेद अर्थात् चेतन को ही मुख्य माना है और उसके लिए रसादि का परिपोष आवश्यक ठहराया है :

मुख्य चेतन [देवादि] की अक्लिष्ट अर्थात् बिना खींचतान के, रत्यादि के परिपोष से मनोहर और अपने जाति-योग्य स्वभाव-वर्णन से परम मनोहर [वस्तु महाकवियों की वर्णना का प्रमुख विषय होती है] (व० जी० ३.७) **और रत्यादि स्थायी भाव का परिपोष ही रस बन जाता है।** (उपर्युक्त कारिका का वृत्ति-भाग)।

यहीं कुन्तक ने विप्रलम्भ और करुण रस के अनेक उदाहरण देकर अन्य रसों की ओर संकेत कर दिया है : **कोमल रस होने से विप्रलम्भ और करुण रस के उदाहरणों को प्रदर्शित कर दिया है—अन्य रसों के उदाहरण भी स्वयं समझ लेने चाहिए।**

जड़ का वर्णन भी काव्य का अंग है—परन्तु जड़ अर्थात् प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का यह वर्णन प्रायः अपनी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण ही काव्य होता है :

अमुख्य चेतन (सिंहादि तिर्यक् योनि के प्राणियों) और बहुत-से जड़ पदार्थों का भी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण मनोहर रूप भी कवियों की वर्णना का विषय होता है।

व० जी० ३.८

इस प्रकार काव्य-वस्तु के दोनों रूपों में रस का प्राधान्य है; वास्तव में अपनी रस-बन्धुरता के कारण ही वस्तु काव्य के लिए स्पृहणीय होती है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के मार्गों के विवेचन में भी रस को इसी प्रकार उचित महत्त्व दिया गया है। सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के चमत्कार का उल्लेख किया है। सुकुमार मार्ग अपने सहज रूप में **रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दर**[१] अर्थात् रसादि के परम तत्त्व को जानने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर होता है और विचित्र मार्ग कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित होने के साथ-साथ[२] सरसाकूत—कुन्तक की अपनी वृत्ति के अनुसार **रसनिर्भराभिप्राय** (रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त) भी होता है। उधर, तीसरा—मध्यम मार्ग भी, इन दोनों का मिश्र रूप होने के कारण, स्वतः ही रस-पुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार तीनों मार्गों में रस का संचरण अनिवार्य है।

सारांश यह है कि काव्य-भेद, काव्य-वस्तु और काव्य-मार्ग—इन तीनों में ही कुन्तक ने रस की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है।

रसवद् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता

अन्त में रसवद् अलंकार का निषेध और रस की अलंकार्यता की सिद्धि के द्वारा यह और भी स्पष्ट होता जाता है कि कुन्तक के मन में रस के प्रति कितना अधिक आग्रह है। वास्तव में, रस का तिरस्कार तो कुन्तक के पूर्ववर्ती अलंकारवादियों ने भी नहीं किया, किन्तु उन्होंने रस को अलंकार ही माना है। रस-ध्वनिवादियों की दृष्टि में यह रस का तिरस्कार ही है क्योंकि इस प्रकार आत्मभूत रस आभूषण मात्र रह जाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने रसवद् अलंकार का निषेध कर रस की अलंकार्यता की प्रतिष्ठा की है। कुन्तक ने रस के विषय में भामह, दण्डी तथा उद्भट की परम्परा का त्याग कर रस-ध्वनिवादियों का ही अनुसरण किया है :

> **अलंकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।**
> **स्वरूपातिरिक्तस्य शब्दार्थासगंतेरपि॥** व० जी० ३.११

—अर्थात् रसवत् अलंकार नहीं है और इसके कारण दो हैं—एक तो अपने स्वरूप के अतिरिक्त इसमें अलंकार्य रूप से किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती और दूसरे अलंकार्य रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग होने से शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती।

इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि रस अलंकार्य है अलंकार नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अलंकार्य मान लेने से भी रस की विशेष महत्त्व-प्रतिष्ठा नहीं होती : रस अधिक से अधिक शरीर बन जाता है, आत्मा फिर भी नहीं बनता। परन्तु यह बात नहीं है—इसी प्रसंग में कुन्तक ने उपर्युक्त सन्देह का निवारण कर दिया है :

रसवतोऽलंकार इति षष्ठीसमासपक्षोऽपि न सुस्पष्टसमन्वयः। यस्य कस्यचित् काव्यत्वं रसवत्त्वमेव॥

---

१ व० जी० १।२६

२ वही, १।४१

—अर्थात् 'रसवान् का अलंकार' इस षष्ठी समास पक्ष का भी स्पष्ट समन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि किसी भी काव्य का रसवत्व ही उसका काव्यत्व है।

व० जी० ३.११ (वृत्ति)

इसी प्रसंग में आगे चलकर फिर कुन्तक ने प्रकारान्तर से रस के प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया है। रसवत् के परम्परागत रूप का खण्डन करने के उपरान्त वे अपने मत से उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन करते हैं :

रस तत्त्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण, जो अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है। १.१४१

उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट है और कुन्तक ने अपनी वृत्ति में कहा भी है कि 'इस प्रकार अर्थात् (रस-तत्त्व के विधान से) यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो जाता है।'

इससे अधिक रस का स्तवन और क्या हो सकता है?

रस और वक्रोक्ति का सम्बन्ध

अब प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर जब अलंकाररूपा वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है और दूसरी ओर रस भी काव्य का परम तत्त्व है, तो इन दोनों का समंजन कैसे किया जाय? अर्थात् वक्रोक्ति और रस का वास्तविक सम्बन्ध क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है। कुन्तक की मूल धारणा का सूत्र पकड़ लेने से इस शंका का समाधान हो जाता है। कुन्तक के मत से काव्य का प्राण तो निश्चय ही वक्रोक्ति है : और वक्रोक्ति का अर्थ, जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, उक्तिचमत्कार मात्र न होकर कविकौशल अथवा काव्य-कला ही है। कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान् है रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी काव्यकला का परम तत्त्व है : काव्य की प्राण-चेतना है वक्रता, और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रस-सम्पदा।

ध्वनि-परवर्ती काल

ध्वनि-परवर्ती काल में ध्वनि का ही प्रामुख्य रहा—मम्मट ने महिमभट्ट आदि के विरोधी तर्कों का अत्यन्त प्रामाणिक रीति से खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वथा दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठा कर दी और वही एक प्रकार से संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। अतः ध्वनि-परवर्ती काल की सर्वप्रमुख काव्यशास्त्रीय प्रवृत्ति १. ध्वनि-वाद या रसध्वनिवाद ही है—इसके पोषकों और अनुयायियों में मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, और पण्डितराज जगन्नाथ आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त २. अलंकारवादी या (कम-से-कम) अलंकार-प्रेमी रुय्यक, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित आदि ने भी विस्तार से विवेचन करते हुए उसकी मान्यता स्वीकार की है। ३. रसवाद का प्रभाव और प्रसार भी कम नहीं हुआ; ऐसे अनेक आचार्य इस युग में हुए जिन्होंने ध्वनि के माध्यम से मुक्त शुद्ध रसवाद का प्रतिपादन किया—उदाहरण के लिए, अग्निपुराण के रचयिता या सम्पादक, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय, शिंगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी

आदि। चौथी प्रवृत्ति है ४. कविशिक्षा—जिसका प्रचार इन दिनों पहले की अपेक्षा बढ़ गया था। इन लेखकों की दृष्टि काव्य के मूलभूत सिद्धान्तों के विचार-विश्लेषण की अपेक्षा काव्य-रचना में सहायक शास्त्रीय सामग्री के संकलन पर अधिक केन्द्रित थी; वस्तुतः किसी एक सार्वभौम सिद्धान्त या सम्प्रदाय के प्रति निष्ठा का यहाँ अभाव है—अमरचन्द्र की काव्य-कल्पलता और देवेश्वर की कविकल्पलता इस वर्ग की सर्वप्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

ध्वनिवादी—इस युग के ध्वनिवादियों का भी दृष्टिकोण रस के प्रति प्रायः वही था जो कि आनन्दवर्धन का थाः—१. इनके मन में भी रस के प्रति अबाध आकर्षण था, रस को ये 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' और रसध्वनि को शब्द-भेद से सर्वोत्तम काव्य मानते थे—किन्तु २. रस का विवेचन इन्होंने स्वतन्त्र काव्यांग के रूप में न कर प्रायः असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के रूप में ही किया है, ३. वस्तुध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि को भी उत्तम काव्य माना है और ४. केवल व्यंग्य की अप्रधानता के आधार पर अत्यन्त रसमय छन्दों को गुणीभूत-व्यंग्य की श्रेणी में रखकर मध्यम काव्य घोषित कर दिया है। इस प्रकार इन सभी ने रस का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उसे ध्वनि के आश्रित माना है और जहाँ व्यंग्य अर्थ और सरस अर्थ में प्रतियोग हुआ है वहाँ व्यंग्यार्थ के ही प्रति पक्षपात व्यक्त किया है—अर्थात् रस को प्रयोजन रूप में अनिवार्यतः काम्य मानते हुए भी आत्मतत्त्व ध्वनि को ही माना है।

मम्मट इस वर्ग के अग्रणी हैं। ग्रंथ के मंगल-श्लोक तथा काव्य-प्रयोजन प्रसंग में उन्होंने रस के प्रति अपना उत्कट अनुराग व्यक्त किया है :

आरम्भ-मंगल—नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ का० प्र० १.१

—कवि की उस कविता-सरस्वती की जय हो जिसकी रूपरेखा नियति के नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त, एकमात्र आनन्दमय, अपने अतिरिक्त अन्य समस्त कार्य-कलाप की अधीनता से परे, वस्तुतः अलौकिक रस से भरी और नितांत मनोहर हुआ करती है।[1]

काव्य-प्रयोजन—'सद्यःपरनिर्वृति' की व्याख्या करते हुए मम्मट ने लिखा है :
सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

—अर्थात् (और, इन सबसे अधिक) काव्य से आनन्द की प्राप्ति होती है जो सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है, जो विना किसी व्यवधान या विलम्ब के रसास्वादन से उद्भूत हो जाता है, और जिसकी चर्वणा के समय अन्य सभी प्रकार का ज्ञान विगलित हो जाता है।[2]

मम्मट ने रसादि को स्पष्ट रूप में अलंकार्य माना है।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः॥ का० प्र० ४.२६

---

[1] हिन्दी काव्यप्रकाश, पृ० २

[2] हिन्दी काव्यप्रकाश १.२ वृत्तिभाग

—रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति आदि [काव्य में] अलंकार्य रूप से स्थित होने के कारण रसवदादि अलंकारों से भिन्न हैं।

इसी प्रकार शब्दार्थ के प्रत्येक अवयव में 'काव्यता' का आधार उन्होंने रस-व्यंजन-क्षमता को ही माना है—केवल व्यंजन-क्षमता पर्याप्त नहीं है : **पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः।** रसादि (प्रबन्ध के अतिरिक्त) सुबन्त और तिङन्त पदों के एक देश अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय और उपसर्ग से, रचना (रीति, वृत्ति) से और वर्णों से भी अभिव्यंग्य हैं। काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में मम्मट ने आनन्दवर्धन के आधार पर प्रकृति, प्रत्यय आदि से लेकर प्रबन्ध तक शब्द-अर्थ के सभी रूपों की रसव्यंजकता की विस्तार से मार्मिक व्याख्या की है। काव्यप्रकाश का यह उल्लास वास्तव में रस-प्रसंग की प्रामाणिक व्याख्या के लिए विद्वानों में सदा से समादृत रहा है—इसमें मम्मट ने अत्यन्त सूक्ष्म-गम्भीर रीति से रस के मर्म को प्रकाशित किया है।

गुण, अलंकार और दोष के प्रसंगों में रस का महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है।

गुण—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का० प्र० ८.६६

—जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि, इसी प्रकार रस रूप अंगी का उत्कर्ष करने वाले तथा अचलस्थिति अर्थात् नित्य धर्म गुण कहलाते हैं।

यहाँ रस को स्पष्ट शब्दों में अंगी माना गया है।

अलंकार—उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ का० प्र० ८.६७

—उस अंगीभूत विद्यमान रस का जो शब्दार्थ रूप अंग के द्वारा उपकार करते हैं वे अनुप्रास, उपमा आदि हार आदि के समान अलंकार नाम से अभिहित होते हैं।

इस उद्धरण में भी रस के अंगित्व का स्पष्ट कथन है। इसी प्रकार दोष के वर्णन में भी रस का महत्त्व स्पष्ट है :

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः । का० प्र० ७.१

—दोष से अभिप्राय है मुख्य अर्थ का अपकर्षक—और मुख्य अर्थ है रस।

अर्थ और शब्द उसके उपायभूत हैं। अतः दोष का अर्थ है मुख्यतः रसापकर्षक तत्त्व, और रस के आश्रय से अर्थ एवं शब्द के अपकर्षक तत्त्व भी दोष बन जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त प्रसंग मम्मट के रसानुराग के द्योतक हैं—किन्तु फिर भी मम्मट के सिद्धांत-चक्र में रस का स्थान ध्वनि के बाद ही आता है : 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' होने पर भी रस ध्वनि का आश्रित है और उसी मात्रा में ध्वनि से गौण भी है। प्रमाण स्पष्ट है :

(क) रस का वर्णन इन्होंने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही किया है :

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः । का० प्र० ४.२६

—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि अर्थात् भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता अक्रम (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य) ध्वनि के अन्तर्गत आते हैं।[1]

---

[1] **आदिग्रहणाद् भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि**।—हि० का० प्रा० (चौ० वि० भ० पृ० ६४

(ख) रस की गौण स्थिति भी इन्हें स्वीकार्य है—इनके मत में जहाँ रस मुख्य है वहाँ वह अलंकार्य है और जहाँ गुणीभूत अथवा अन्य अर्थ का अंग है वहाँ वह अलंकार भी होता है :

अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलंकारा। हि० का० प्र०, पृष्ठ ६५

—अन्यत्र जहाँ रसादि प्रधान वाक्यार्थ के अंगभूत रहते हैं, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है और रसादि रसवदादि अलंकार रूप होते है।

रसवादी को यह स्थिति मान्य नहीं; रस कभी गौण नहीं हो सकता : मुख्य वाक्यार्थ चाहे भिन्न भी हो किन्तु कवित्व रस के ही आश्रित रहेगा—यहाँ कवित्व की दृष्टि से तथाकथित अभिप्रेत अर्थ ही गौण हो जाएगा। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि किसी छन्द में रसमय अर्थ मुख्य न होकर कोई अन्य अर्थ मुख्य है, वहाँ कवित्व की दृष्टि से रसमय अर्थ ही मुख्य हो जाएगा और अभिप्रेत अर्थ गौण—अर्थात् रस कभी गुणीभूत या अंगभूत या अलंकार नहीं हो सकता।

(ग) व्यंग्यार्थ को प्राथमिकता देने के कारण गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरणों में भी कहीं-कहीं रस की स्थिति अनावश्यक रूप से गौण हो गयी है। निम्नलिखित विवेचन इसका प्रमाण है :

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥ का० प्र० १.५

अत्र वंजुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यंग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्॥

—वह काव्य मध्यम काव्य है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेप चमत्कारक नहीं होता और इसलिए जिसे 'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य कहा गया है। यहाँ व्यंग्यार्थ के वैसा न होने का अभिप्राय है उसका वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारजनक न होना। जैसे कि यहाँ 'हाथ में नयी-नयी वंजुल-मंजरी को धारण करने वाले ग्राम के उस तरुण को देखती हुई इस तरुणी की वदन-कान्ति रह-रह कर म्लान होती जा रही है।' यहाँ पर,—'वंजुल निकुंज में मिलने का अपने आप संकेत देकर भी वह वहाँ नही गयी'—यह व्यंग्यार्थ है अवश्य, किन्तु गौण रूप से है; क्योंकि इसकी अपेक्षा वाच्यार्थ—अर्थात् 'मुखच्छाया' का रह-रहकर म्लान होना अधिक सुन्दर प्रतीत हो रहा है।

यह विवेचन वास्तव में ध्वनि-सिद्धान्त की दुर्बलता का द्योतक है। उपर्युक्त छन्द निश्चय ही सरस और रमणीय है। तरुणी के हृदय का कोमल अनुताप रमणीय 'अनुभाव'—अर्थात् रह-रहकर म्लान होती हुई वदन-कान्ति के द्वारा—सहज-सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हो रहा है; लेकिन ध्वनिवादी मम्मट इस सुन्दर अनुभाव-चित्र को इसलिए मध्यम काव्य की

कोटि में रख देते हैं कि यहाँ व्यंग्यार्थ—अर्थात् 'वंजुल-निकुंज में मिलने का अपने आप संकेत देकर भी यह वहाँ नहीं गयी है'—गौण हो गया है।—ध्वनिकार की मर्म-दृष्टि अपनी इस कमज़ोरी को पहचानती थी; इसीलिए उन्हें कहना पड़ा :

ध्वनिनिष्पन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः।

(ध्वन्यालोक, चौ०; पृ० ४७४)

—इसलिए अतिरमणीय महाकवि-विषयक यह दूसरा ध्वनि-प्रवाह भी सहृदयों को समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में, मम्मट के काव्य-लक्षण के अन्तर्गत रस के अभाव की ओर भी संकेत किया जा सकता है। यह आक्षेप अपने आप में अधिक मान्य नहीं है क्योंकि रस को सहृदयगत मानने के कारण शब्दार्थ में उसकी स्थिति मम्मट को मान्य नहीं है और इसलिए उन्होंने सर्वथा व्यंग्य तथा सहृदयनिष्ठ रस को अपने काव्य-लक्षण में भी व्यंग्य ही रखा है—वाच्य रूप में प्रस्तुत नहीं किया। एक अन्य तर्क यह भी है कि रस का अन्तर्भाव गुण में ही हो गया है। फिर भी, यह लक्षण इस तथ्य की ओर इंगित अवश्य करता है कि मम्मट को कदाचित् रस के प्रति उतना अधीर आग्रह नहीं था जितना विश्वनाथ आदि को। और, जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है, मम्मट का यह लक्षण रस-विरोधी वामन के लक्षण का भाष्य-मात्र है, इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।[1] इस प्रकार यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही है कि रस के रसिक होते हुए भी मम्मट की पूर्ण निष्ठा ध्वनिवाद के प्रति ही है।

हेमचन्द्र और **विद्याधर** दोनों पर एक प्रकार से मम्मट का आतंक है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में रस के प्रति प्रायः वही दृष्टिकोण व्यक्त किया है जो मम्मट का था। एक ओर जहाँ :

(क) मम्मट का अनुवाद करते हुए उन्होंने रसास्वादजन्य आनन्द को सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूत कहा है :

सद्योरसास्वादजन्या निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः। इदं सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूतं कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनम्। (काव्यानुशासन, अ० १, सू० ३)

(ख) गुण-दोष को रस के उत्कर्ष और अपकर्ष-हेतु कहा है :

रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ। (काव्यानुशासन, अ० १, सू० १२)

(ग) अलंकार को रसोपकारी माना है :

रसस्याङ्गिनो यदङ्गं शब्दार्थौ तदाश्रिता अलंकाराः। १.१३ (वृत्ति)

अर्थात् रस अंगी का अंग है शब्द-अर्थ और शब्द-अर्थ के आश्रित हैं अलंकार।

इन अलंकारों का अधिक प्रयोग उचित नहीं है—जहाँ प्रयोग हो वहाँ भी अंग रूप में और रस के उपकारी रूप में ही होना चाहिए :

निर्वहेऽप्यङ्गत्वे रसोपकारिणः। काव्यानुशासन, १.१४

---

[1] देखिए—भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका (भाग २), पृ० ५

और, (घ) रस-प्रसंग का अत्यन्त मनोयोग से वर्णन किया है—काव्यानुशासन, अ० २।

—वहाँ, दूसरी ओर :

(क) रस का वर्णन व्यंग्य के प्रकार-रूप में ही किया है :

रसभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभावस्थितिभावसन्धिभावशबलत्वान्यर्थशक्तिमूलानि व्यङ्ग्यानि (अ० १, सू० २५)

—अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य के प्रकार हैं।

और (ख) मम्मट से प्रायः अनूदित अपने काव्यलक्षण में रस को स्थान नहीं दिया—

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। (का० अनु०, अ० १, सू० ११)

विद्याधर की एकावली 'वस्तुतः काव्यप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण है,' उसमें भी ध्वनि के माध्यम से ही रस को ग्रहण किया गया है।

इस वर्ग के अन्तिम किन्तु अत्यन्त समर्थ आचार्य हैं **पंडितराज जगन्नाथ** (ईसा की सत्रहवीं शती)। कालक्रमानुसार वास्तव में वे संस्कृत काव्यशास्त्र के ही अन्तिम आचार्य हैं। पंडितराज की सरसता और रसिकता विख्यात है : काव्य-रस की आनन्दमयता के प्रमाण में उन्होंने श्रुति का उद्धरण देकर रस को आत्मानन्द के समतुल्य घोषित किया है :

अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः।' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतिः।

रसगंगाधर (चौ० सं० सी०) प्रथम आनन, पृष्ठ ६१

—वह आत्मा रस-स्वरूप है, रस को पाकर ही वह आनन्द रूप होता है।

इसी प्रकार उन्होंने ध्वनि के पाँच भेदों में रस-ध्वनि को सबसे अधिक रमणीय मानते हुए रस को इस रसध्वनि की आत्मा माना है :

एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते। वही, पृष्ठ ७९

इन उद्धरणों के अतिरिक्त जिस मनोनिवेश के साथ उन्होंने रस-तत्त्व और उसके अंग-उपांगों का लगभग एक पूरे आनन में सूक्ष्मगहन विवेचन किया है वह भी इस बात का द्योतक है कि रस के प्रति उनके मन में अबाध आकर्षण था। रस-प्रसंग से सम्बद्ध उनकी अनेक स्थापनाएँ आज रसवादियों की स्थापनाओं की अपेक्षा अधिक मान्य हैं—जिनका विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

इतना होने पर भी काव्यात्मा के विषय में पंडितराज का मत ध्वनि के पक्ष में ही जाता है। इस दृष्टि से वे प्रकृति से अधिक रसिक होते हुए भी मम्मट से दो पग आगे बढ़ जाते हैं :

(क) मम्मट की भाँति उन्होंने भी ध्वनि में ही रस का अन्तर्भाव कर उसका विवेचन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत ही किया है।

(ख) मम्मटादि ने जहाँ अलंकार को रस का उपकारी माना है, वहाँ पण्डितराज उन्हें व्यंग्य के ही 'रमणीयता-प्रयोजक' मानते हैं :

अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।

वही, द्वितीय आनन, पृष्ठ १९४

—अब जिसका लक्षण पहले किया जा चुका है, उस काव्यात्म-रूप व्यंग्य के शोभा-सम्पादक अलंकारों का निरूपण करते हैं।

(ग) काव्यलक्षण में रस का उल्लेख न करने पर भी और वस्तुध्वनि आदि को भी उत्तम काव्य मानते हुए मम्मट ने रस की अनिवार्यता का स्पष्ट शब्दों में निषेध नहीं किया; किन्तु पंडितराज ने उच्च स्वर से यह घोषणा की है कि :

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जल-प्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि कथंचित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावाऽनुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।

वही, प्रथम आनन, पृ० २३-२४।

—अर्थात् साहित्यदर्पण में जो यह कहा गया है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है—वह उचित नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में वे सभी काव्य जिनमें वस्तु-वर्णन और अलंकार-वर्णन प्रधान है—काव्य नहीं रह जाएँगे। वे सब काव्य नहीं हैं ऐसी इष्टापत्ति भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तब तो महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्यावहारिक परम्परा ही विच्छिन्न हो जाएगी। इन कवियों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छलन एवं आवर्त्त और बालकों व वानरों की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। यदि आप यह कहें कि उनमें भी प्रसंग-परम्परा से रस का स्पर्श है ही, तो वह भी संगत नहीं है क्योंकि फिर तो 'बैल चलता है' 'मृग दौड़ता है' ये सब चमत्कारहीन वाक्य भी काव्य क्यों नहीं कहलाते? कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी हो सकती हैं—फिर तो सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जाएँ।

(घ) वस्तुतः जगन्नाथ चमत्कारी व्यंग्य अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। र० गं० पृष्ठ २१

उनका यह व्यंग्य अर्थ सर्वत्र रस नहीं है। इसीलिए एक ओर तो वे वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि को भी उत्तमोत्तम काव्यरूप में स्वीकार कर लेते हैं और दूसरी ओर अर्थ-चित्र को मध्यम काव्य की कोटि में परिगणित करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि पंडितराज का रमणीय अर्थ रस की अपेक्षा अत्यधिक व्यापक है और उसकी परिधि में प्रायः सभी प्रकार का काव्य-चमत्कार आ जाता है।

इस युग में अलंकारवादी अथवा अलंकार-प्रेमी आचार्य **रुय्यक** (मध्य १२वीं शती ई०), **जयदेव** (मध्य १३वीं शती ई०) और **अप्पय्यदीक्षित** (१६वीं शती ई०) का भी झुकाव रस की अपेक्षा ध्वनि के प्रति ही अधिक है। **रुय्यक** ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व में—और उससे भी अधिक व्यक्तिविवेक की टीका में ध्वनि के प्रति पक्षपात व्यक्त किया है। यद्यपि महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक की रचना व्यंजना या ध्वनि का खण्डन करने के लिए की है, किन्तु टीकाकार रुय्यक स्थान-स्थान पर महिमभट्ट का खण्डन करते हुए ध्वनि के

प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। स्वभावतः रस के प्रति इनका दृष्टिकोण वही है जो ध्वनिवादी का होना चाहिए—अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अन्तर्गत ही ये उसको ग्रहण करते हैं और उसके अतिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को भी निर्विवाद रूप से उत्तम काव्य की श्रेणी में रखते हैं। जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में और अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में रस और ध्वनि के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में यही मत व्यक्त किया है। कुछ आलोचकों ने जयदेव को ध्वनिवादी माना है। इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रालोक में रस का वर्णन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रूप में ही हुआ है, पूरे दो मयूखों में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का वर्णन किया गया है और अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना में व्यंजना को ही अधिक मार्मिक माना गया है :

कटाक्ष इव लोलाक्ष्या व्यापारो व्यञ्जनात्मकः। च० आ० ७.२

—व्यंजना-व्यापार चंचलाक्षी रमणी के [साभिलाष] कटाक्ष के समान होता है।

किन्तु फिर भी, निम्नलिखित उक्ति उनके काव्य-सम्प्रदाय के विषय में सन्देह के लिए अवकाश नहीं रहने देती—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ च० आ० १.८

—जो अलंकारहीन शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वे कृती विचारक अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मानते ?

ध्वनि का अंगभूत मानने पर भी रस के विषय में जयदेव अनुदार नहीं हैं। काव्य-लक्षण में उन्होंने रस का स्पष्ट उल्लेख किया ही है :

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥ च० आ० १.७

—और षष्ठ मयूख में उसका सांगोपांग वर्णन भी है। किन्तु समग्र रूप में, रस की स्थिति गौणप्राय ही है :

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा।
काव्यस्य काञ्चनस्येव कुंकुमं कान्तिसम्पदे॥ च० आ० ६.२०

—भावशान्ति आदि से काव्य की उसी प्रकार शोभा बढ़ जाती है जिस प्रकार कुंकुम से सुवर्ण की।

अप्पय्यदीक्षित का दृष्टिकोण भी लगभग यही है—चित्रमीमांसा में उन्होंने व्यंग्य काव्य को उत्तम[1] माना है और रस का[2] अन्तर्भाव व्यंग्य में ही किया है। समग्रतः अप्पय्यदीक्षित का मुख्य प्रतिपाद्य अलंकार ही रहा है—ध्वनि का उन्होंने परम्परावश उल्लेखमात्र किया है और रस तो प्रायः उपेक्षित ही है।

रसवादी—आलोच्य कालखण्ड में रसवाद का प्रतिपादक पहला ग्रन्थ है अग्निपुराण

---

[1] चित्रमीमांसा (निर्णयसागर प्रेस); प्रस्तावना-भाग
[2] वही, पृ० ३२

(११वीं शती ई० का आरम्भ) जिसके, ३३७ से ३४७ तक, ११ अध्यायों में काव्यशास्त्र का रोचक वर्णन किया गया है। अग्निपुराण शास्त्र में शब्द की प्रधानता, इतिहास (पुराणादि) में आस्था की तथा काव्य में अभिधा की प्रधानता मानता है, और कदाचित् इसी कारण उसमें ध्वनि का उल्लेख नहीं है। इस लेखक पर ध्वनि-पूर्व अलंकारवादी आचार्यो—भामह और दण्डी का निश्चय ही गहरा प्रभाव है और परिणामतः अलंकार के प्रति इसके मन में गहरा आकर्षण है :

काव्य को यह गुणवत् और दोष-वर्जित मानने के अतिरिक्त 'स्फुरदलंकार' मानता है, अर्थात् उसमें अलंकारों की स्पष्ट स्थिति पर बल देता है :

(क) काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।[1] अ० पु०, ३३७.७

—यहाँ अलंकार का उल्लेख प्राथमिक रूप में है और 'स्फुरत्' शब्द उसके महत्त्व को और भी रेखांकित कर रहा है। आश्चर्य की बात है कि काव्यलक्षण में रस का नाम नहीं है।

(ख) अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।[2] अ० पु० ३४४.२

—अर्थालंकार के बिना कविता विधवा के समान है।

परन्तु यह सब होते हुए भी अग्निपुराण में रस का माहात्म्य असंदिग्ध है :

१—रस परब्रह्म की अभिव्यक्ति का ही नाम है; वह चैतन्य-चमत्कार रूप है :

आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ।[3] अ० पु० ३३९.२

—उस परब्रह्म का आनन्द स्वाभाविक है जिसको वह कभी-कभी अभिव्यक्त करता है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्यचमत्कार अथवा रस है।

२—**लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ।**[4] अ० पु० ३३९.९

—जिस प्रकार लक्ष्मी बिना दान के, इसी प्रकार रस के बिना कविता शोभित नहीं होती।

रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यतिमानतः ।
तमन्तरेण सर्वेषामपार्थैव स्वतन्त्रता ।[5] अ० पु० ३४२.३

—अब विस्तारपूर्वक रस आदि का प्रकरण निर्दिष्ट किया जाता है। इसके बिना सब [कवियों एवं सहृदयों] की स्थिति ही व्यर्थ है।

३—**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।**
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यं वाग्विक्रमणि रसाद्वपुः ।।[6] अ० पु० ३३७.३३

---

१ देखिए : अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० २६
२ वही, पृ० ७०
३ वही, पृ० ३७
४ वही, पृ० ३६
५ वही, पृ० ५५
६ वही, पृ० ३०

—वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी महाकाव्य की आत्मा तो रस ही है, अतः कवि को चाहिए कि व्यर्थ के वाग्विक्रम को छोड़कर इसका कलेवर रसयुक्त बनाए।

उपर्युक्त उद्धरण में लेखक के मन की ग्रंथि मानो तन कर खुल जाती है—उसके मन में निश्चय ही अलंकार (वाग्वैदग्ध्य) के प्रति अत्यन्त मोह है और काव्य में, महाकाव्य तो उपलक्षण मात्र है, वह उसे प्रधान मानता है; किन्तु आत्मा रस ही है—अर्थात् सापेक्षिक दृष्टि से रस की ही महत्ता असंदिग्ध है।

व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने से अग्निपुराण का दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र के अनुसार पुराण में अर्थ अर्थात् वस्तु का ही प्राधान्य रहता है और वस्तु की रोचकता या कथा-रस ही उसके प्रभाव का मुख्य माध्यम होता है। अग्निपुराण के रचना-काल तक पुराण के क्षेत्र में काव्य-तत्त्व का भी पर्याप्त समावेश हो गया था और उधर काव्य-शास्त्र का भी यथेष्ट विकास हो चुका था—रस और अलंकार के अतिरिक्त ध्वनि, रीति, (वक्रोक्ति ?) आदि प्रायः सभी सम्प्रदाय प्रकाश में आ चुके थे। स्वभावतः अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का लेखक इनसे पूर्णतः परिचित था—उधर पुराणकार होने के कारण उसका अपना दृष्टिकोण भी रहा होगा। अतः एक ओर तो वह अनेक सम्प्रदायों का समन्वय-सा करने का प्रयत्न करता है, दूसरी ओर अपने विशिष्ट दृष्टिकोण एवं कार्यक्षेत्र के कारण ध्वनि को छोड़ देता है, और अन्ततः वस्तु की रोचकता अथवा कथा-रस पर मूलतः निर्भर रहने के कारण रस को ही प्राथमिकता देता है।

रसवाद का दूसरा प्रमुख ग्रंथ है **रामचन्द्र-गुणचन्द्र**-कृत नाट्यदर्पण (बारहवीं शती ई० उत्तरार्ध)। ग्रंथ का विवेच्य विषय नाटक होने के कारण स्वभावतः ही उसमें रस का प्राधान्य है और इसके कर्ता भरत, धनंजय आदि की रस-परम्परा के ही पोषक हैं :

कवि के लिए अलंकार-रचना की अपेक्षा रस-परिपाक कहीं अधिक कठिन है—कथा आदि का मार्ग अलंकारों से कोमल हो जाने के कारण सुखपूर्वक संचरण करने योग्य है, किन्तु रसों की कल्लोलों से परिपूर्ण होने से नाट्य का मार्ग अत्यन्त कठिन है। यहाँ कठिन पद वस्तुतः 'काम्य' का ही व्यंजक है :

अलंकारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुसञ्चरः।
दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसंकुलः॥ ना० द० १.३

—नाटक का आकर्षण तो पूर्णतः रस पर आश्रित है ही—काव्य की सार्थकता भी यही है कि उसके द्वारा जनसाधारण को भी रसामृत सुलभ हो जाता है :

स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती। ना० द० १.५

—रसामृत की सिद्धि ही कवीन्द्र पद का आधार है—जो नानार्थक शब्दों के प्रलोभन में पड़कर रसामृत से पराङ्मुख हो जाते हैं, वे विद्वान् उत्तम कवि की ख्याति नहीं प्राप्त कर सकते :

नानार्थशब्दलौल्येन पराञ्चो ये रसामृतात्।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम्॥ ना० द० १.६

—नाट्यदर्पण के लगभग दो विवेकों में अर्थात् तीन-चौथाई ग्रंथ में रस और उसके नानारूपों तथा आलम्बन आदि का वर्णन किया गया है जो व्यवहार में भी उपर्युक्त रसाग्रह की पुष्टि करता है।

शारदातनय (१३वीं सदी ईस्वी का मध्य) के भावप्रकाशन में रस के प्रति आग्रह और भी प्रबल हो गया है। नाट्यदर्पण का मुख्य विषय जहाँ नाट्य-विवेचन है और रस का महत्त्व उसमें नाट्य-प्रसंग से ही प्रतिपादित किया गया है, वहाँ भावप्रकाशन का मुख्य प्रतिपाद्य रस और रस के आधारभूत भावादि ही हैं—इस प्रकार भाव-प्रकाशन संस्कृत काव्यशास्त्र के उन विरल ग्रंथों में से है जिन्हें शुद्ध रसशास्त्र का ग्रंथ कहा जा सकता है—नाट्य और नाट्यांगों का विवेचन इसमें रस के आधार रूप में ही है। यहाँ रस-सिद्धान्त से सम्बद्ध अत्यन्त प्रचुर और साथ ही महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्र है—नाट्यशास्त्र और शृंगारप्रकाश के अतिरिक्त और कहीं इतनी सूचना प्राप्त नहीं होती। शारदातनय ने अत्यन्त व्यवस्थित रूप से रस के आविर्भाव तथा रस के स्वरूप आदि के विषय में भरत के पूर्ववर्ती आचार्यो की अनेक मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—इन आचार्यो में भरतवृद्ध, वासुकि, पद्मभू और नारद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है; नाटक के प्रसंग में कोहल आदि के प्रचुर उद्धरण हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह सामग्री नवीन और रोचक है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता पर प्रश्नवाचक चिह्न अभी लगा हुआ है—भावप्रकाशन का प्रचार होने के बाद भी संस्कृत के विद्वान् अभी उसके ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकार नहीं कर सके हैं। इनके अतिरिक्त कई मौलिक प्रसंग ऐसे भी हैं जिनका विवेचन भावप्रकाशन में प्रामाणिक रीति से हुआ है—जैसे काव्य और रस का सम्बन्ध, भाव और रस का सम्बन्ध, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, रूपक के नाना भेदों में रस का स्थान, आदि। सब मिलाकर यहाँ रस-सम्बन्धी अनेकविध प्रश्नों का विस्तृत, सूक्ष्म और सविवरण विवेचन उपलब्ध है और इस दृष्टि से रसशास्त्र के ग्रंथों में इसका स्थान अन्यतम है।

शारदातनय निश्चय ही रसवादी आचार्य हैं—प्रबल रसवादी। उन्हें काश्मीरी शैव-सिद्धान्त—प्रत्यभिज्ञादर्शन में आस्था है और उसी के प्रकाश में उन्होंने रस के भोग की व्याख्या की है। उनका काव्य-दर्शन अभिनव की अपेक्षा भट्टनायक से अधिक प्रभावित है जिनके अनुसार सहृदय रस का भोग करता है :

रसालम्बनभावानामुक्ताः साधारणा गुणाः।
सुखेप्सवस्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम्॥ भा० प्र० ४.१

भावप्रकाशन में स्थान-स्थान पर काव्य के समस्त भेदों में रसनिर्भरता पर बल दिया गया है; वृत्तियों के अतिरिक्त काव्य के अन्य तत्त्वों की यहाँ एकान्त उपेक्षा है। हाँ, ध्वनि का वर्णन अवश्य है और उसे परम्परा के अनुसार उत्तम काव्य भी माना गया है; किन्तु यह वर्णन संक्षिप्त है और साथ ही ध्वनि को तात्पर्य शक्ति के अंतर्गत मानकर उसका तेज क्षीण कर दिया गया है।[१] रसवादी होने पर भी शारदातनय अपने पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त और परवर्ती विश्वनाथ की तरह ही रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य मानते हैं।[२]—किन्तु उसका वर्णन

---

१ भावप्रकाशन—गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, पृ० १५०

२ वही, पृ० १७३, पंक्ति ८-९

ध्वनि के अंतर्गत नहीं करते, ध्वनि से पूर्व और प्रधान विषय के रूप में करते हैं : यहीं ध्वनि और रस के परस्पर तारतम्य के विषय में ध्वनिवादी और रसवादी दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट हो जाता है ।

समग्रतः रस के विषय में शारदातनय का दृष्टिकोण सर्वथा निर्भ्रान्ति है—उन्होंने नाटक को काव्य का प्रतीक माना है, और उसे सर्वरसाश्रय तथा प्रेक्षक, नट एवं कवि तीनों के के लिए मुक्ति-भुक्ति-प्रद माना है :

इत्यमुक्तक्रमोपेतं नाट्यं सर्वरसाश्रयम् ।
प्रेक्षकस्य प्रयोक्तुश्च कवेः स्याद् मुक्तिभुक्तिदम् ॥ भा० प्र० पृष्ठ ३१३, पंक्ति ४-५

रामचन्द्र-गुणचन्द्र और शारदातनय ने तो नाट्य के प्रसंग में ही रसवाद का पोषण किया था, किन्तु विश्वनाथ कविराज (चौदहवीं शती ई०) ने काव्य और नाट्य दोनों का विवेचन करते हुए समस्त ललित वाङ्मय के क्षेत्र में रस का महत्त्व-प्रतिपादन किया । उनके मत से काव्य के लक्षण में केवल रस का उल्लेख यथेष्ट है : **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** । अन्य काव्य-तत्त्व रस के आश्रित होने के कारण उसमें स्वतः ही अंतर्भूत रहते हैं । गुण, रीति और अलंकार रस का उत्कर्ष करते हुए ही काव्य का उत्कर्ष करते हैं :

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ॥ सा० द० १. ३

गुणाः शौर्यादिवत् अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यास्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते ।

—गुण, अलंकार और रीतियाँ काव्य की उत्कृष्टता का कारण होते हैं । जैसे शौर्यादि गुण, कटक-कुण्डलादि अलंकार और अंगरचनादिक मनुष्य के शरीर का उत्कर्ष सूचन करते हुए उसके आत्मा का उत्कर्ष सूचित करते हैं इसी प्रकार काव्य में भी माधुर्यादि गुण उपमादिक अलंकार और वैदर्भी आदिक रीतियाँ शरीरस्थानीय शब्द और अर्थ का सूचन करते हुए आत्मस्थानीय रस का उत्कर्ष सूचित करते हैं; और जैसे शौर्यादिक मनुष्य के उत्कर्षक कहे जाते हैं इसी प्रकार माधुर्यादिक काव्य के उत्कर्षक माने जाते हैं ।[1]

इसी प्रकार दोष भी रस के ही अपकर्षक होने के कारण काव्य के अपकर्षक माने गये हैं :

दोषास्तस्यापकर्षकाः × × × । सा० द० १.३

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते ।

—काव्य के अपकर्षकों को दोष कहते हैं—जैसे काणत्व, खंजत्वादिक दोष, शरीर को दूषित करते हुए, उसके द्वारा उसमें रहने वाले आत्मा की हीनता सूचित करते हैं, इसी प्रकार काव्य के शरीरभूत शब्द में श्रुतिदुष्टत्वादि और अर्थ में अपुष्टार्थत्वादिक

---

[1] साहित्यदर्पण—विमला टीका, १९५६ ई०, पृ० २२

दोष भी पहले शब्द तथा अर्थ को दूषित करके उसके द्वारा काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष-हीनता सूचित करते हैं। (सा० द० विमला टीका, पृ० २१)

अतः विश्वनाथ के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है—वही एकमात्र प्रधान तत्त्व है। कदाचित् राजशेखर से संकेत ग्रहण कर उन्होंने काव्य-पुरुष के रूपक द्वारा काव्य-तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध एवं सापेक्षिक स्थिति सर्वथा स्पष्ट कर दी है :

काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।

—शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अंगरचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक, कुण्डलादि के तुल्य होते हैं।
वही, पृ० १६

इस रूपक में, ध्वनि का कोई उल्लेख नहीं है—यद्यपि वक्रोक्ति तक को कविराज ने स्वीकार किया है : **वक्रोक्तेरलंकाररूपत्वात्**—वक्रोक्ति अलंकार रूप ही है, अतः वह काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। वही, पृ० १६

फिर भी, साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि का विस्तार से विवेचन किया गया है—ध्वनिवादियों की भाँति ही विश्वनाथ ने ध्वनिकाव्य को उत्तम माना है :

वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्। वही, ४.१

अर्थात् वाच्य से अधिक चमत्कारक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं तथा ध्वनिकाव्य उत्तम काव्य होता है; और, रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अंतर्गत माना है : **तत्राद्यो रसभावादिः।** (वही, ४. ५.) इनमें से रसभावादि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अंतर्गत आते हैं। इन वक्तव्यों से यह शंका होने लगती है कि रस और ध्वनि के तारतम्य के विषय में विश्वनाथ का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है और पं० बलदेव उपाध्याय आदि ने उन्हें रसवादी न मानकर ध्वनिवादी मान ही लिया है। परन्तु वस्तुस्थिति स्पष्ट है; विश्वनाथ रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं— फिर भी चूँकि रस अनिवार्यतः अभिव्यक्त होता है अर्थात् वाच्य न होकर सदा व्यंग्य ही होता है, अतः ध्वनि का भी काव्य में अनिवार्य महत्त्व है। अर्थात् रस से अभिप्राय रसध्वनि का ही है और रसध्वनि के अर्थ में ध्वनिकाव्य निश्चय ही उत्तम काव्य है—रस-ध्वनि के अर्थ में ही, वस्तु-ध्वनि आदि के अर्थ में नहीं :

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति, तत्किं वस्त्वलंकाररसादि-लक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा? नाद्यः, प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः। द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धिय सज्जाए मह णिमज्जहिसि॥

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अत्रापि रसाभास-वत्तयैवेति ब्रूमः। अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यंग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत् न। रसवत एव काव्यत्वांगीकारात्। अर्थात्, काव्यस्यात्मा ध्वनिः।

—काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह जो ध्वनिकार ने कहा है— वहाँ प्रश्न यह है कि क्या वस्तु, अलंकार और रसादिक इन सबकी ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानते हो? या केवल रसादि की ध्वनि को ही? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पहेली आदि में—जहाँ वस्तु ध्वनित होती है—काव्य का लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति नामक लक्षण का दोष होता है। यदि दूसरा पक्ष मानो तो हमें स्वीकार है। रसादि-ध्वनि को हम भी काव्यात्मा मानते हैं।

यदि केवल रसादिध्वनि को काव्यात्मा मानते हो तो निम्न पद्य में काव्य का लक्षण नहीं जाएगा:

श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोक्य ।
मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥

—इस स्थान पर मेरी सास नींद में निमग्न होती है—अर्थात् बेखबर सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। दिन में ही देख लो। हे रात के अंधे (रतौंधवाले) पथिक, कहीं रात में मेरी खाट पर मत आ पड़ना।' यह स्वयंदूती की उक्ति है। इत्यादिक स्थलों में—जहाँ वस्तु मात्र व्यंग्य है—काव्यत्व का व्यवहार कैसे होगा? उत्तर—'अत्रापीति' यहाँ भी रसाभास के कारण हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य में आगन्तुक परपुरुष में स्वयं दूती का अनुराग प्रतीत होता है, अतः शृंगाराभास है। (सा० द० विमला टीका, पृ० १७)

इस प्रकार विश्वनाथ का मत सर्वथा निर्भ्रान्त है—जिस प्रकार रस का अर्थ रस-ध्वनि है, उसी प्रकार काव्यगत ध्वनि का अर्थ भी रसध्वनि ही है। प्राधान्य रस का ही है: वही काव्य की आत्मा है, ध्वनि इस आत्मभूत रस का अनिवार्य माध्यम है। इसीलिए विश्वनाथ को रस के साथ ध्वनि भी सर्वथा ग्राह्य है।—यही उनकी दृष्टि में रस और ध्वनि का तारतम्य है और इस प्रकार वे आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के अधिक निकट हैं।

भानुदत्त (१३-१४वीं शती ई०) के ग्रन्थ रसतरंगिणी और रसमंजरी—दोनों ही, शुद्ध रसशास्त्र के ग्रन्थ हैं। रसतरंगिणी में रस के अवयवों तथा भेद-प्रभेदों का और रसमंजरी में रस के आलम्बन नायिका और नायक के नाना रूपों का विस्तार से वर्णन है। इन दोनों ग्रन्थों का सम्पूर्ण कलेवर रस को ही समर्पित है: रस के अतिरिक्त अन्य काव्य-तत्त्व अलंकार, रीति, गुण और ध्वनि को लेखक ने गौण अथवा रसानुगत मानकर छोड़ दिया है। रसतरंगिणी का मुख्य उद्देश्य है:

भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी ।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ॥ र० त० १.२

—भानु कवि भूरिरसमयी रसतरंगिणी की रचना करते हैं जिसके द्वारा शास्त्र के गहन कान्तार में भ्रमण करने के कारण श्रान्त-क्लान्त भारती को शान्ति और शीतलता प्राप्त होगी।

इसी प्रकार रसमंजरी की रचना का उद्देश्य भी विद्वत्कुल के मनोभृंग को रसपान कराना है :

विद्वत्कुलमनोभृङ्गरसव्यासङ्गहेतवे ।
एषा प्रकाश्यते श्रीमद्भानुना रसमंजरी ॥ र० मं० १.२

स्वभावतः लेखक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य आदि के फेर में न पड़कर **'हेतोः पूर्ववृत्तित्व-नियमादतः'** के अनुसार रस के कारण भाव का विवेचन आरम्भ कर देता है। भानुदत्त के मत से रस ऐहिक और आमुष्मिक दोनों प्रकार के जीवन का सार है। ऐहिक जीवन का आधार है प्रवृत्ति—उसका पूर्ण परिपाक होता है मायारस में जिसका स्थायी भाव है 'मिथ्याज्ञानवासना'। मिथ्याज्ञानवासना का परिपाक रूप यह माया रस ही लौकिक रसों का मूल है। आमुष्मिक जीवन का आधार है भगवान् के प्रति रति जो नानारसमय है :

लक्ष्मीमालोक्य लुभ्यन्निगममुपहसन्शोचयन्यज्ञजन्तून्
क्षत्रं शोणाक्षि पश्यन्समिति दशमुखं वीक्ष्य रोमाञ्चमञ्चन् ।
हृत्वा हैयङ्गवीनं चकितमपसरन्म्लेच्छरक्तैर्दिगन्तान्
सिञ्चन्दन्तेन भूमिं तिलमिव तुलयन्पातु नः पीतवासाः ॥ र० त० १.१

—लक्ष्मी के रूप को देखकर आसक्त होते हुए (श्रृंगार) वेदों का उपहास करते हुए (हास्य) यज्ञ के वलि-जीवों के लिए शोक करते हुए (करुण), क्षत्रियों को रक्त नेत्रों से देखते हुए (रौद्र), रावण को देखकर रोमांचित होते हुए (वीर), नवनीत लेकर [यशोदा के भय से] चकित-भीत भागते हुए (भयानक), म्लेच्छों के रक्त से दिगंत को सींचते हुए (वीभत्स) और पृथ्वी को तिल के समान दाँत पर तौलते हुए (अद्भुत) पीताम्वर कृष्ण हमारी रक्षा करें।

इन उद्धरणों से भानुमिश्र का रसाग्रह सर्वथा स्पष्ट है। संस्कृत के काव्य-रसिकों में उनके दोनों ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं।

१६वीं शती में वंगाल के वैष्णव आचार्यों ने रस-सिद्धान्त के इतिहास में युगान्तर उपस्थित कर दिया। इनमें सवसे अधिक प्रसिद्ध हुए **रूपगोस्वामी** (१६वीं शती ई० का मध्य) उन्होंने काव्यशास्त्र पर तीन ग्रंथ लिखे हैं। १—नाटकचन्द्रिका, २—भक्तिरसामृत-सिन्धु, ३—उज्ज्वलनीलमणि—इनमें से अन्तिम दो ग्रंथ वैष्णव रस-कल्पना के आधार-स्रोत हैं। अव तक भारतीय साहित्यशास्त्र में प्रायः शैवागम, वेदान्त और यत्किंचित् सांख्य के आधार पर ही रस-सिद्धान्त का विकास हुआ था, किन्तु अव इन गौडीय आचार्यो ने वैष्णव माधुर्यभाव के आधार पर रसशास्त्र का मौलिक विकास किया। हरिभक्तिरसामृतसिन्धु के अनुसार भक्तिरस ही परम रस है—श्रृंगारादि नाट्य या काव्य-रस उसके विकार मात्र हैं। भक्तिरस के पाँच भेद हैं : शान्त, दास्य (प्रीत), सख्य (प्रेयस्,) वात्सल्य और मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं, हास्यादि शेष सात नाट्य-रस गौण रस हैं। इस प्रकार वैष्णव रसशास्त्र में मुख्य और गौण १२ रसों की कल्पना की गयी है, किन्तु इन सवका आधार एक ही है भगवद्रति—वही मूल या परम भाव है और उसका भी चरम परिपाक उज्ज्वल या मधुर भाव में होता है। उज्ज्वलनीलमणि में इसी उज्ज्वल रस का विस्तार से विवेचन है। इस

वर्ग के अन्य रसाचार्य हैं जीवगोस्वामी जिन्होंने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पर दुर्गमसंगमिनी तथा उज्ज्वलनीलमणि पर लोचन-रोचनी टीकाएँ लिखकर और षट्संदर्भ आदि स्वतन्त्र ग्रंथों का प्रणयन कर वैष्णव रस-कल्पना के विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अलंकारकौस्तुभ के रचयिता कविकर्णपूर (सोलहवीं शताब्दी ई० उत्तरार्द्ध) का विषय-क्षेत्र यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है, फिर भी उनका भी प्रेरक सिद्धान्त वैष्णव रस-कल्पना ही है। उन्होंने दास्य को छोड़ दिया है और मधुर रस को 'प्रेमान्' संज्ञा दी है। यह 'प्रेमान्' रस ही सब रसों का आधार है। यह अंगी है और शृंगार इसका अंग है। अन्य सभी रस और भाव इसी में उन्मग्न और निमग्न होते रहते हैं जैसे समुद्र में तरंगें :

वयं तु प्रेमांगी, शृंगारोऽङ्गमिति विशेषः । तथा च :
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वतः ।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ ॥ अलंकारकौस्तुभ, पृ० १४८

प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती ने भी अद्वैत-सिद्धान्त के आधार पर भक्ति रस को ही परम रस सिद्ध किया है। इन्द्रादि देव-विषयक रति भाव हो सकती है, किन्तु परमानन्द-रूप परमात्मा के प्रति रति तो परिपूर्ण रस होती है और वह शृंगारादि क्षुद्र रसों से अत्यधिक प्रबल होती है, जिस प्रकार से खद्योतों से सूर्य की प्रभा :

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ भगवद्भक्तिरसायन २.७८

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वैष्णव आचार्य प्रबल रसवादी थे। इनके मत से रस केवल काव्य और नाटक का ही नहीं वरन् जीवन का सार है। जिन कठोर शब्दों में इन्होंने मीमांसकों और नैयायिकों की निरानन्द मोक्ष-कल्पना का उपहास किया है, उससे रस के प्रति इनका उत्कट आग्रह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है :

> भक्ति-रसहीन, वैराग्य से दग्ध, शुष्क ज्ञानवादी, तार्किक और विशेष रूप से मीमांसक भक्ति रस के आस्वाद से बहिर्मुख होते हैं। भक्ति-रसिकों को चाहिए कि इन सबसे कृष्ण-भक्ति-रस की सदा इसी प्रकार रक्षा करें जैसे चोर से परमनिधि की।

इसी परम रस का पान करने के लिए भक्त-जन सुखलेशवर्जित वैशेषिक-प्रतिपादित मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन के सरस निकुंजों में शृगाल बनकर जीवन व्यतीत करना अच्छा समझते हैं :

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥ सर्वसिद्धान्तसंग्रह, पृ० २८

इस प्रकार रसशास्त्र में एक नया अध्याय जुड़ गया और मधुररस-परिपूर्ण नवीन भक्तिकाव्य का शास्त्रीय विवेचन करने के लिए अत्यन्त पुष्ट आधार प्राप्त हो गया।

कविशिक्षा—इस युग की तीसरी प्रवृत्ति थी कविशिक्षा।—यह प्रवृत्ति भी काफ़ी लोकप्रिय थी और इस वर्ग के अन्तर्गत अनेक ग्रंथ लिखे गये, किन्तु उनमें दो अधिक प्रसिद्ध हुए—अमर की काव्यकल्पलता और देवेश्वर की कविकल्पलता। इन ग्रंथों का उद्देश्य

उदीयमान कवियों और सामान्य काव्य-रसिकों के लिए छंद:सिद्धि, शब्द-सिद्धि, श्लेष-सिद्धि आदि के नियमों की शिक्षा देना है—स्वभावत: इनका झुकाव अलंकार-चमत्कार की ओर ही अधिक है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के विकास का यही इतिवृत्त है। संक्षेप में, रस-विकास के तीन संस्थान हैं : १—भरत-पूर्व आचार्यों और भरत द्वारा रस की वस्तु-परक व्याख्या; २—(क) भरत के काश्मीरी भाष्यकारों द्वारा शैवाद्वैत के प्रकाश में रस की आत्मपरक व्याख्या; (ख) आत्मपरक अर्थ का आख्यान और वेदान्त तथा नव्यन्याय के अनुसार पुनराख्यान और ३—बंगाल के वैष्णव आचार्यों की मधुररस-कल्पना। इन तीनों में शैवाद्वैत के अनुसार रस की आत्मपरक व्याख्या ही सर्वाधिक मान्य हुई; वस्तुपरक धारणा तो एक प्रकार से लुप्त ही हो गयी और वैष्णवों की मधुर-रस-कल्पना का भी भक्तिसम्प्रदायों के बाहर काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विशेष आदर नहीं हुआ—हाँ, रस के क्षेत्र में शृंगार की प्रभुता का उसके द्वारा और भी अधिक प्रसार हो गया।

संस्कृत की यह प्रचुर रस-सामग्री आधुनिक भारतीय भाषाओं को रिक्थ में प्राप्त हुई और विभिन्न भाषाओं ने अपनी-अपनी प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार उसका विकास-विस्तार किया।

संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की भी महत्त्वपूर्ण स्थिति है किन्तु इस विषय में एक तथ्य उल्लेखनीय है और वह यह कि प्राकृत-अपभंश संस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओं के बीच में सर्वत्र माध्यम नहीं हैं—अर्थात् ऐसा नहीं है कि संस्कृत वाङ्मय की सभी परम्पराएँ प्राकृत और अपभ्रंश में से गुज़र कर हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में आयीं हों—कालक्रम की दृष्टि से भी, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा समाप्त होने के बाद भी संस्कृत वाङ्मय की धारा प्रवाहित होती रही। अत: अनेक प्रवृत्तियाँ और प्रभाव ऐसे हैं जो संस्कृत से सीधे भारतीय भाषाओं में आये—इसी प्रकार अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी भी हैं जो प्राकृत-अपभ्रंश से ही आई संस्कृत से नहीं। काव्य-रूप, छन्द-विधान, व्याकरण आदि की शृंखला जहाँ प्राकृत और अपभ्रंश में स्पष्ट मिलती हैं, वहाँ दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि की कड़ियाँ आज तक नहीं मिल पायीं। व्याकरण पर दामोदर शर्मा का प्रसिद्ध ग्रंथ युक्तिव्यक्तिप्रकरण है, हेमचन्द सूरि का प्राकृत-व्याकरण (ग्यारहवीं शती ई०) है और छन्द पर प्राकृतपैंगलम्, सिद्ध-शांतिपा का छन्दोरत्नाकर (१००० ई०), हेमचन्द्र सूरि का छन्दोनुशासन आदि प्रख्यात रचनाएँ हैं; उधर सुदर्शनचरित्र (दसवीं-ग्यारहवीं शती ई०) जैसे ग्रंथों में नायिका-वर्णन भी मिल जाता है। परन्तु काव्य-शास्त्र पर कोई ग्रंथ प्राकृत अथवा अपभ्रंश में अब तक प्राप्त नहीं हुआ। इधर, संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का अठारहवीं-उन्नीसवीं शती तक निरन्तर विकास होता रहा है और इन ग्रंथों का आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र पर प्रभाव भी सर्वथा स्पष्ट है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रों में कोई भी प्रसंग ऐसा नहीं है जिसका अस्तित्व संस्कृत काव्यशास्त्र में न हो; काव्य में जहाँ अनेक कड़ियाँ लुप्त हैं, वहाँ काव्यशास्त्र में कोई भी कड़ी ऐसी नहीं है जिसके अनुसंधान के लिए प्राकृत-अपभ्रंश के उपलब्ध या

अनुपलब्ध साहित्य की छानबीन करना आवश्यक हो। अतः इस प्रसंग में यही मानना समीचीन होगा कि प्रायः सभी शास्त्रीय परम्पराओं की भाँति भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा भी प्राकृत-अपभ्रंश के माध्यम से नहीं वरन् सीधी संस्कृत से ही भारतीय भाषाओं में अवतरित हुई है : प्राकृत-अपभ्रंश में भारतीय साहित्य की जीवन्त परम्पराओं को जहाँ प्रबल पोषण मिला, वहाँ शास्त्रीय परम्पराओं की विकासभूमि संस्कृत ही रही।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र का इतिहास सामान्यतः दो चरणों में विभक्त है। पहले चरण का प्रसार इन भाषाओं के आदिकाल से लेकर आधुनिककाल के पूर्व तक है और दूसरे का आधुनिककाल के आरम्भ से लेकर आज तक। पहले चरण में हिन्दी को छोड़कर अन्य भाषाओं में छिटपुट प्रयास ही हुए हैं—मराठी और बंगला विशेषकर मराठी का आधुनिक काव्यशास्त्र अत्यन्त समृद्ध है, किन्तु यह समृद्धि वर्तमान युग में ही आयी है—सामासिक रूप से विकास के प्रथम चरण में अर्थात् भारतीय इतिहास के सम्पूर्ण मध्ययुग में आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र में तीन प्रकार के ग्रंथ उपलब्ध होते हैं :—१. संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अनुवाद, २. संस्कृत काव्यशास्त्र के रूपान्तर, ३. भक्तिमूलक रसशास्त्र के ग्रंथ।

पहले वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं में 'काव्यप्रकाश' या कहीं-कहीं 'साहित्य दर्पण' के टूटे-फूटे अनुवाद या उल्था मिलते हैं। किन्तु इनकी संख्या अत्यन्त विरल है—मध्यकाल में अनुवाद-कार्य बहुत ही कम हुआ। हिन्दी में धनीराम नामक किसी अल्प-परिचित कवि ने काव्यप्रकाश का अपूर्ण अनुवाद किया था किन्तु यह अब प्रायः उपलब्ध नहीं है। अन्य भाषाओं में जैसे तेलुगु, कन्नड़ आदि में अपेक्षाकृत अच्छा कार्य हुआ है और दो-चार नामों का उल्लेख है, किन्तु वे भी प्रायः दुष्प्राप्य ही हैं।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं—कन्नड़ का 'कविराजमार्ग' (ले० नृपतुंग, समय ९वीं शती) और काव्यावलोकन (ले० नागवर्मा, समय १२वीं शती), रसविवेक अथवा श्रृंगार-रत्नाकर (ले० कविकाम १२०० ई० के लगभग) रस-रत्नाकर (ले० साल्व, १५३० ई० के लगभग), नवरसालंकार (ले० तिम्म १६०० ई० के लगभग) आदि; मलयालम का लीलातिलकम् जिसमें लक्षणादि संस्कृत में हैं (ले० अज्ञात, समय १३-१४वीं शती); मराठी के नागेश और वीठल द्वारा रचित रसमंजरी, गंगाधरशास्त्री-कृत रस-कल्लोल; तेलुगु के अनन्तामात्य का रसाभरणमु विन्नकोट पेद्दय कवि कृत काव्यालंकार-चूड़ामणि, वेगु तुर्ल वड्डि कवि कृत रसालवालमु आदि। वस्तुतः इस क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य हिन्दी में हुआ जहाँ भक्तिकाल में भी अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक कार्य हुआ और उसके बाद फिर तो वि०सं० १७०० से १९०० तक सम्पूर्ण रीति-काल में और उसके उपरान्त भी, पूरे २००-२५० वर्ष तक, काव्यशास्त्र की धारा अबाध वेग से बहती रही। इन कवियों ने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द का आश्रय लेते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों, नियमों तथा काव्यांगों का हिन्दी में विस्तार के साथ विवेचन किया। इन कवि-आचार्यों के स्थूलतः निम्नलिखित वर्ग बनाये जा सकते हैं :

रीति-निरूपण

सर्वांगनिरूपक | रसनिरूपक | अलंकारनिरूपक | कविशिक्षाकार

सर्वरसनिरूपक | शृंगाररसनिरूपक | नायिकाभेद-निरूपक

सर्वांगनिरूपक आचार्यों में केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, दास, सोमनाथ,प्रतापसाहि आदि प्रमुख हैं; सर्वरसनिरूपक आचार्यों में रसलीन, रामसिंह, पद्माकर, वेनी प्रवीन, ग्वाल आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है; शृंगारनिरूपक परम्परा में मतिराम, सुखदेव आदि का विशिष्ट स्थान है; नायिकाभेद का वर्णन करने वालों में भक्तिकालीन कृपाराम, रहीम और केशव आदि तथा रीतिकालीन अनेक रसिक आचार्यों के नाम लिये जा सकते हैं।

भक्तिपरक रसशास्त्र की कल्पना का आधार बहुत कुछ भारतीय भाषाओं का काव्य ही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के मूलभूत ग्रंथ 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' हैं जिनकी भाषा संस्कृत है, फिर भी इस नवीन भक्तिरसशास्त्र का आधार संस्कृत काव्य न होकर भारतीय भाषाओं का समृद्ध एवं पुष्कल भक्ति काव्य ही है। इस वर्ग के ग्रंथ हैं:

हिन्दी में—सूरदास-कृत साहित्यलहरी, नन्ददास-कृत रसमंजरी, राधावल्लभ-सम्प्रदाय के मधुरोपासक कवियों की वाणियाँ यथा व्यासवाणी, ध्रुवदासजी की बयालीस लीला, नेही नागरीदास-रचित सिद्धान्त-दोहावली आदि; बंगला में कृष्णदास बाबाजी की भक्तमाल तथा वृन्दावनदास-रचित चैतन्य-भागवत; गुजराती में दयाराम कृत रसिक-वल्लभ आदि, जिनमें प्रसंगात् प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से भक्तिरस का विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में काव्यशास्त्र का विशेष विकास नहीं हुआ। हिन्दी के संदर्भ में भी कदाचित् विकास शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन न हो, क्योंकि विपुल ग्रंथराशि का निर्माण करने पर भी हिन्दी के कवि-आचार्य भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में मौलिक योगदान नहीं कर सके। संस्कृत में भी यह, एक प्रकार से, काव्यशास्त्र के ह्रास का युग था। मम्मट के उपरान्त वहाँ भी व्याख्या और आवृत्ति ही अधिक हो रही थी। प्रतिभा के धनी तो केवल एक ही आचार्य हुए—शाहजहाँ के समकालीन पंडितराज जगन्नाथ। इस युग में निर्मित विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अध्ययन करने के उपरान्त मेरी अपनी धारणा यह है कि साहित्य-सृजन जहाँ बहुधा आधुनिक भाषाओं में ही हो रहा था, वहाँ सिद्धान्त-निरूपण के लिए देश के प्रायः प्रत्येक भाग में संस्कृत का ही आश्रय लिया जा रहा था। उदाहरण के लिए, अनेक वैष्णव कवियों ने काव्य-रचना तो देशी भाषाओं में की है, किन्तु सिद्धान्त-कथन प्रायः संस्कृत में ही किया है। इसीलिए कदाचित् अधिकांश देशी भाषाओं में काव्यशास्त्र का सम्यक् विकास नहीं हो पाया।

किन्तु, फिर भी भाषा-कवियों ने प्रकारान्तर से काव्यशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। मध्य युग में माधुर्य भाव से ओतप्रोत भक्तिकाव्य की जो रस-धारा भारतीय भाषाओं में प्रवाहित हुई उसके फलस्वरूप भारतीय काव्यशास्त्र में ध्वनि के स्थान पर रस-सिद्धान्त का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो गया।

वस्तुतः रस का माहात्म्य होने पर भी संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि सिद्धान्त ध्वनि ही रहा है। भारतीय वाङ्मय में रसध्वनि का आवरण हटाकर शुद्ध रस की प्रतिष्ठा करने का श्रेय वस्तुतः इन भक्त कवियों को ही है। १४-१५वीं शती से लेकर १७-१८वीं शती तक उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में सर्वत्र ही मधुरा भक्ति की धारा ऐसे उद्दाम वेग से प्रवाहित हुई कि हृदय-रस और काव्य के बीच में स्थित व्यंजना का झीना आवरण छिन्न-भिन्न होकर बह गया। इसीलिए रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा संस्कृत की अपेक्षा भाषा साहित्य में ही मानना अधिक न्याय-सम्मत है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने रस के क्षेत्र का विस्तार भी किया—इन्होंने भक्ति और वात्सल्य की रसत्व-स्वीकृति को अनिवार्य कर दिया। उधर, संस्कृत के आचार्यों ने शृंगार की रसराज रूप में जो सैद्धान्तिक कल्पना की थी उसे भी इन्हीं कवियों ने भक्ति-चर्चित शृंगार की अबाध सर्जना द्वारा सत्य सिद्ध किया। हिन्दी में रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों के द्वारा रसवाद का प्रबल समर्थन किया और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगारवाद की एक नये रूप में प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार, आधुनिक भारतीय भाषाओं के इतिहास का मध्यकाल रस-सिद्धान्त की अतिशय समृद्धि और विकास का युग था, जबकि अधिकांश भाषा-कवियों ने अपने सरस काव्य द्वारा और हिन्दी के कवियों ने सर्जना तथा विवेचना दोनों के द्वारा रस का प्रचार एवं प्रसार किया।

आधुनिक युग में अर्थात् १९वीं शती के मध्य से लेकर वर्तमान काल तक साहित्य के अन्य अंगों की भाँति भारतीय भाषाओं में काव्यशास्त्र का भी विकास द्रुतगति से हुआ। यों तो प्रायः सभी भाषाओं में इस क्षेत्र में उपयोगी कार्य हुआ, किन्तु हिन्दी और मराठी की उपलब्धि गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है—इनके उपरान्त बंगला और गुजराती और फिर तेलुगु, कन्नड़ आदि का स्थान है। आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास सामान्यतः दो चरणों में विभक्त किया जा सकता है। पहले चरण का विस्तार १९वीं शताब्दी के मध्य से अन्त तक रहा—इसमें काव्यशास्त्र के प्रति विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ और सामान्यतः संस्कृत ग्रंथों के आधार पर, कभी-कभी नवीन पाश्चात्य विचारों का भी पुट देते हुए, भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का परम्परागत निरूपण किया गया। दूसरे चरण में दृष्टि का विस्तार हुआ, अतीत की ज्ञानराशि का उद्घाटन करने के साथ नवीन आलोक में उसका मूल्यांकन करने की आकांक्षा हुई, आदान के साथ संरक्षण का चाव जगा। इस युग के काव्यशास्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों का वर्गीकरण स्थूलतः इस प्रकार किया जा सकता है: १. संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुवाद २. प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों का परम्परागत निरूपण; ३. भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का नवीन आलोचना-शास्त्र, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान आदि के प्रकाश में आख्यान, पुनराख्यान तथा मूल्यांकन ४. नवीन आलोचना-शास्त्र। प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में—विशेषकर विकसित भाषाओं में ये प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में परिलक्षित होती हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों का अनुवाद-कार्य विभिन्न भाषाओं में वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से ही हो रहा है—हिन्दी में काव्यादर्श, काव्यप्रकाश (तीन अनुवाद), साहित्यदर्पण (दो-तीन), रसगंगाधर

(दो), ध्वन्यालोक (दो-तीन), वक्रोक्तिजीवितम्, काव्यालंकारसूत्र, दशरूपक, नाट्यदर्पण, काव्यमीमांसा, कुवलयानन्द, चन्द्रालोक, नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, लोचन, भक्तिरसामृत-सिन्धु, भामह तथा रुद्रट कृत काव्यालंकार आदि प्राय: सभी ग्रंथों के आलोचनात्मक भाष्य हो चुके है; मराठी मे नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, अभिधावृत्ति-मात्रिका, रुद्रट-काव्यालंकार आदि के अनुवाद उपलब्ध है; बंगला मे ध्वन्यालोक रसगगाधर आदि के; गुजराती में काव्यप्रकाश और नाट्यशास्त्र; कन्नड़ मे काव्यालंकार (भामह), ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, दशरूपक, औचित्यविचारचर्चा, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक, तमिल मे काव्यादर्श और कुवलयानन्द के, और तेलुगु मे नाट्यशास्त्र, काव्यादर्श, काव्यालंकारसूत्र, ध्वन्यालोक, दशरूपक, व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश, काव्यमीमासा, साहित्यदर्पण, रसगगाधर आदि प्राय: सभी प्रसिद्ध ग्रंथो के कई-कई अनुवाद हो चुके है। प्राचीन सिद्धान्तों को परम्परानुकूल पद्धति से प्रस्तुत करने वाले विद्वानो मे हिन्दी के जगन्नाथप्रसाद भानु, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु, हरिऔध, बिहारीलाल भट्ट, अर्जुनदास केडिया आदि; मराठी के प्रभुदा जी शिवाजी प्रधान, बलवत कमलाकर माकोडे, रा० रा० भागवत, गणेश शास्त्री लेले, सदाशिव बापुजी कुलकर्णी आदि; बंगला मे जयगोपाल गोस्वामी, लालमोहन विद्यानिधि, शचीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, जीवेन्द्रसिह राय आदि; तेलुगु मे सीतारमैया, राघवय्यगार, नारायण शर्मा, नागभूषणम्, श्रीनिवासाचार्यलु, नरसिहराव, उमाकान्तम्, लक्ष्मीकान्तम्, प्रभृति, गुजराती मे कमलाशकर त्रिवेदी, मोहनलाल दवे; कन्नड़ मे ए० आर० कृष्णशास्त्री, श्रीकटैया आदि; तमिल मे पी० कोदण्डरामन और एम० वरदराजन आदि के नाम उल्लेखनीय है। इस वर्ग के काव्यशास्त्रियो ने संस्कृत के किसी ग्रथ-विशेष का अनुवाद नही किया, वरन् अनेक प्रसिद्ध ग्रंथो की सहायता से—काव्यप्रकाश को आधार बनाकर साहित्यदर्पण, रस-गंगाधर, चन्द्रालोक और कुवलयानन्द, विशेष प्रसगो मे ध्वन्यालोक की सहायता से, भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तो का, दूसरे शब्दो मे काव्य के दशागो का, सरल एवं सुबोध विवेचन किया है। इनका दृष्टिकोण प्राय. परम्परानिष्ठ ही रहा है और मौलिक चिन्तन की अपेक्षा अपनी-अपनी भाषा मे भारतीय काव्य-सिद्धान्तो की अवतारणा ही इनका मूल उद्देश्य था। अत: इनकी पद्धति व्याख्यान-पद्धति ही है—जिसमे सस्कृत काव्यशास्त्र की सूत्रवृत्ति या कारिकावृत्ति शैली मे लक्षण-उदाहरणसहित काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, काव्य-प्रयोजन, काव्यात्मा, शब्द-शक्ति, रीति, गुण, अलंकार, दोष आदि का सविस्तर निरूपण किया गया है। लक्षण इन्होने अपने विवेक के अनुसार कभी किसी एक ग्रथ के आधार पर और कभी अनेक ग्रथो के लक्षणो का परीक्षण करने के उपरान्त प्रस्तुत किये है; उदाहरण कभी-कभी सस्कृत ग्रथो मे उद्धृत छन्दो के अनुवाद कर और बहुधा भाषाकाव्य से दिये है। नूतन उद्भावना की दृष्टि से इन्होने या तो कुछ रसो की वृद्धि की है, जैसे मराठी के भागवत ने भक्ति की और हिन्दी के हरिऔध ने वात्सल्य की, या अलकारो की सख्या मे कुछ कमी-बेशी की है—वस्तुत रस तथा अलकार ही इनके मुख्य प्रतिपाद्य रहे है। इस वर्ग के प्रमुख रसवादी आचार्य है हिन्दी के हरिऔध, बिहारीलाल भट्ट, मराठी के प्र० शि० प्रधान, ब० क० माकोडे, रा० रा० भागवत, बगला के शचीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, लालमोहन

विद्यानिधि, गुजराती के कमलाशंकर त्रिवेदी और मोहनलाल दवे; तेलुगु के राघवय्यंगार, नागभूपणम्, नरसिंहराव, लक्ष्मीकान्तम् आदि; कन्नड़ में श्रीकंटैया। इन सभी ने रस को ही काव्य की आत्मा मानकर अन्य काव्यांगों को उसका अनुवर्ती माना है और रस-विवेचन को ही सबसे अधिक महत्त्व तथा विस्तार प्रदान किया है।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत भारतीय काव्यशास्त्र के वे विचारक आते हैं जिन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों का आधुनिक मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और आलोचनाशास्त्र आदि के प्रकाश में आख्यान, पुनराख्यान एवं मूल्यांकन किया है। ये विद्वान् भारतीय सिद्धान्तों में अटूट आस्था रखते हुए भी यह विश्वास करते हैं कि उनका सम्यक् उपयोग तथा प्रसार करने के लिए नवीन ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। यूरोप में भी काव्यशास्त्र की एक विस्तृत परम्परा रही है जिसे दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेपणशास्त्र, विज्ञान, समाजशास्त्र आदि का संवल प्राप्त रहा है। परिस्थितिवश वर्तमान युग में हिन्दी के मनीपी और आलोचक का संपर्क पाश्चात्य आलोचना तथा आलोचनाशास्त्र से अधिक प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ रहा है। वर्तमान साहित्य-जगत् में पाश्चात्य आलोचना के मान-प्रतिमान इतने अधिक रम गये हैं कि आज का साहित्य-मनीपी उन्हीं के माध्यम से चिन्तन और मूल्यांकन करता है। अतः प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की यथावत् अवतारणा की अपेक्षा उनका नई आलोचना-पद्धति से विचार-विवेचन करना आवश्यक हो गया है। इसीलिए प्रायः प्रत्येक भाषा का प्रवुद्ध आलोचक कम-से-कम तीन-चार दशाब्दियों से बड़े मनोयोग के साथ इस कर्तव्य का पालन कर रहा है, जिसके फलस्वरूप एक नये संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का उदय हो रहा है। इस प्रवृत्ति का भी सर्वाधिक विकास हिन्दी और मराठी में ही हुआ है और इनके बाद बंगला का नाम आता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति के सबसे समर्थ उन्नायक थे स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जिन्होंने अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ एक ओर वर्धमान ज्ञान का उपयोग करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों को व्यापक आधार प्रदान किया है और दूसरी ओर पाश्चात्य वादों एवं मतों की कुज्झटिका में से, निर्भ्रान्त होकर, केवल ऐसे ही प्रकाशकणों को ग्रहण किया जिनके पीछे विवेक का दृढ़ आधार था और जो भारत की मूलवर्ती चिन्ता-धारा के अनुकूल थे। वास्तव में शुक्लजी को आधुनिक भारत के संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड मानना चाहिए। शुक्लजी के अतिरिक्त डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० गुलाबराय, श्री रामदहिन मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदि आलोचकों के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में बड़े व्यापक स्तर पर भारतीय काव्यशास्त्र के आधारभूत रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रामाणिक पद्धति से विवेचन हुआ है: जिसके फलस्वरूप ये सिद्धान्त अधिक ग्राह्य और आधुनिक बन सके हैं। मराठी में यह प्रवृत्ति २०वीं शती के प्रथम चरण में ही, वरन् इससे भी पूर्व, उभर कर सामने आने लगी थी। श्री नरसिंह चिन्तामण केलकर ने स्पष्ट घोषणा की कि बढ़ते हुए मराठी साहित्य के साथ संस्कृत काव्यशास्त्र का निभाव होना कठिन हो गया है, अतः नवीन साहित्यशास्त्र के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है—(हास्य-विनोद मीमांसा, पृष्ठ ३१५)। श्री वा० व० पटवर्धन ने 'काव्य आणि काव्योदय' (१९०९) में, डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने,

'महाराष्ट्र यांचे काव्यपरीक्षण' (१९२८) में, श्री रा० श्रीजोग ने 'अभिनव काव्यप्रकाश' (१९३०), तथा 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्दबोध' (१९४३) में, श्री दत्तात्रेय केशव केलकर ने 'काव्यालोचन' (१९३१) में, श्री या० रा० आगाशे ने 'सारस्वत समीक्षा' (१९३४) में, श्री नारायण सीताराम फड़के ने 'साहित्य आणि संसार' और 'प्रतिभासाधन' में, डॉ० देशमुख ने 'मराठी चें साहित्यशास्त्र' १९४१ तथा 'भावगंध' (१९५५) में, डॉ० केशवनारायण वाटवे ने 'रसविमर्श' (१९४२) में, डॉ० रामचन्द्र शंकर वालिम्बे ने 'साहित्यमीमांसा' (१९५५) में, डॉ० सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे ने 'सौन्दर्या चे व्याकरण' (१९५६) में, और श्री गणेश त्र्यम्बक देशपांडे ने 'भारतीय साहित्यशास्त्र' (१९५८) में अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक भारतीय काव्यशास्त्र के विविध सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया है।[1] बंगला में भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ है और डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सुधीरकुमार दासगुप्त, अतुलचन्द्र गुह, हरिहर मिश्र, रमारंजन मुखोपाध्याय, विष्णुपद भट्टाचार्य तथा उमाराय आदि का योगदान अत्यन्त स्पृहणीय है। गुजराती के आलोचकों में, जिन्होंने पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र से प्रभाव ग्रहण कर भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया है, स्वर्गीय रामनारायण के अतिरिक्त डालरराय मानकड़ तथा रामप्रसाद बख्शी के नाम उल्लेख्य है। दक्षिण की भाषाओं में तेलुगु के सी० आर० रेड्डी, पी० एस० शास्त्री, जी०वी० कृष्णराव, ए० रामकृष्णराव, पी० सूरिशास्त्री और कन्नड़ में मास्ति वेंकटेश अय्यंगर, श्रीकंटैया, डा० पुट्टप्पा आदि की दृष्टि प्रमुखतः आख्यानात्मक ही रही है।

इन विद्वानों ने यद्यपि साहित्यशास्त्र के सर्वांग का विवेचन किया है, फिर भी इनका आधारभूत सिद्धान्त रस ही रहा है। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र का पर्यालोचन करते हुए किसी भी प्रबुद्ध आलोचक को अनायास ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका मेरुदण्ड रस-सिद्धान्त ही है और उसमें इतनी क्षमता है कि प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन कर सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस-सिद्धान्त को एक सार्वभौम साहित्य-सिद्धान्त के रूप में विकसित करने की कल्पना कर रहे थे—जो उनके अस्वास्थ्य और असामयिक निधन के कारण अपूर्ण रह गयी। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी कल्पना और अनुभूति तत्त्व का आरम्भ से ही प्राधान्य रहा है। सहस्राब्दियों के मंथन तथा सैद्धान्तिक संघर्ष के उपरान्त वहाँ के मनीषियों का बहुमत भी अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद को ही साहित्य का प्राणतत्त्व मानने को बाध्य रहा है और अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद की जैसी संश्लिष्ट एवं सर्वांगपूर्ण प्रकल्पना हमारे रस-सिद्धान्त में निहित है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए पाश्चात्य साहित्य और साहित्यशास्त्र के अध्ययन से व्युत्पन्न गम्भीरचेता भारतीय आलोचक अनिवार्यतः इसकी ओर आकृष्ट हुआ है। मराठी के आलोचकों में डॉ० वाटवे, श्री जोग, डॉ० माधव गोपाल देशमुख तथा डॉ० वालिम्बे ने रस-सिद्धान्त के नवनिरूपण और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। बंगला में बंकिमचन्द्र और सबसे अधिक रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी साहित्य-सर्जना और साहित्य-

[1] देखिए : डा० मनोहर काले का शोधग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन—ऐतिहासिक सर्वेक्षण'

चिन्तना दोनों के माध्यम से नवीन जीवनदर्शन के प्रकाश में आनन्द की स्थापना द्वारा रस-सिद्धान्त की प्रवल प्रतिष्ठा की है, उधर विचारकों में डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त तथा व्यावसायिक आलोचकों में मोहितलाल मजूमदार, शशिभूषण दासगुप्त, नलिनीकान्त गुप्त आदि ने रसवाद की मार्मिक पोषणा की है। तेलुगु में प्रो० सुब्बाराव, जी० वी० कृष्णराव, पी० एस० शास्त्री ने नव्य आलोक में अपने-अपने ढंग से रस-सिद्धान्त की पुनः प्रतिष्ठा की है—कन्नड़ में उल्लेखनीय नाम हैं मास्ति वेंकटेश आय्यंगर, पुट्टप्पा आदि और गुजराती में स्वर्गीय रामनारायण पाठक आदि।

इस प्रकार आधुनिक काव्यशास्त्र के विकास का यह तीसरा चरण रस-सिद्धान्त का स्वर्णयुग है। आज से लगभग १००० वर्ष पूर्व दर्शन के आधार पर जिस प्रकार आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट और भोजराज आदि अनेक आचार्यों ने रस-सिद्धान्त का चरम विकास किया था, उसी प्रकार वर्तमान युग के आलोचकों ने वीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में मनोविज्ञान आदि से आलोक एवं प्रेरणा ग्रहण कर नये ढंग से उसका पुनर्विकास किया है।

वर्तमान शताब्दी के तृतीय दशक के अन्त में अर्थात् सन् १९३६-३७ के आसपास भारतीय साहित्य में रम्याद्‌भुत तत्त्वों से पोषित रोमानी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। एक ओर तो काव्य के आनन्दवादी मूल्यों के स्थान पर लोककल्याणवादी मूल्यों के प्रति आग्रह बढ़ा और दूसरी ओर रागतत्त्व के स्थान पर बुद्धितत्त्व का प्राधान्य हुआ। मार्क्सवादी जीवनदर्शन से प्रेरित प्रगतिवाद ने साहित्य से जनहित की माँग की और उधर यूरोप तथा अमरीका की नई कविता और उसकी पोषक नई आलोचना से प्रेरित भारतीय भाषाओं के प्रयोगवादी या नये कवियों ने नये सौन्दर्यबोध के नाम पर बौद्धिक चमत्कार की स्पृहा व्यक्त की। स्वभावतः ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ रसवाद के विरुद्ध पड़ीं और इन दोनों वर्गों के कवियों ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त का उग्र विरोध किया :

जैसी युग और समाज की मनोवृत्ति होती है, उसी से प्रभावित होकर या उसके विरोध में खड़े होकर कलाकार अपनी कृतियों को जन्म देता है। वह साहित्यशास्त्र और कालिदास जैसे कवियों का युग था जब शताब्दियों के लिए भारतवर्ष की दासता का जन्म हो रहा था। उस समय उन महान् आचार्यों तथा कवियों ने जो संस्कार भारतीय जीवन में जमा दिये, वे आज भी निर्मूल नहीं हुए। जिस भावना धारा के ऊपर नायिका-भेद का विशाल भवन निर्मित हुआ, उसके ऊपर ब्रह्मानन्द-सहोदर का आवरण डालकर जनता को धोखे में रखा गया। साहित्यशास्त्रियों ने कहा, काव्य कुछ गुणीजनों के लिए है, उसके लिए अलंकार, ध्वनि, रस आदि का ज्ञान आवश्यक है; वह सबकी समझ में नहीं आ सकता। जब कहा गया कि अलंकार, ध्वनि, रस आदि का शृंगार रस से ही क्यों विशेष सम्बन्ध है, क्या इससे कुसंस्कार उत्पन्न नहीं होते ? तब उत्तर दिया गया कि साहित्य में, भावना अथवा व्यंजना द्वारा एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है जो चित्त पर कोई संस्कार नहीं छोड़ता। परन्तु गीता में कहा गया था, विषयों के चिन्तन से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है; इस महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य को साहित्यशास्त्रियों ने उलट दिया। कहा, साहित्य में विषय-चिन्तन से ब्रह्मानन्द-सहोदर प्राप्त होता है। यह प्रवंचना आज भी चली जाती है और अनेक

आलोचक इस प्रश्न का सामना ही नहीं करना चाहते, कौन-सा साहित्य कैसे संस्कार बनाता है और वे समाज के लिए अच्छे हैं या बुरे। इसी ब्रह्मानन्द-परम्परा में आगे चलकर एक शास्त्रज्ञ ने कहा कि जो धर्म का उल्लंघन करके परकीया से प्रेम करता है, वही शृंगार के परमोत्कर्ष को जानता है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः)। इस सबकी पराकाष्ठा ब्रजभाषा के नायिका-भेद में हुई जिसके रस में डूबकर कवि रसातल पहुँच गये और अपने साथ देश को भी ले डूबे।[1] (डा० रामविलास शर्मा)

बीसवीं सदी के मनुष्य की मनःस्थिति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण इतनी दूर तक बदल चुकी है कि वह अपने रागात्मक सम्बन्धों को न तो 'फ़िलासफ़ाइज़' करके सन्तुष्ट हो पाता है, न किसी देवता के चरणों पर आत्मसमर्पण करके मुक्ति-लाभ कर पाता है। एक गहरा असन्तोष, सहज अनास्था और 'फ्रस्ट्रेशन' उसके हृदय में व्याप्त हो गया है, जिसके कारण विश्वास ठहर नहीं पाते। बुद्धि और तर्क उन्हें टिकने नहीं देते। एक ओर भौतिकता की जड़ उपासना से उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता और अखण्ड अनाहत आनन्द की उसे अनुभूति नहीं हो पाती। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के संघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धान्तों के द्वन्द्व ने जीवन में एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। आदर्शों में शताब्दियों से प्रतिष्ठित भारी अराजकता आ गयी है तथा आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक संघात घनीभूत हो गया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र में आने वाली नयी कृतियाँ स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही हैं। केवल वर्तमान आर्थिक कारणों से ही यह असन्तोष और अनास्था उपजी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों और संस्कारों में आयी हुई संक्रान्ति से भी है, जिस पर वैज्ञानिक युगीन बौद्धिकता की गहरी छाया है। बुद्धि भावों को स्थायी नहीं होने देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते। रस एक विशेष मनःस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस विषण्ण युग के कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति की ओर नहीं जाती और अधिकांश नयी कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।[2] (डा० जगदीश गुप्त)

किन्तु उपर्युक्त उद्धरणों से ही स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त का यह विरोध उसके अपूर्ण ज्ञान पर आश्रित है। रस-सिद्धान्त इतना व्यापक है कि वह लोकमंगल का विरोधी या प्रतिद्वन्द्वी नहीं हो सकता, और रागात्मक विश्रान्ति पर आधृत होने पर भी उचित सीमा के भीतर बुद्धितत्त्व का बहिष्कार नहीं कर सकता : वह तो केवल इतना ही मानता है कि बुद्धि जहाँ राग से स्वतन्त्र हो जाती है वहाँ कवित्व से भी उसका सम्बन्ध टूट जाता है। ऐसी स्थिति में, यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि इस प्रकार के विरोध स्थायी नहीं हो सकते—और रस-सिद्धान्त, अपने व्यापक एवं विकासशील मानववादी आधार के कारण, इस युग में ही नहीं, भविष्य में भी, काव्य के मूल्यांकन का मानक सिद्धान्त बना रहेगा।

---

१ संस्कृति और साहित्य—पृ० १९८-९९

२ आलोचना : त्रैमासिक, वर्ष २, अंक ३, पृ० ५६

अध्याय २

(क) रस की परिभाषा

(ख) रस का स्वरूप

(ग) करुण रस का आस्वाद

(क) रस की परिभाषा

रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार है भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र :

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

(नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, ४२, पृ० ९३)

यह वस्तुतः लक्षण नहीं है, यद्यपि स्वयं अभिनवगुप्त ने इसे लक्षण माना है :

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह

—इस प्रकार [उद्देश्य में] क्रम [रखने] के हेतु को बतलाकर रस-विषयक लक्षण-सूत्र को कहते हैं। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४२)

इस सूत्र में मूलतः रस की निष्पत्ति का आख्यान है, स्वरूप का नहीं। परन्तु रस के स्वरूप का विवेचन भी इसी में निहित है और आगे चलकर इसी के आधार पर उसका पल्लवन हुआ है। स्वयं भरत ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति ।

अत्राह—रस इति कः पदार्थः । उच्यते । आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः । यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः । (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ९३)

—जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से [भोज्य] रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी [नाट्य] 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है रस कौनसा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ? उत्तर—आस्वाद्य होने से, अर्थात् जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश इस प्रकार है :

१. रस आस्वाद नहीं है, आस्वाद्य है—अर्थात् अनुभूति नहीं है अनुभूति का विषय है : नवीन शब्दावली में, रस विषयिगत नहीं है विषयगत है।

२. विविध भावों अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव से संयुक्त एवं

त्रिविध अभिनयों द्वारा व्यंजित स्थायी भाव ही रस (या नाट्य रस) में परिणत हो जाता है। जिस प्रकार व्यंजन आदि से संस्कृत अन्न ही भोज्य रस (षाडवादि) का रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार नाट्यसामग्री (विविध भाव+त्रिविध अभिनय) द्वारा प्रस्तुत स्थायी भाव ही नाट्य रस बन जाता है। यहाँ स्थायी भाव अन्न के समकक्ष है और नाट्यसामग्री—व्यंजन, ओषधि (मसाले) आदि के :

स्थायी भाव=अन्न

नाट्यसामग्री=व्यंजनादि

अभिनवगुप्त ने इस दृष्टान्त के अवयवों में भी संगति स्थापित करने का प्रयत्न किया है (देखिए, हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६६), किन्तु वह न अधिक समीचीन है और न आवश्यक ही : उससे मूल तथ्य उलझ जाता है, स्पष्ट नहीं होता।

३. स्थायी भाव 'रस' नहीं है किन्तु 'रस' का आधार है क्योंकि नाट्यसामग्री से संयुक्त होकर वही तो 'रस' बन जाता है—जैसे कि अन्न रस नहीं है किन्तु रस का आधार है क्योंकि व्यंजन आदि से संस्कृत होकर वही रस बन जाता है। उदाहरण के लिए—रति स्थायी भाव अपने मूल रूप में शृंगार रस नहीं है, परन्तु नायक-नायिका, स्मिति-कटाक्ष, हर्ष-वितर्क आदि के प्रसंग में परिबद्ध होकर त्रिविध अभिनयों के द्वारा जब वह रंगमंच पर प्रस्तुत *किया जाता है तो शृंगार* रस का रूप धारण कर लेता है।

४. यहाँ स्थायी भाव से अभिप्राय सहृदय या कवि के स्थायी भाव का न होकर नायक के स्थायी भाव का है और नायक चूँकि लोक का प्रतिनिधि है, अतः नायक के स्थायी भाव का अर्थ है लोक-सामान्य स्थायी भाव।

५. इस प्रकार रस कला का आस्वाद नहीं है स्वयं कला अथवा कलात्मक स्थिति है जो आस्वाद का विषय है।

६. सहृदय इसका आस्वादन करता है परन्तु उसका यह आस्वाद रस रूप नहीं होता, हर्षादि रूप ही होता है।

७. हर्षादि के दो अर्थ किये जाते हैं—एक तो यह कि रसास्वाद केवल आनन्दमय ही नहीं होता विभिन्न स्थायी भावों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है, दूसरा यह कि भरत ने 'आदि' के द्वारा हर्ष-विरोधी अर्थात् कटु अनुभूतियों की व्यंजना नहीं की वरन् कुतूहल आदिक आनन्दमयी अनुभूतियों की ओर ही इंगित किया है। प्राचीनों में रामचन्द्र-गुणचन्द्र पहले मत के प्रवर्त्तक हैं और अभिनवगुप्त दूसरे मत के। आधुनिक विद्वानों का बहुमत धीरे-धीरे पहले अर्थ के ही पक्ष में होता जा रहा है, यद्यपि आनन्दवादी मत के समर्थकों की भी संख्या कम नहीं है—हम स्वयं इसी मत के पोषक हैं।

विषयगत परिभाषा

इस प्रकार भरत के अनुसार नानाभावोपगत स्थायी भाव ही रस है; और स्पष्ट शब्दावली में—विभाव, अनुभाव और *व्यभिचारी भावों* से संयुक्त एवं वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है। अर्थात् रस एक प्रकार की भाव-मूलक कलात्मक स्थिति है जो कवि-निबद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के प्रसंग

से नाट्यसामग्री के द्वारा रंगमंच पर उपस्थित हो जाती है। उदाहरण के लिए, रम्य तपोवन के दृश्यों से सज्जित रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला (विभाव) का अभिनय करने वाले नट-नटी जब वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा अनुभाव, व्यभिचारी आदि की अभिव्यक्ति करते हुए रति स्थायी भाव को सर्वांगरूप में प्रस्तुत करते हैं तो एक रमणीय, भावमूलक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो सहृदय प्रेक्षक के चित्त में हर्ष, कुतूहल आदि जाग्रत करती है। यह रमणीय भावमूलक स्थिति ही भरत के अनुसार 'रस' है; सहृदय की अनुभूति इससे भिन्न है—वह तो इसका आस्वाद है जो हर्ष, कुतूहल आदि के रूप में अनुभूत होता है। यह स्थिति नाट्य-सौन्दर्य मात्र भी नहीं है—अर्थात् केवल नाट्य अलंकार और वस्तु का सौन्दर्य भी रस नहीं हो सकता; **नाट्य-सौन्दर्य और काव्य-सौन्दर्य के माध्यम से स्थायी भाव की उपस्थिति ही रस है।**

रस की यह परिभाषा विषयगत है और भरत के विवेचन पर आधृत होने के कारण मौलिक भी। ध्वनि-पूर्व काल में अलंकारवादियों ने इसे काव्य के क्षेत्र में भी इसी रूप में ग्रहण कर लिया और परिभाषा का रूप किंचित् परिवर्तित होकर इस प्रकार बन गया—शब्द-अर्थ के सौन्दर्य के माध्यम से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों से संयुक्त स्थायी भाव ही रस का रूप धारण कर लेता है :

प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः॥ काव्यादर्श २.२८१

—विभावादि से अपुष्ट रति केवल 'प्रीति' [नामक 'भाव'] ही होती है किन्तु विभाव, अनुभाव और संचारी से परिपुष्ट होकर श्रृंगार रस में परिणत हो जाती है।

यहाँ भी रस का स्वरूप विषयगत ही है—अर्थात् वह आस्वाद्य रूप है, आस्वाद नहीं है।

विषयिगत परिभाषा

भरत-सूत्र के व्याख्याता आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और वह 'आस्वाद्य' से 'आस्वाद' बन गया। इस अर्थ-परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है। अभिनवगुप्त शैवाद्वैतवाद के प्रसिद्ध आचार्य थे। अतः उन्होंने अपनी दार्शनिक मेधा के द्वारा रस-विवेचन को भी शैवाद्वैत सिद्धान्त के रंग में रँग दिया। उनके अनुसार रस का अर्थ है आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर आत्मगत ही होता है : विषय तो आत्म-परामर्श या आत्मास्वाद का माध्यम मात्र है जिसके द्वारा प्रमाता संविद्-विश्रान्ति लाभ करता है। यह संविद्-विश्रान्ति ही आनन्द है। अतः रस नाट्यगत नहीं हो सकता—नाट्य तो संविद्-विश्रान्ति रूप रस का माध्यम मात्र ही हो सकता है। इस भूमिका में रस के आनन्देतर रूप की कल्पना का स्वतः ही निराकरण हो गया। अभिनवगुप्त से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक रस का यही रूप स्वीकार किया गया; व्याख्या का आधार थोड़ा-बहुत बदल गया, किन्तु प्रतिपाद्य वही रहा।

अभिनव ने रस का स्वरूप-विश्लेषण इस प्रकार किया है :

नट के द्वारा किये जाने वाले [नटगत] अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष-सा दिखलायी देने वाला (साक्षात्कारायमाण), एकाग्र मन की निश्चलता के कारण अनुभव होने वाला, समस्त

नाटकों और किसी-किसी काव्य-विशेष से [भी] प्रकाशित होने वाला अर्थ नाट्य कहलाता है। वह यद्यपि [भिन्न-भिन्न प्रकार के नायक-नायिका आदि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के अपरिसंख्येय होने के कारण] अनन्त विभावादि रूप है तथापि समस्त अचेतन विभावों के ज्ञान में [पर्यवसित होने से] और उस [ज्ञान] का भोक्ता [आलम्बन विभाव रूप किसी पात्र विशेष] में [पर्यवसान होने से] और [इस प्रकार के अनेक] भोक्ताओं के प्रधान भोक्ता [अर्थात् नायक] में पर्यवसान होने के कारण नायक कहलाने वाले भोक्ता-विशेष के [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक चित्तवृत्ति स्वरूप [अर्थ नाट्य] होता है।

और वह [प्रधान-चित्तवृत्तिरूप नायक की] एक चित्तवृत्ति, लौकिक गीतों के [नाटक या काव्य में आये हुए] गेय पदादि, लास्य [नृत्य-विशेष] आदि के दस अंगों से युक्त और स्वीकृत लक्षण वाले, गुण-अलंकार-गीत-वाद्य आदि के संयोग द्वारा अत्यन्त सौन्दर्य को प्राप्त काव्य की महिमा तथा नट के द्वारा की जाने वाली प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास-विशेष के प्रभाव से, [ये विभाव आदि मेरे हैं या दूसरे के हैं इस प्रकार के] स्वकीय-परकीय भाव से रहित हो जाती है, इसलिए साधारणीकरण हो जाने से [नायक की अपनी चित्तवृत्ति] सामाजिकों को भी अपनी सत्ता के भीतर समाविष्ट करती हुई, और नायक तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य [अभेद-साधारणीकरण] होने के कारण ही अनुमान तथा आगम [रूप परोक्षात्मक] एवं [इन्द्रियसंयोगादि रूप साधनों की अपेक्षा न रखने वाले, अर्थात् इन्द्रियसन्निकर्षादि के बिना ही उत्पन्न हो जाने वाले] योगिप्रत्यक्ष से उत्पन्न (करणक) तटस्थ (उदासीन, रसादि का अनुभव न करने वाले) प्रमाता एवं प्रमेय से विलक्षण तथा परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से भिन्न रूप से प्रतीत होने वाली [नायक-विशेष के] अपने परिमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण, लौकिक प्रमदादि से उत्पन्न अपनी रति और शोक के [वर्णन के] समान [लज्जा-नाशादि रूप रसविरोधिनी] अन्य चित्तवृत्ति के उत्पादन में अक्षम होने से ही निर्विघ्न अनुभूति की विश्रान्ति रूप आस्वादन नाम से कहे जाने वाले व्यापार के द्वारा गृहीत होने के कारण [रस्यते इति रसः इस व्युत्पत्ति के अनुसार] 'रस' शब्द से कही जाती है।[1]

---

[1] तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्त-नाटकान्यतमकाव्यविशेषाश्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानात्, नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।

सा चैकचित्तवृत्तिः स्वकीयपरकीयमिति प्रतीयमानानन्तचित्तवृत्त्यन्तरशतविशेषितालौ-किकगीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणालंकारगीतातोद्यादिसम्यक्सुन्दरी-भूत-काव्यमहिमप्रयोगमालाभ्यासविशेषाश्रयत्वात् स्वपरभावात् प्रच्याविता, अतएव साधा-रणीभूततया सामाजिकानपि स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च अनुमानागम-योगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना, परिमितस्वात्माश्रयतानिर्भासनाविरहाच्च लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत् चित्तवृत्त्यन्तरजननाक्षमा अत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मकविश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रसशब्देनाभिधीयते।

—हि० अ० भा०—आ० विश्वेश्वर (पृ० ४२७-४२८)

अभिनव की व्याख्यान-शैली में अर्थ-गरिमा के साथ शब्दाडम्बर का भी विचित्र संयोग है—अतः उपर्युक्त उद्धरण का विवेचन करना आवश्यक है। लोक-सामान्य के प्रतिनिधि प्रधान पात्र की चित्तवृत्ति रूप स्थायी भाव काव्य-सौन्दर्य और नाट्य-सौन्दर्य के प्रभाव से साधारणीकृत होकर सामाजिक की चित्तवृत्ति से तादात्म्य स्थापित करता हुआ, निर्विघ्न अर्थात् देश-काल की सीमा से मुक्त, संविद्विश्रान्ति रूप में रसनीय होने के कारण रस बन जाता है। एक उदाहरण लीजिए—कुशल नट-नटी दुष्यन्त-शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। ये तपोवन की रमणीय कुंजों में पहले-पहल मिलते हैं (विभाव)। दोनों एक दूसरे के आह्लादकर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित-उत्सुक नेत्रों से एक-दूसरे की ओर देखते हैं—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी दुष्यन्त पर दृष्टिपात करती है (अनुभाव)। वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक-दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं (व्यभिचारी भाव)। सौभाग्य से शकुन्तला, सखी की सहायता से, पत्र द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही में दुष्यंत वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि का प्रपंच) काव्य, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से मंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के चित्त में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक वीतविघ्न होकर अर्थात् व्यक्ति, देशकाल का अन्तर भूलकर, प्रस्तुत प्रसंग के साथ तन्मय हो जाने से आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना में विभोर हो जाता है—यही आनन्द चेतना रस है। इस प्रकार, संक्षेप में, अभिनव के अनुसार नाट्यादि के सेवन से, भाव की भूमिका में, आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना ही रस है।

अभिनव के उपरान्त मम्मट ने रस की इसी परिभाषा का व्याख्यान किया और पण्डितराज जगन्नाथ तक यह निरन्तर चलती रही—अन्तर इतना ही हुआ कि पण्डितराज ने शैव दर्शन के स्थान पर आवरण की भग्नता के लिए नव्य न्याय और वेदान्त का आश्रय लिया।

सामान्य अर्थ

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस का सामान्य काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए दण्डी ने माधुर्यगुण-विवेचन में रस का इसी अर्थ में प्रयोग किया है :

१. **मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।** का० द० १·५१

२. **कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचतु।** का० द० १·६२

यहाँ वाणी में अर्थात् शब्द में रस की स्थिति और अलंकार द्वारा अर्थ में रस का निषेक—ये दोनों तथ्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि प्रस्तुत प्रसंग में रस का अर्थ भावमूलक काव्य-सौन्दर्य न होकर अभिव्यक्ति का सौन्दर्य मात्र है। वास्तव में, रस का यह अर्थ परिनिष्ठित और पारिभाषिक नहीं है। आज भी इसका प्रचलन यथावत् है—अभिव्यक्ति के चमत्कार के लिए रस शब्द का प्रयोग व्यवहार में ही नहीं साहित्य में भी बराबर होता है, किन्तु, यह लक्षणा के द्वारा मूल अर्थ का विस्तार ही है क्योंकि रस का अर्थ केवल आह्लाद नहीं है—रागात्मक आह्लाद है, जो शब्दार्थ के चमत्कार में अनिवार्यतः नहीं रहता।

अतः संक्षेप में रस के तीन अर्थ हैं :

१. भावमूलक काव्य-सौन्दर्य (भाव की कलात्मक अभिव्यंजना)।

२. भावमूलक काव्य-सौन्दर्य की अनुभूति ।

३. सामान्य काव्य-सौन्दर्य ।

इनमें से तीसरा अर्थ परिनिष्ठित नहीं है अर्थात् शास्त्रीय न होकर केवल व्यावहारिक है ।

(ख) रस का स्वरूप

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह प्रमाणपूर्वक कहा जा सकता है कि रस का स्वरूप द्विविध है : १. विषयगत अर्थात् भाव की कलात्मक अभिव्यंजना = भावमूलक काव्य-सौन्दर्य।
२. विषयिगत अर्थात् उक्त काव्य-सौन्दर्य का आस्वाद।

इनमें से पहला रूप मौलिक होते हुए भी प्रायः तिरोहित हो गया—और अनुभूति-परक रूप ही शेष रह गया। ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी हो, भरत का आशय जो भी रहा हो, भारतीय साहित्य एवं साहित्यशास्त्र में अभिनव-प्रतिपादित आस्वाद-परक रूप ही मान्य हुआ। विषयगत अर्थ अर्थात् भरत का अभीष्ट अर्थ 'रस' के स्थान पर 'काव्य' का वाचक बन गया। *भाव की कलात्मक अभिव्यंजना 'रस' नहीं है—'काव्य' है; और इस प्रकार परिभाषित* काव्य का आस्वाद 'रस' है। भारतीय काव्यशास्त्र में रस का प्रतिनिधि एवं परिनिष्ठित अर्थ अन्ततः यही मान्य हुआ। इसी के सन्दर्भ में रस के स्वरूप का विवेचन सार्थक होगा—अस्तु।

अभिनव ने रस के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया है :

१. लोकव्यवहार में कार्य-कारण सहकारी रूप लिंगों (अनुमापक हेतुओं) को देखकर [रत्यादि रूप] स्थायिभावात्मक, अन्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति के अनुमान के अभ्यास की तीव्रता के कारण, उन्हीं उद्यान, कटाक्षवीक्षण आदि [अनुभावों] के द्वारा [जो कि नाटकों में] कारणत्व आदि रूप को छोड़कर विभावना, अनुभावना एवं समुपरंजकत्व मात्र रूप को प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभावादि नामों से कहे जाने वाले, कारणादि रूप पुराने संस्कारों के उपजीवित्व द्योतन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट किये जाने वाले और भावाध्याय [सप्तम अध्याय] में भी जिनका स्वरूप आगे कहेंगे इस प्रकार के [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के] सामाजिक की बुद्धि में गुण-प्रधान भाव से भली प्रकार से योग अर्थात् सम्बन्ध अथवा एकत्रीभाव को प्राप्त हुए [विभावादि] के द्वारा अलौकिक तथा निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा का विषय बनाया गया हुआ [रत्यादि रूप] अर्थ जिसका चर्वणा ही एकमात्र सार है न कि [घटादि के समान पहले से सिद्ध अर्थात्] विद्यमान स्वरूप वाला अर्थात् केवल उस [चर्वणा के] काल में ही रहने वाला अर्थात् चर्वणा से अतिरिक्त काल में न रहने वाला [इसलिए भट्टलोल्लट तथा शंकुक आदि के रसाभिमत] स्थायिभाव से विलक्षण 'रस' होता है।[1]

---

[1] तत्र लोकव्यवहरे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास-पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावना-नुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवाऽलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः, प्राच्य-कारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाण-स्वरूपभेदैर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः, अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्ध-स्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्यायिविलक्षण एव रसः।

[हिन्दी अभिनवभारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४८३]

२. इसलिए अलौकिक-चमत्कार-स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान, लौकिक प्रत्यक्षादि से भिन्न ही है।

क्योंकि लौकिक अनुमान की प्रक्रिया से संस्कृत [सामाजिक, नाटकों में] प्रमदादि [विभावादि] को [लौकिक परगत रत्यादि के समान] तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता है। अपितु हृदयसंवादात्मक [समस्त सामाजिकों के हृदय की एकरूपता रूप] सहृदयत्व के बल से अखण्ड रसास्वाद के अंकुर रूप से, अनुभाव, स्मृति आदि की प्रक्रिया में आये बिना ही तन्मयीभाव से प्राप्त [उचित] चर्वणा के उत्पादक रूप से [प्रमदादि विभावों का अनुभव करता है]।

और वह चर्वणा [उस रसास्वाद से] पहले किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती है कि उसे स्मृति कहा जा सके। और न उसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार होता है। किन्तु अलौकिक विभावादि के संयोग के बल से ही यह चर्वणा प्राप्त होती है। और वह [रस-चर्वणा] १. प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान से, तथा २. योगिप्रत्यक्ष से होने वाले [अर्थात् दूसरे के द्वारा अनुभव किये जाने वाले रत्यादि के] तटस्थ पर-संवेदनात्मक ज्ञान से, एवं ३. समस्त विषयों के प्रति वैराग्य-युक्त [असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित] परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव [रूपसाक्षात्कारात्मक ज्ञान] से भिन्न प्रकार की होती है। क्योंकि इनमें यथायोग्य १. [लौकिक-प्रमाण जन्य में] अर्जनादि रूप अन्य विघ्नों के आ जाने से २. [प्रारम्भिक युञ्जान योगी के प्रत्यक्ष में परगत रत्यादि का प्रत्यक्ष करने के कारण] ताटस्थ्य एवं अस्पष्टता होने के कारण, तथा ३. [परयोगी के प्रत्यक्ष में आत्मनिष्ठतारूप] विषयावेश की विवशता के कारण [सौन्दर्य] आह्लादकत्व का अभाव होने से [रसचर्वणा इन सबसे भिन्न प्रकार की है।][1]

३. इसलिए विभावादि रस के उत्पत्ति के कारण [अर्थात् कारक-हेतु] नहीं हैं। क्योंकि [यदि विभावादि को रस का कारक हेतु माना जाए तो] उसके ज्ञान के समाप्त हो जाने पर भी रस की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।

और न [विभावादि रस के] ज्ञापक हेतु हैं कि जिससे वे प्रमाणों में गिने जाएं, क्योंकि [पूर्वसिद्ध घटादि के समान] प्रमेयभूत किसी पूर्व से विद्यमान रसादि की सत्ता नहीं है।

---

[1] तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृति-अनुमान-लौकिकस्वसंवेदन विलक्षण एव।
तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः, प्रमदादि न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात् पूर्णीभवद्रसास्वादांकुरीभावेन अनुमानस्मृत्यादिसोपानमनारुह्यैव तन्मयीभावोचितचर्वणाप्रवणतया।

न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात्। येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः, तथा योगिप्रत्यक्षजनित-तटस्थ-परसंवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्य-शुद्धपरयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात् ताटस्थ्य-अस्फुटत्व-विषयावेशवैवश्येन च सौन्दर्यविरहात्। [हिन्दी अभिनवभारती—आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ ४८५]

तो फिर ये विभावादि क्या हैं ?

चर्वणा में उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है। [लोकभाषा में उनकी ठीक स्थिति निर्दिष्ट नहीं हो सकती है।][1]

उपर्युक्त उद्धरणों में अभिनव की शैली फिर स्पष्ट व्याख्यान में बाधक होती है। संक्षेप में, उनके मत का सारांश इस प्रकार है :

१. लोक में रत्यादि भावों के जो कारण, द्योतक तथा पोषक होते हैं, वे काव्य-नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किये जाते हैं। काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्यादि सम्बन्धों से मुक्त होकर इनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है और ये एक प्रकार का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं।

२. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के समवेत रूप का प्रत्यक्ष अथवा मनसा साक्षात्कार या चर्वणा ही 'रस' है।

३. यह रस चर्वण अथवा आस्वाद से अभिन्न होता है—अर्थात् रस आस्वाद रूप ही होता है, आस्वाद्य रूप या आस्वाद का विषय नहीं। इस प्रकार स्थायी भाव रस नहीं है।

४. अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है। यह न कार्य है, न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक।

५. और, जैसा कि रस की परिभाषा के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, चर्वणा की इस स्थिति में प्रमाता का चित्त देश-काल, स्व, पर, तटस्थ आदि की सीमाओं से मुक्त एकतान, आत्मविश्रांतिरूप हो जाता है : अर्थात् रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द-चेतना है।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः रस की इन्हीं विशेषताओं का प्रकार-भेद से व्याख्यान किया है; चौदहवीं शती के संग्राहक आचार्य विश्वनाथ ने रस-स्वरूप-विषयक इस व्याख्यान-विश्लेषण का सारांश अपने शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ साहित्यदर्पण ३.२.३

—चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वाद-

---

[1] अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्हि एतद्धि विभावादय इति ? अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेत्, भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरिचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्। [हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४८६-८७]

सहोदर, लोकोत्तरमचत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार—

१. रस आस्वादन का विषय है—किन्तु निज स्वरूप से अभिन्न रीति से, अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है। रस आस्वाद-रूप है।

२. उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।

३. वह अखण्ड है।

४. अन्य ज्ञान से रहित है।

५. स्वप्रकाशानन्द है।

६. चिन्मय है।

७. लोकोत्तरचमत्कारमय है। और

८. ब्रह्मास्वादसहोदर—अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यधिक समान है।

उपर्युक्त उद्धरण की अधिकांश शब्दावली शास्त्रीय एवं पारिभाषिक है—अतः आधुनिक शब्दावली में उसका पुनराख्यान आवश्यक है।

१. रस का अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से आस्वादन किया जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रस मूलतः आस्वाद रूप ही है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं है—किन्तु फिर भी व्यवहार में 'रस का आस्वादन किया जाता है,' ऐसा प्रयोग होता है। इस विरोधाभास को हृदयंगम करने के लिए अद्वैत सिद्धान्त की शरण लेनी होगी। अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता है—तत्त्वतः यह आत्मा आनन्द रूप है, आनन्द इसका स्वभाव है भोग्य पदार्थ नहीं है, फिर भी व्यवहारतः आत्मा द्वारा आनन्द के भोग की चर्चा शास्त्रों में बराबर मिलती है। इस प्रकार आत्मा, आनन्द और भोग—अर्थात् आस्वादयिता, आस्वाद्य और आस्वाद तत्त्व रूप में एक हैं, केवल व्यवहाररूप में भिन्न हैं।

रस आस्वाद-रूप है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं—इसका अर्थ यह हुआ कि भरत तथा ध्वनि-पूर्व काल के अलंकारवादियों की वस्तु-परक व्याख्या अशुद्ध है। रस शब्दार्थ-सौन्दर्य या नाट्य-सौन्दर्य का पर्याय नहीं है। शब्दार्थ-सौन्दर्य तथा नाट्य-सौन्दर्य तो 'काव्य' और 'नाट्य' हैं जो रस के निमित्त हैं : रस तो इनका आस्वाद है—दार्शनिक शब्दावली में, इनके निमित्त से आत्मतत्त्व का आस्वाद है।

२. रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। रजोगुण और तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं—सामान्य शब्दावली में सांसारिक रागद्वेष से मुक्त चित्त का वैशद्य ही सतोगुण की स्थिति है। अतः उपर्युक्त वाक्य का आशय यह हुआ कि (क) रस का आस्वाद रागद्वेष से मुक्त चित्त के वैशद्य या समाहिति की अवस्था में ही सम्भव है। और (ख) यह आस्वाद ऐन्द्रिय उत्तेजना आदि से भिन्न सात्त्विक—अर्थात् अत्यन्त परिष्कृत कोटि का होता है। यह स्थापना मूलतः भट्टनायक ने की है—अभिनव ने इसे प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिया है।

३. रस अखण्ड है : इस उक्ति का विवक्षित अर्थ व्यापक है। (क) एक तो इसका आशय यह है कि रसानुभूति में विभाव, अनुभाव व्यभिचारी आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूति

नहीं होती वरन् सभी की समंजित—अथवा एकान्वित अनुभूति होती है। (ख) दूसरी विवक्षा यह भी है कि रसानुभव में, आत्मा का पूर्ण तन्मयीभाव होने के कारण, मात्राभेद अर्थात् कोटियाँ नहीं होतीं। पूर्णता में तारतम्य की सम्भावना नहीं है—क्योंकि पूर्ण से पूर्णतर की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती और जो पूर्ण से कम है वहाँ रस की स्थिति नहीं है।

४. रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है। जैसा कि अभी स्पष्ट किया, रस पूर्ण तन्मयीभाव की स्थिति है और तन्मयीभाव में स्वभाव से ही अन्य ज्ञान की सम्भावना नहीं रहती। वर्तमान सन्दर्भ में इसका आशय यह है कि रस की स्थिति में प्रमाता स्व, पर, तटस्थ आदि की भावना से मुक्त हो जाता है—देश-काल का बन्धन उसे नहीं व्यापता और वह प्रस्तुत प्रसंग के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता हुआ कुछ समय के लिए सर्वथा आत्मलीन हो जाता है।

५,६. रस स्वप्रकाशानन्द है और चिन्मय है। यह शब्दावली भी प्रायः भट्टनायक के वक्तव्य से ही प्रेरित है। इसका अर्थ यह है कि रसानुभूति आत्मचैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है—अर्थात् यह एक प्रकार की आनन्दमयी चेतना है और इस आनन्द में मृण्मय अर्थात् ऐन्द्रिय अनुभूति का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव रहता है। वस्तुतः यहाँ भी प्रकारान्तर से वही बात कही गयी है जिसका उल्लेख सत्त्वोद्रेक के प्रसंग में हो चुका है—रसानुभव एक प्रकार का स्वस्थ-परिष्कृत आनन्द है—वह ऐन्द्रिय आनन्द अथवा विषय-सुख की कोटि का आनन्द नहीं है।

७. रस लोकोत्तरचमत्कारप्राण है—रस न प्रत्यक्ष अनुभव है, न परोक्ष; न कार्य है, न ज्ञाप्य है; न सविकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञाता की चेतना विद्यमान रहती है और न निर्विकल्पक अर्थात् ऐसा ज्ञान है जिसमें ज्ञाता की चेतना विलीन हो जाती है। इस प्रकार सभी तरह की लौकिक परिभाषाओं से मुक्त होने के कारण वह अनिर्वचनीय है और अलौकिक है। वास्तव में यह अलौकिक शब्द अत्यन्त विवादास्पद है और इसी को लेकर आधुनिक विचारकों ने रस-सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किये हैं। काव्य लोक की वस्तु है अतः उसका आस्वाद अलौकिक कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में रस के समर्थकों ने कहा कि अलौकिक का अर्थ अतिप्राकृतिक नहीं है, अतीन्द्रिय है—अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा उसका अनुभव नहीं किया जाता।[1]

८. रस ब्रह्मास्वादसहोदर है—ब्रह्मास्वाद के समान है। रस विषयानन्द से भिन्न है, उसका अनुभव चिन्मय है : वह इन्द्रियों का विषय न होकर चैतन्य आत्मा का विषय है। किन्तु फिर भी वह शुद्ध आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द नहीं है, क्योंकि (क) ब्रह्मानन्द स्थायी होता है, रस अस्थायी; (ख) रस में लौकिक विषयों का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता।

पण्डितराज के दृष्टिकोण से त्रिविध आनन्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :

१. लौकिक सुख (विषयानन्द)=आनन्दाभास=चैतन्याभास से आभासित अन्तःकरण की वृत्तियों के विषय-सामंजस्य से मिलने वाला अतः अन्तःकरण-वृत्ति-रूप।

---

[1] देखिए, पं० केशवप्रसाद मिश्र के विचार—साहित्यालोचन (१९९९), पृ० २८०

२. ब्रह्मानन्द=आत्मानन्द (विशुद्ध)=निरूपाधिक चैतन्य का स्वरूपानन्द।

३. काव्यानन्द (रस)=आत्मानन्द=सोपाधिक (=सोपाधिक चैतन्य का आनन्द, विशुद्ध रत्यादिकी उपाधि से उपहित चैतन्यकाराकारित चित्तवृत्ति का आनन्द।[1]

इस प्रकार काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द में अन्तर है, परन्तु वह प्रकृति का नहीं है, गुण का है। काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आत्मानन्द के ही भेद हैं—काव्यानन्द में विशुद्ध (साधारणीकृत) रत्यादि की भूमिका रहती है, अतः वह अस्थायी है और सोपाधिक है; ब्रह्मानन्द में इस प्रकार की कोई भूमिका नहीं रहती, अतः वह स्थायी और निरुपाधिक है। विषयानन्द में भी आनन्द तत्त्व आत्मपरामर्श या आत्मास्वाद का ही वाचक है, किन्तु वह विषय से ग्रस्त है अर्थात् प्रकृति के दोष उसमें विद्यमान हैं: भोग्य जड़ पदार्थ की स्थूलता और उससे प्रेरित भोक्ता चित्त के रागद्वेष उससे संलग्न हैं; अतः वह मिश्रित है, अपेक्षाकृत स्थूल तथा मृण्मय अंश से आविष्ट है। काव्यास्वाद=रस की स्थिति मध्यवर्ती है; वह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है: अधिक सूक्ष्म-परिष्कृत है, और ब्रह्मानन्द की अपेक्षा अधिक स्थूल।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है:

रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है—अर्थात् रस एक प्रकार की आनन्द-चेतना है।

आनन्द-चेतना का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार—अभिनव के शब्दों में आत्मपरामर्श और भट्टनायक के शब्दों में संविद्विश्रान्ति।

इस आनन्द-चेतना में मृण्मय अर्थात् ऐन्द्रिय भोग आदि का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मानन्द का सद्भाव रहता है। लौकिक भाव काव्य-निबद्ध होकर अपना स्थूल, ऐन्द्रिय रूप त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं: शास्त्रीय शब्दावली में वे देश-काल की सीमा से मुक्त, साधारणीकृत हो जाते हैं। फलतः वे प्रमाता के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं बनते—साधारणीकृत होने के कारण वे अपने संसर्ग से प्रमाता को भी स्व, पर, तटस्थ आदि की भावना अथवा व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर देते हैं। अतएव काव्य अर्थात् कवि-निबद्ध भावों के माध्यम से प्रमाता को जो आत्मपरामर्श या संविद्विश्रान्ति उपलब्ध होती है उसमें ऐन्द्रिय भोग आदि का प्रायः अभाव रहता है।

किन्तु फिर भी यह आनन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं है क्योंकि यह न तो स्थायी होता है और न इसमें लौकिक विषयों का एकान्त तिरोभाव ही हो पाता है।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि आचार्यों के अनुसार: **शब्दार्थ के माध्यम से, विशुद्ध भाव-भूमिका में, आत्मचैतन्य के** (आनन्दमय) **आस्वाद** का नाम रस है।

आज ये प्रायः सभी स्थापनाएँ विवादास्पद हैं। रस के उपर्युक्त स्वरूप के विषय में तीन मौलिक प्रश्न उठते हैं:

(१) भावानुभूति और रसानुभूति का क्या सम्बन्ध है?

---

[1] रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन: डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ० २०४

(२) क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?

(३) यदि है, तो इस आनन्द का क्या स्वरूप है ?

इनके समाधान के बिना आज के काव्य-जिज्ञासु का परितोष नहीं हो सकता; अतः आधुनिक आलोचनाशास्त्र के प्रकाश में इनका विवेचन करना अनिवार्य है।

भावानुभूति और रसानुभूति का सम्बन्ध क्या है ?

रस निश्चय ही भाव पर आश्रित है—अर्थात् भाव की भूमिका के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है, संस्कृत काव्यशास्त्र इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्ति है। भाव के स्पर्श से रहित शब्दार्थ का चमत्कार रस नहीं है—स्वयं अलंकारवादी भी इस प्रसंग में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं करते। वे रस को काव्य की आत्मा तो नहीं मानते—शब्दार्थ के चमत्कार का ही अंग मानते हैं; परन्तु रस की निष्पत्ति उन्हें भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से ही मान्य है, अर्थात् उनके मत से भी रस भाव पर आश्रित है। अतः रस और भाव का अनिवार्य एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है; नाट्यशास्त्र का यह वाक्य सर्वदा प्रमाण रहा है :

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः। ६.३७

किन्तु रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है—किसी भी स्थिति में दोनों एक नहीं हो सकतीं। रस के आश्रयभूत स्थायी भाव आस्वाद की दृष्टि से सामान्यतः दो प्रकार के माने जा सकते हैं—रति, उत्साह, विस्मय, हास्य तथा शम का आस्वाद सुखद है और शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा का आस्वाद लोक-जीवन में दुःखद है। यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि रस अनिवार्यतः आनन्द रूप है, तब तो यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है क्योंकि करुण रस की अनुभूति अंततः आनन्दमयी है और शोक की निश्चय ही दुःखमयी, वीभत्स रस अन्ततः सुखद चेतना है और जुगुप्सा दुःखद। यहाँ शृंगार, वीर, हास्य आदि के विषय में संदेह हो सकता है क्योंकि उनके तो स्थायी भावों की भी अनुभूति सुखद होती है। उदाहरण के लिए लौकिक प्रेम-प्रसंग और काव्यगत प्रेम-प्रसंग—और उससे भी अधिक लौकिक हास्य-प्रसंग और काव्यगत हास्य-प्रसंग की एकरूपता के विषय में निश्चय ही भ्रान्ति हो सकती है। लौकिक जीवन के प्रेम-परिहास में और साकेत में अंकित लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम-परिहास में क्या कोई भेद है ? सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु भेद तो है ही। लौकिक जीवन में भी वास्तव में काव्य का ऐसा प्रवेश हो गया है कि प्रायः वह उसमें घुल-मिलकर एक हो जाता है और काव्य सामान्य अनुभव का अंग ही बन जाता है। प्रेम-प्रसंगों में या हास्य-प्रसंगों में हम प्रायः जिस वाग्वैदग्ध्य का अनायास ही प्रयोग करते रहते हैं वह वस्तुतः काव्य का ही अंग होता है। भाव और कल्पना, शब्द और अर्थ का रमणीय सहभाव ही तो काव्य है—उसके लिए लिपिबद्ध होना अनिवार्य नहीं है। इसलिए प्रीति-संदर्भों की रमणीय उक्तियाँ शृंगार रस के अत्यन्त निकट पहुँच जाती हैं क्योंकि रमणीय उक्ति ही तो काव्य है। किन्तु यहाँ भी शुद्ध शृंगार रस नहीं है क्योंकि इस प्रकार के प्रसंग भी व्यक्ति की सीमाओं से परिबद्ध हैं; इनके स्थायी, संचारी, आलम्बन और उद्दीपन सभी विशिष्ट एवं

अ-साधारणीकृत हैं। व्यक्तिगत रागद्वेष से लिप्त होने के कारण प्रमाता का चित्त यहाँ भी वीतविघ्न नहीं है। अतः रस की स्थिति यह नहीं है—यह आनन्द कल्पना-रमणीय भावना के संयोग के कारण प्रत्यक्ष प्रेमानन्द की अपेक्षा शृंगार रस के अधिक सन्निकट होने पर भी, व्यक्तिगत रागद्वेष के संसर्गों के कारण शृंगार रस नहीं है। वास्तविक प्रेम-प्रसंगों में परिहास-उक्तियाँ कभी-कभी चुभ जाती हैं और, उनसे कटुता उत्पन्न हो सकती है जो रस की विघातक है; किन्तु साकेत के लक्ष्मण-उर्मिला-परिहास में इस प्रकार की कोई आशंका नहीं है—कटुता यदि आ भी जाए तो साधारणीकृति के कारण प्रमाता के चित्त को वह मलिन नहीं कर सकती। भाव के प्रत्यक्ष अनुभव और रस में यही भेद है—तभी तो अभिनव आदि ने स्पष्ट कहा है कि रस प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है।

तब क्या रस भाव का परोक्ष अनुभव है?—शास्त्र का निर्भ्रान्त मत है : नहीं। परोक्ष अनुभव का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। मेरा विचार है कि भाव के परोक्ष अनुभव का एक स्पष्ट रूप है भाव की स्मृति। प्रेम का तात्कालिक भोग प्रत्यक्ष अनुभव है और उस भोग की स्मृति परोक्ष अनुभव है। प्रश्न उठता है कि भाव की स्मृति और रस में क्यों भेद माना जाए? प्रमाण भी है—**भावस्मरणं रसः।** प्रमाता का प्रत्यक्ष प्रेमानुभव शृंगार रस नहीं है, किन्तु प्रेमानुभव के स्मरण और काव्यनिबद्ध प्रेम-प्रसंग के भावन या प्रेक्षण से पूर्वानुभूत प्रेम-संस्कार की उद्बुद्धि=शृंगार रस में क्या भेद है? वस्तुतः इस प्रश्न के दो स्पष्ट उत्तर हैं। एक तो यह कि प्रेमानुभव का स्मरण व्यक्ति की सीमा में परिबद्ध होने के कारण परिस्थिति के अनुसार सुखमय और दुःखमय दोनों प्रकार का हो सकता है—स्मृति की दशा में चित्त वीतविघ्न नहीं होता। इसीलिए मिलन की स्मृति सुखद और वियोग की दुःखद होती है; परोक्ष अनुभव होने के कारण दोनों स्थितियों में तीव्रता की कमी तो अवश्य हो जाती है किन्तु अनुभूत्यात्मक रूप नहीं बदलता। उधर रस में निश्चय ही संयोग और वियोग के आस्वाद में इस प्रकार का (मधुर और कटु का) भेद नहीं होता। दूसरा उत्तर यह है कि काव्य-निबद्ध प्रेम-प्रसंग के भावन से पूर्वानुभूत प्रेम के संस्कार की उद्बुद्धि भी तब तक रस का रूप धारण नहीं करती जब तक व्यक्ति की सीमाएँ विद्यमान रहती हैं—जब काव्य के प्रभाव से (सौन्दर्यबलात्) ये सीमाएँ छूट जाती हैं तभी प्रेम का वह संस्कार रस में परिणत होता है। अतः भाव का स्मरण रस नहीं है : परोक्ष अनुभव होने के कारण स्मृति में ऐन्द्रिय तत्त्व कम हो जाता है और उधर कल्पना-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष भावानुभूति की अपेक्षा रसानुभूति के निकट प्रतीत होती है, किन्तु है मूलतः भिन्न ही।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि रस स्वगत भावानुभूति नहीं है—न प्रत्यक्ष और न परोक्ष। तब फिर क्या उसे परगत अनुभूति माना जा सकता है? शाकुन्तलम् का शृंगार रस हमारी अपनी प्रेमानुभूति नहीं है, वह नायक-नायिका की प्रेमानुभूति के प्रति हमारी प्रतिक्रिया है (?)। अपनी प्रेमानुभूति भाव है—काव्यजनित तादात्म्य के द्वारा दूसरे की प्रेमानुभूति का आस्वादन रस हो सकता है (?) क्योंकि वहाँ व्यक्ति की सीमाएँ टूट जाती हैं। किन्तु इसका उत्तर तो भट्टनायक आदि आचार्य एक सहस्र वर्ष पूर्व दे चुके हैं—दूसरे

की प्रेमानुभूति के प्रति प्रतिक्रिया में भी हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष अत्यन्त प्रबुद्ध रहते हैं जो रसानुभूति में बाधक हो जाते हैं और परगत रस की चेतना हमारे मन में रस के स्थान पर संकोच, वितृष्णा, क्रोध आदि के भाव भी उत्पन्न कर सकती है। स्वगत अनुभव की भाँति परगत अनुभव भी व्यक्ति की सीमाओं में बँधा हुआ है और रागद्वेष से निर्लिप्त नहीं हो सकता। अतः रस परगत भावानुभूति भी नहीं है।

अन्त में, निष्कर्ष यह है कि रस भाव पर आश्रित होते हुए भी भावानुभूति से भिन्न है—प्रत्यक्ष, परोक्ष, स्वगत, परगत, सुखद, दुःखद—किसी प्रकार की भावानुभूति रसानुभूति नहीं है। भावानुभूति के इन सभी रूपों में व्यक्तिगत रागद्वेषों का संसर्ग अनिवार्यतः बना रहता है; यह संसर्ग जब तक रहेगा तब तक चित्त की मुक्तावस्था सम्भव नहीं है और उसके बिना आनन्द की अनुभूति में बाधा रहती है। इस निष्कर्ष पर आज का जिज्ञासु शंका कर सकता है: "रस भाव पर आश्रित है—और फिर भी भावानुभूति से भिन्न है, ये तो परस्पर-विरोधी उक्तियाँ हैं।" परन्तु शास्त्र के पास इस विरोधाभास का समाधान है और वह यह कि रस व्यक्तिबद्ध भाव का आस्वाद नहीं है—साधारणीकृत भाव का आस्वाद है। साधारणीकृत भाव निर्विषय होने के कारण रागद्वेष के दंश से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह आनन्दमय ही होता है—वह एक प्रकार से भाव के माध्यम से आत्मा अर्थात् शुद्ध-बुद्ध चेतना का आस्वाद है जो सर्वथा आनन्दमय ही होता है। शुद्ध-बुद्ध चेतना का आस्वाद चिंतन के माध्यम से भी हो सकता है, परन्तु वह रस नहीं है—रस के लिए भाव का माध्यम अनिवार्य है।

क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

काव्यशास्त्र का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद प्रश्न है? रस (काव्यास्वाद) आनन्दमय होता है—यह तो निर्विवाद है, किन्तु अनिवार्यतः आनन्दमय होता है, इस विषय में मतभेद है: अर्थात् शृंगार, वीर, हास्य, अद्‌भुत और शान्त का आस्वाद तो स्पष्टतः आनन्दमय होता है, पर करुण, भयानक, बीभत्स आदि का आस्वाद भी आनन्दमय होता है—यह विवाद का विषय है। स्वदेश-विदेश में यद्यपि बहुमत प्रायः रस की अनिवार्य आनन्दरूपता के पक्ष में ही रहा है, परन्तु विरोधी स्वर भी काफ़ी मुखर रहा है और आज तो यह विरोध और भी बढ़ता जा रहा है।

प्रस्तुत प्रसंग में, ऐतिहासिक क्रम से, सबसे पहले हमें भरत के मत का पर्यालोचन करना चाहिए:

यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।

—जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित—वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते है और

हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं। (ना० शा० अ० ६, पृ० ६३)

यहाँ 'हर्षादि' के 'आदि' पद के आधार पर विरोधी विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि रस का आस्वाद केवल आनन्दरूप नहीं है, स्थायी भाव के आस्वाद के अनुसार वह अन्यथा—विपरीत—भी हो सकता है। किन्तु, यह कदाचित् उनकी अपनी धारणा का ही प्रक्षेपण है, भरत का अभिप्राय ऐसा नहीं था। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के अंगों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार स्वस्थ पुरुष व्यंजनों से संस्कृत अन्न का आस्वादन करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्नचित्त प्रेक्षक अभिनय-सम्पृक्त स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं और जिस प्रकार अन्न के भोक्ता पुरुष को हर्षादि का अनुभव होता है, उसी प्रकार रस-भोक्ता प्रेक्षक को भी होता है अर्थात् आस्वाद का अनुभूत्यात्मक रूप भी दोनों का समान ही होता है। यह सिद्ध हो जाने पर हर्षादि का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार व्यंजनादि से संस्कृत अन्न के आस्वाद की मानसिक प्रतिक्रिया हर्षादि—अर्थात् हर्ष या हर्ष की ही कोटि के अन्य प्रीतिकर विकारों—तृप्ति आदि के रूप में ही होती है—हर्ष के विपरीत दुःख, क्षोभ आदि अप्रीतिकर विकारों के रूप में न होती है और न हो सकती है; इसी प्रकार रसास्वाद का अनुभूत्यात्मक रूप आनन्दमय ही होता है—दुःख क्षोभादि-रूप न होता है और न हो सकता है। जब तक उक्त प्रसंग में यह न मान लिया जाए कि स्वादिष्ट भोजन किसी प्रकार भी अप्रीतिकर हो सकता है, तब तक रसास्वाद को अप्रीतिकर मानने का कोई कारण नहीं है। 'आदि' पद भोजन और रस दोनों के प्रसंगों में हर्ष के अतिरिक्त शान्ति, विस्मय आदि का ही वाचक है, क्षोभ आदि का नहीं। अतः भरत के इस उद्धरण से आस्वाद-रूप रस की सुखदुःखात्मकता की सिद्धि और आनन्दरूपता का निषेध नहीं होता। उनका सम्पूर्ण रस-विवेचन विशेषकर आस्वाद-प्रक्रिया का व्याख्यान रस की आह्लादकता का साधक ही है बाधक नहीं।

भरत के टीकाकार अभिनव ने इसी मत की पुष्टि की है :

दूसरे [व्याख्याता] तो [हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति इसमें आये हुए] 'आदि' शब्द से शोकादि का यहाँ संग्रह होता है, [यह कहते हैं] परन्तु वह [शोकादि का संग्रह] उचित नहीं है। क्योंकि नाटक सामाजिकों को केवल आनन्द देने वाला ही होना चाहिए शोकादि उसके फल नहीं होने चाहिएँ। उस [नाटक के दुःखजनकत्व] में कोई प्रमाण [निमित्त] न होने से और [यदि नाटक से दुःख होता है यह मान लिया जाय तो सामाजिक को] उस प्रकार का [अनुभव] प्राप्त होने लगेगा [जो कि अभीष्ट नहीं है]।

—[हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५००]

अभिनव के विषय में आचार्य विश्वेश्वर ने एक नवीन प्रस्थापना की है—उनकी धारणा है कि अभिनव रस को उभयात्मक (सुखदुःखात्मक) मानते हैं, अर्थात् उनके मतानुसार प्रत्येक रस में सुख और दुःख का मिश्रण प्रायः अनिवार्यतः रहता है। इस धारणा का आधार अभिनवभारती, प्रथम अध्याय, का निम्नोद्धृत विवेचन है :

भरतः— योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ ११६ ॥

अयमिति प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धसत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्द-वाच्यो, लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम्। स च सुखदुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदेकात्मा।

तथाहि—रति-हास-उत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावत्वम्।

× × ×

क्रोधभय-शोक-जुगुप्सानां तु दुःखस्वरूपता। [हिन्दी अभिनवभारती, पृ० २१९-२०]

—भरत—संसार का सुखदुःख से युक्त जो स्वभाव है, आंगिकादि [चतुर्विध] अभिनयों के साथ मिल जाने पर वही नाट्य कहलाता है। ११६।

अयम् का अर्थ है प्रत्यक्ष-सदृश अनुव्यवसाय का विषय—यत् शब्द से अभिप्राय है लोकप्रसिद्ध सत्यत्व और असत्यत्व से विलक्षण। अर्थात्, लोकप्रसिद्ध सत्यत्व और असत्यत्व से विलक्षण, प्रत्यक्ष-सदृश अनुभव का विषय, साधारणीकरण व्यापार के कारण सम्पूर्ण संसार द्वारा अपने अनुभव के रूप में भाव्यमान [प्रतीत होने वाला] और चर्व्यमाण [आस्वादित होने वाला] अर्थ नाट्य [कहलाता] है। और, वह सुख तथा दुःख दोनों से युक्त, विचित्र [नाना प्रकार का] होता है, केवल सुख-रूप या दुःखरूप नहीं होता।

जैसे कि रति, हास, उत्साह और विस्मय सुखस्वभाव [सुखप्रधान] होते हैं।

क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा दुःखरूप [दुःखप्रधान] होते हैं।

इस उद्धरण में स्पष्टतः अर्थ—(नाट्य) और स्थायी भावों की सुखदुःखरूपता का वर्णन है। भरत ने 'अर्थ' या उसके पर्याय 'नाट्य' को सुखदुःखसमन्वित माना है और उसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने रति-हास-उत्साह-विस्मय को सुख-प्रधान तथा क्रोध-भय-शोक-जुगुप्सा को दुःखप्रधान माना है। अभिनव का यह विवेचन वास्तव में मार्मिक है—उन्होंने नौ स्थायी भावों की प्रकृति का विश्लेषण कर यह सिद्ध किया है कि इनमें से आठ का स्वरूप उभयात्मक है और एक का अर्थात् निर्वेद का शुद्ध सुखात्मक। उभयात्मक का अर्थ यह है कि रति, हास, उत्साह और विस्मय प्रधानतः सुखमय होते हुए भी दुःख से अस्पृष्ट नहीं हैं; इसी प्रकार क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा में दुःख के प्राधान्य के साथ सुख का लेश भी है—यहाँ तक कि शोक भी जो सर्वथा दुःखरूप है पूर्वकालिक सुख के स्मरण से अनुविद्ध रहता है। इसकी विस्तार से चर्चा फिर कभी उपयुक्त प्रसंग में करेंगे।—यहाँ केवल यही विचारणीय है कि इस प्रसंग में न जाने क्यों आचार्य विश्वेश्वर ने रति, क्रोध आदि को स्थायी भाव के रूप में ग्रहण न कर (रतिस्थायिक) शृंगार रस, (क्रोधस्थायिक) रौद्र रस आदि के अर्थ में ग्रहण कर लिया है। प्रस्तुत विवेचन के पूर्वापर सन्दर्भ में भी इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके। यदि इसका उत्तर दिया जाय कि भरत 'स्थाय्येव रसः' के अनुसार स्थायी और रस में भेद नहीं करते तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

अभिनव तो निश्चय ही **स्थायिविलक्षणो रसः** में विश्वास करते हैं। अतः हमारा मत है कि अभिनव स्थायी भावों की ही सुखदुःखरूपता मानते हैं जो स्वतः स्पष्ट है, रसों की नहीं—

विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुञ्जते

—विलक्षण प्रकार के सुखदुःख आदि की भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाओं के सम्पर्क से प्राप्त होने वाली अत्यन्त आह्लादात्मक चर्वणा रूप से सहृदय पुरुष [स्थायिभावों का] भोग करते है।[1]

सांख्यवादी आचार्य के मत का खण्डन करते हुए अभिनव ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है :

जिसने उपर्युक्त सांख्य सिद्धान्त के आधार पर रस के सुखदुःख-मोहात्मकत्व का प्रतिपादन किया है उसने "स्थायिभावों को रसत्व को प्राप्त करावेंगे [स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः] इत्यादि [भरत मुनि के वाक्य] में उपचार [लक्षणा] का अंगीकार करके [रस] ग्रन्थ के साथ [अपने मत के] विरोध को स्वयं समझकर [हम जैसे] प्रामाणिक पुरुषों को [उस भरतमुनि-विरोधी सिद्धान्त में मूर्खों को भी प्रतीत हो जाने वाले भद्दे] दोष के प्रदर्शन कराने की मूर्खता से बचा लिया, इसलिए उसको क्या कहा (कितना धन्यवाद दिया) जाय? इसके अतिरिक्त [रस-प्रतीति को सुखदुःखमोहात्मक मानने पर एक ही ज्ञान में तीन विरुद्ध प्रकार की प्रतीतियों का सम्मिश्रण होने से] प्रतीति-वैषम्यादि दोष होंगे इसलिए इस विषय में कितना कहा जाय।"[2]

अतः यह धारणा तो अभिनव के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है।

"अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका।

—हमारे मत में तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप [आत्मा] का ही आस्वादन [रस रूप में] होता है। उसमें दुःख की शंका ही कैसे हो सकती है?"[3]

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों का बहुमत निश्चय ही इसी पक्ष में रहा है। अभिनव से पूर्व भट्टनायक ने उत्पत्ति और प्रतीति आदि सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए जो तर्क उपस्थित किये है उनमें से एक प्रमुख तर्क यह भी है कि यदि रस की उत्पत्ति मान ली जाएगी तो शोक से शोक उत्पन्न होगा—शोकादि के अभिनय देखकर अभिनय-काल में सामाजिक को दुःख होगा—अर्थात् करुण रस का आस्वाद दुःखमय मानना पड़ेगा :

"रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्।

[हि० अ० भा०, पृ० ४६२]

—रस की न प्रतीति होती है, न उत्पत्ति और न अभिव्यक्ति। स्वगत अर्थात् सामाजिक में रस की प्रतीति मानने पर करुण में दुःख की प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु यह प्रतीति ठीक नहीं है। [दुःख के मूल कारण वास्तविक] १. सीता आदि

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५०३
[2] ,, ,, पृ० ४६१
[3] वही, पृ० ५०७

के विभाव [रूप में उपस्थित] न होने से। २. अपनी स्त्री आदि की स्मृति [अभिनय-काल में] न होने से।"

इस प्रकार भट्टनायक ने करुण रस की दुःखरूपता का निषेध कर रस की आनन्दरूपता को अतर्क्य रूप में प्रतिष्ठित किया है।

मम्मट ने रस को सकलप्रयोजनमौलिभूत एवं रसास्वाद को आनन्दरूप माना है—

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।

[काव्यप्रकाश १.२ वृत्ति]

उधर दशरूपक के टीकाकार धनिक ने कुछ विचित्र दृष्टान्त देकर सभी रसों की सुखरूपता का मण्डन किया है। रसवादी विश्वनाथ का मत तो और भी निर्भ्रान्त है :

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता॥ सा० द० ३.४-५

—करुण आदि रसों में भी जो परम आनन्द होता है, उसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि उनमें दुःख होता तो कोई भी उनके प्रेक्षण-अध्ययन आदि में प्रवृत्त न होता; वैसा होने पर रामायण आदि (अमर काव्य) दुःख के कारण बन जाएँगे।

और, अन्त में, पण्डितराज जगन्नाथ का मत है—

(क) स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः × × × रत्यादिरेव रसः।[1]

—रति आदि स्थायी भाव ही सत्य तथा विज्ञान रूप होने से स्वतः प्रकाशमान् आत्मानन्द के साथ अनुभूत होकर रस में परिणत हो जाते हैं।

(ख) 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादिश्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम्।[2]

—रस की आनन्दरूपता के दो प्रमाण हैं—एक, वेद के ये वाक्य : 'आत्मा रस रूप है', 'रस को प्राप्त कर ही यह आनन्दरूप होता है' और दूसरा सम्पूर्ण सहृदय-समाज का प्रत्यक्ष अनुभव।

(ग) सत्यम्, शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरव्यापारस्यैवाह्लाद प्रयोजकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।

—जिस प्रकार शृंगाररस-प्रधान काव्यों से सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार करुणरस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही प्राप्त होता है, यह बात यदि सहृदयों के हृदयों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की

---

१ रसगंगाधर : (चौखम्बा विद्याभवन) प्रथम आनन, पृ० ८०
२ वही, प्र० आ०, पृ० ९१

कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम के अनुसार (काव्य के) लोकोत्तर व्यापार के अन्तर्गत ही आह्लाद-जनकता के समान दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए।

× × ×

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्ते-रुचितत्वादिति चेत्।

—यदि करुण आदि रसप्रधान काव्यों से दुःख की प्राप्ति मानी जाय तो ऐसे काव्यों की रचना में कवि की और श्रवण में श्रोता की प्रवृत्ति क्यों हो ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट (दुःख) के साधन हैं तब तो उनसे विमुख होना ही उचित है।[१]

इस प्रकार संस्कृत के प्रायः सभी प्रतिनिधि आचार्य रस को अनिवार्यतः आनन्दरूप ही मानते हैं।

विरोधी पक्ष में जैन आचार्यद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र का स्वर सबसे ऊँचा और स्पष्ट है :

"सुखदुःखात्मको रसः—अर्थात् रस सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। ना० द० ३.१०६

× × × ×

उनमें से इष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप-सम्पत्ति को प्रकाशित करने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत [ये पाँच] सुखप्रधान रस हैं, और अनिष्ट विभावादि के द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं।[२]"

जैन आचार्य यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सभी रस सुखात्मक होते हैं :

"[कुछ आचार्यों द्वारा] जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया जाता है वह प्रतीति के विपरीत [होने से अमान्य, असंगत] है। मुख्य (अर्थात् वास्तविक) विभावों से उत्पन्न [करुण आदि की दुःखात्मकता] की तो बात ही जाने दो, काव्य के अभिनय में प्राप्त (बनावटी) विभाव आदि से उत्पन्न हुआ भी भयानक, बीभत्स, करुण अथवा रौद्र रस आस्वादन करने वालों की कुछ अवर्णनीय सी क्लेशदशा को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए भयानक आदि से सामाजिक को घबराहट होती है। सुखास्वाद से तो किसी को उद्वेग नहीं होता है।"[३]

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में रस की आनन्दरूपता का इतना स्पष्ट विरोध अन्यत्र नहीं मिलता—रुद्रभट्ट ने अपनी 'रसकलिका' में एक स्थान पर रस की उभयात्मक प्रकृति का निरूपण किया है।

"करुणाभयानामभ्युपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते।"

---

१ वही, प्र० आ०, पृ० १०६-१०७

२ हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० २९१

३ रुद्रभट्ट—रसकलिका (मद्रास, पांडुलिपि), पृ० ५१-५२

—डॉ० राघवन के ग्रन्थ 'दि नम्बर ऑफ़ रसज़' से उद्धृत

—अर्थात् सामाजिक के लिए करुणाप्रधान प्रसंगों या भावों की भी उपादेयता है—

रस की सुखदुःखात्मकता के कारण उसका उभयात्मक स्वरूप सिद्ध होता है।

इस पक्ष में कुछ अन्य आचार्यों का भी नाम लिया जा सकता है—जैसे लोल्लट या अभिनवभारती में उल्लिखित सांख्यवादी आचार्य आदि का—जो निश्चय ही रस को, स्थायी भाव का उपचित रूप मानने के कारण, सुखदुःखात्मक रूप में स्वीकार करते थे। किन्तु ये उल्लेख मात्र हैं—हमारे शास्त्रीय चिन्तन को इन्होंने विशेष रूप से प्रभावित नहीं किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा क्रमशः आधुनिक भारतीय भाषाओं में अवतरित हुई और हिन्दी तथा मराठी में इसका विशेप विकास-विस्तार हुआ। हिन्दी-काव्यशास्त्र की परम्परा तो मध्ययुग से ही आरम्भ हो गयी थी और उसमें रस-सम्बन्धी वृहद् वाङ्मय मिलता है। रीतिकाल में अनेक समर्थ कवि-आचार्यों ने रस-सिद्धान्त का व्यापक विवेचन किया है; किन्तु यह विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र पर ही सर्वथा आश्रित है—रस के स्वरूप के विषय में रीतिकाल के सभी आचार्य एक स्वर से यही दुहराते हैं कि वह अलौकिक, आनन्दरूप एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदर है :

नृत्य, कवित देखत, सुनत, भये आवरन भंग।
आनन्द रूप प्रकाश है, चेतन ही रस अंग॥
जैसो सुख है ब्रह्म को, मिले जगत सुधि जाति।
सोई गति रस में मगन भये सुरस नौ भाँति॥ रसरहस्य, ३.३४-३६

इस विपय में उनके सामने मानों कोई विकल्प ही नहीं रहा। आधुनिक आलोचकों में से भी अधिकांश का यही मत है। आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० गुलाबराय, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनन्दस्वरूप ही मानते हैं और इन्होंने नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में, उसकी अलौकिकता एवं आनन्दरूपता का अपने-अपने ढंग से व्याख्यान किया है। इस प्रसंग में केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही प्रबल अपवाद हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जो भारतीय शास्त्र-परम्परा, विशेषतः रसवाद के अत्यन्त समर्थ पोपक होते हुए भी, रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट विरोध करते हैं :

"यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ—उस भाव की स्वानुभूति से भिन्न प्रकार का आनन्द रूप अनुभव हुआ तो 'साधारणीकरण' कैसा ? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किये उनका रूप प्रदर्शित किया है।"[1]

मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। 'लोकोत्तर' 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणों से न तो उसके अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ

---

[1] रसमीमांसा, पृ० ९९

भी लगा नहीं रहने देते ? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हें एक ही स्वरूप—सुख का—दे देता है। क्या दुःख के भेद सुख के भेद से प्रतीत होने लगते हैं ? क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफ़न माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं। क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते ? क्या कोई दुःखान्त कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती ? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनन्दगत है ? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"[1]

मैं समझता हूँ कि आनन्द-सिद्धान्त पर यह कदाचित् सबसे निर्मम प्रहार है जिसके सामने जैन आचार्यो का प्रतिवाद भी अपेक्षाकृत कोमल प्रतीत होता है। किन्तु प्रश्न तो अब भी बना हुआ है :

माना कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' का प्रेक्षण सहृदय 'दाँत निकालने के लिए' नहीं करता; पर क्या 'आँसू बहाने के लिए' वह समय और धन का व्यय कर रहा है ? शुक्लजी की दृष्टि एकांगी नहीं थी—यह शंका उनके मन में थी, अतः अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए उन्होंने रस के स्वरूप की, अपनी मान्यता के अनुकूल, नवीन व्याख्या प्रस्तुत की :

जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।[2]

"तात्पर्य यह है कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निस्संगता (Impersonality & detachment) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्दसहोदरत्व कहिये चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।"[3]

इस प्रकार आचार्य शुक्ल के मत से रस १. आनन्दरूप नहीं है, २. उसमें अस्मिता का भोग न होकर उसका विसर्जन है, ३. वह प्रकृत भाव से मूलतः भिन्न न होते हुए भी परिणामतः भिन्न है, अर्थात् प्रकृत भाव का सामान्य अनुभव जहाँ सुखदुःखमय होता है वहाँ रस का अनुभव—शृंगार तथा करुण दोनों रूपों में—सुख और दुःख दोनों से 'अधिक उदात्त और अवदात' होता है।

मराठी के आलोचक भी काव्यशास्त्र के प्रति अत्यन्त प्रबुद्ध रहे हैं—उन्होंने रस-सिद्धान्त के विविध पक्षों पर अत्यन्त गम्भीर एवं स्वतन्त्र शास्त्र-चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनका भी बहुमत रस की आनन्दरूपता के ही पक्ष में है। "द० के० केलकर ने रसध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार रस के आनन्दस्वरूप का प्रतिपादन किया है। इन्होंने रस-स्वरूप के

---

[1] रसमीमांसा, पृ० १०१

[2] चिंतामणि, भाग १, पृ० १४१

[3] वही, पृ० २४७

विवेचन में रस=आस्वाद=आनन्द—इस प्रकार के समीकरण का विशेष रूप से समर्थन किया है :

× × ×

काव्य से सहृदय का हृदय-सागर उमड़ आता है। इस उमड़ते हृदय-सागर में जब सहृदय तन्मय हो जाता है तब उसकी तदाकार वृत्ति में जो निहित आनन्द है उसे ही संस्कृत ग्रंथकारों ने रस कहा है। (काव्यालोचन, पृ० १२७-२८)।[1]

डॉ० वाटवे ने अपने 'रसविमर्श' नामक ग्रंथ में, प्रस्तुत प्रसंग का विस्तार से विवेचन करने के उपरान्त, रस को सहृदय-निष्ठ एवं आह्लादमय ही माना है :

कल्पना की सहायता से प्राप्त आह्लाददायक अनुभव को ही रस कहा जाता है। इस रस को उत्पन्न करने वाली मूल सामग्री काव्य में ही होती है, अर्थात् एक अर्थ में रस, कारण रूप से, काव्य में भी होता है।[2]

काव्य में उत्कट भावनाओं के ललित आविष्कार से सहृदय पाठक की सुख-संवेदक और समग्र-प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का नाम रस है।[3]

ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने भी इसी अभिमत का समर्थन किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-स्वरूप के विषय में दो पृथक् धारणाएँ मिलती हैं—एक—स्थाय्येव रसः और दूसरी—स्थायिविलक्षणो रसः। श्री देशपाण्डे के अनुसार इन दोनों का समीकरण समीचीन नहीं है : एक के अनुसार रस भावरूप—सुखदुःखात्मक है और दूसरे के अनुसार आनन्दरूप। उनका अपना मत अभिनवादि-प्रतिपादित आनन्दरूप के पक्ष में ही है :

जहाँ तक हमारी सम्मति का प्रश्न है हमें अभिनवगुप्त का मत ही अनेक कारणों से स्वीकार्य प्रतीत होता है, क्योंकि इस सिद्धान्त से ही सम्पूर्ण काव्यांगों की उपयुक्त उपपत्ति हो पाती है। फलतः इससे अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध आनन्दवाद ही हमें ग्राह्य प्रतीत होता है।[4]

किन्तु मराठी के स्वतन्त्रचेता आलोचकों ने परम्परागत धारणाओं में संशोधन करने का प्रयत्न किया है। रा० श्री० जोग ने रस को अनुकूल-संवेदना-रूप मानते हुए भी करुण रस की अनुभूति को केवल सुखात्मक रूप में स्वीकार नहीं किया :

काव्याध्ययन में पाठक का वैयक्तिक स्वार्थ जुड़ा नहीं रहता, अतः उसमें दुःख भी नहीं होता। परन्तु इतने मात्र से यह समझना असंगत है कि सहृदय की सारी रजोगुणी-तमोगुणी वासनाएँ नष्ट होकर उसमें सत्त्वोद्रेक मात्र शेष रहता है। भावनाएँ जिस प्रकार की होंगी, तदनुरूप रसोत्पत्ति भी त्रिगुणात्मक ही होगी। केवल पाठक का व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें नहीं आता, इसलिए वह रजोगुण-तमोगुण का आविष्कार नहीं करता और वे गुण सुख की मर्यादा में ही रहते हैं।[5]

---

१ आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन : ले० डॉ० मनोहर काले, पृ० १०६

२ रसविमर्श, पृ० ७३

३ वही, पृ० १३१

४ भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० २६१

५ अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० ६३

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री जोग का यह मत आचार्य शुक्ल की स्थापना के निकट पहुँच जाता है। श्री जोग भी वस्तुतः रसदशा को हृदय की मुक्तावस्था के समान ही मानते हैं, परन्तु कदाचित् अपने मन्तव्य को उतना स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।[1]

हिन्दी और मराठी के अतिरिक्त हमारी तीसरी भाषा है बंगला जिसमें आधुनिक मनीषियों ने काव्य के मूलतत्त्वों पर गम्भीर चिन्तन किया है। बंगला के आलोचकों का बहुमत भी आनन्द के ही पक्ष में है। अतुलचन्द्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'काव्यजिज्ञासा' में यह प्रसंग उठाकर भारतीय काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा का ही अनुमोदन किया है :

कवि जब अपनी प्रतिभा के मायाबल से लौकिक शोक तथा लौकिक कारण का एक अलौकिक चित्र काव्य में प्रस्फुटित करता है, तभी पाठक के मन में रस का उदय होता है, जिसका नाम करुण रस है। यह करुण रस शोक का 'इमोशन' नहीं। शोक दुःखदायक होता है, किन्तु कवि का काव्य मन में जिस करुण रस का संचार करता है, वह आँखों में अश्रु लाने पर भी मन को अपूर्व आनन्द प्रदान करता है। यह बात, काव्य का आस्वाद जिसने किया है, वही जानता है, यद्यपि प्रमाणित करना कठिन है, क्योंकि—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ (साहित्यदर्पण)

× × × रस का मानसिक उपादान 'भाव' दुःखमय होने पर भी परिणाम 'रस' तो नित्य आनन्द का कारण है।[2]

रवीन्द्रनाथ का दर्शन तो स्पष्टतः आनन्द का ही दर्शन है :

रसमात्र में ही, अर्थात् सब प्रकार के हृदयबोध में, हम विशेष रूप से अपने को पहचानते हैं, इस पहचानने में ही एक विशेष आनन्द है।......दुःख की अभिज्ञता से हमारी चेतना आलोड़ित हो उठती है। दुःख के कटु स्वाद के कारण दोनों आँखों से पानी गिरते रहने पर भी वह उपादेय है। दुःख की अनुभूति सहज आरामबोध से भी प्रबलतर है। ट्रेजेडी का मूल्य भी इसी में है। कैकयी की प्ररोचना से रामचन्द्र का निर्वासन, मन्थरा का उल्लास, दशरथ की मृत्यु इनमें अच्छा कुछ भी नहीं है। सहज भाषा में जिसे हम सुन्दर कहते हैं, यह घटना उस श्रेणी की नहीं है, यह मानना ही पड़ेगा। फिर भी इस घटना को लेकर कितने काव्य, तस्वीर, गीत तथा पांचालि (कथा-गीत) लिखे गये हैं, कितनी भीड़ हो गयी है, सबको ही आनन्द मिला है। इसी में है—वेगवान् अभिज्ञता से युक्त व्यक्ति पुरुष की प्रबल आत्मानुभूति। बन्द पानी जिस प्रकार गूंगा है, उमस का वातावरण जिस प्रकार आत्म-परिचयहीन हैं, उसी प्रकार प्रात्यहिक अभ्यास की आवृत्ति चेतना में आघात नहीं कर पाती, उससे हमारी सत्ता निस्तेज बनी रहती है। इसीलिए दुःख में, विपद् में, विद्रोह में, विप्लव में मनुष्य अप्रकाश के आवेश को समाप्त कर अपने को प्रबल आवेग से अनुभव करना चाहता है।[3]

---

[1] मराठी में रस-स्वरूप के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, डॉ० मनोहर काले का शोध-प्रबन्ध—आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, अध्याय १।५

[2] काव्यजिज्ञासा, पृ० १८-१९

[3] साहित्यतत्त्व : 'साहित्येर पथ' पुस्तक से उद्धृत

दुःख की तीव्र उपलब्धि आनन्दकर है, क्योंकि वह निबिड़ अस्मिता-सूचक है; केवल अनिष्ट की आशंका आकर बाधा देती है। उस आशंका के न रहने पर दुःख को मैं सुन्दर कहूँगा। दुःख हमें स्पष्ट बना देता है, अपने पास अपने को अस्पष्ट नहीं होने देता। गंभीर दुःख भूमा है, ट्रेजेडी में वह भूमा है, वह 'भूमैव सुखम्' है।[1]

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के मत से काव्य-निबद्ध दुःख, जो व्यक्ति-भावना से मुक्त होने के कारण अनिष्ट की आशंका से भी सर्वथा मुक्त होता है, आत्म-लाभ का प्रबल साधन होने से आनन्दकर होता है।

बंगला के प्रसिद्ध आलोचक मोहितलाल मजूमदार ने अपने 'बांग्ला साहित्ये ट्रेजेडी' शीर्षक लेख में यह स्वीकार करते हुए भी कि यूरोपीय काव्यकला (ट्रेजेडी) मुझे जैसा मुग्ध करती है, भारतीय साहित्य ऐसा नहीं कर पाता—अन्ततः यह निर्णय दिया है कि ट्रेजेडी का रस भारतीय या हिन्दू साहित्य का रस नहीं है—हम जीवन में इस प्रकार के रस को प्रश्रय नहीं देते हैं क्योंकि यह दुःख की पूजा है। भारतीय साहित्य के रस के विषय में उनका मत है: भारतीय जीवनदर्शन स्वतन्त्र है; उसमें रस भी उस वस्तु का आस्वादन है जिससे देह और मन का बन्धन समाप्त होकर एक अपूर्व मुक्ति-सुख का उदय होता है।[2]—इसका तात्पर्य यह है कि श्री मजूमदार के अनुसार भारतीय रस देह और मन के संवेदनों से अतीत आत्मा के मुक्ति-सुख का अनुभव है: त्रासदी में भी रस होता है, किन्तु दुःख अर्थात् असत्य पर आवृत होने से वह भारतीय रस की भाँति पूर्ण और अखण्ड नहीं होता।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस के विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि रस का अर्थ काव्यास्वाद है तो वहाँ भी कम से कम प्राचीन आचार्यों का बहुमत इसी पक्ष में रहा है कि काव्यास्वाद आनन्दरूप होता है। सबसे पहले प्लेटो को ही लें। प्लेटो ने आनन्द के दो रूप माने हैं—एक विशुद्ध आनन्द जो आत्मा की समाहिति का अनुभूत्यात्मक रूप होता है (आत्मसामंजस्य=पुण्य=सौन्दर्य=आनन्द) और दूसरा भौतिक आनन्द जो ऐन्द्रिय सुख का पर्याय है। प्लेटो का सबसे बड़ा अभियोग यही है कि काव्य के द्वारा आत्मसामंजस्य का (जो वास्तव में भट्टनायक की आत्मविश्रान्ति से बहुत दूर नहीं है) लाभ न होकर ऐन्द्रिय सुख की ही प्राप्ति होती है: क्योंकि यदि कोई यह सिद्ध कर सके कि वह केवल प्रीतिकर ही नहीं श्रेयस्कर भी है तो इससे हमारा लाभ ही होगा।[3] परन्तु इस विषय में वे सर्वथा निर्भ्रान्त हैं कि काव्य के कामदी, त्रासदी आदि, सभी रूपों का आस्वाद आह्लादमय ही होता है:

कल्लिक्लेस—इसमें कोई सन्देह नहीं है, साक्रेतेस, कि त्रासदी प्रेक्षकों के आह्लाद और परितोष के प्रति ही उन्मुख रहती है।[4]

अरस्तू ने भी अपने ग्रंथ में काव्यास्वाद के प्रसंग में आह्लाद (प्लेज़र) शब्द का

---

१ 'साहित्येर पथ' की भूमिका
२ साहित्य-वितान,
३ ग्रीक लिटरेरी क्रिटिसिज़्म, पृ० ८८
४ वही, पृ० ४६

प्रयोग बार-बार किया है : **अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु, अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है।** काव्यशास्त्र, पृ० १४। —यहाँ अनुकृत वस्तु का अर्थ है कलाकृति और अरस्तू का स्पष्ट मत है कि कलाकृति का भावन, चाहे उसका विषय कितना ही जघन्य क्यों न हो, निश्चित रूप से, आह्लादकारी होता है। त्रास और करुणा के आवेगों से ओतप्रोत त्रासदी का आस्वाद भी त्रासद अथवा दुःखद न होकर प्रीतिकर ही क्यों होता है, इस विवादग्रस्त प्रश्न का समाधान करने के लिए ही अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध 'विरेचन सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत प्रसंग में दो तथ्य विचारणीय हैं। —एक तो यह कि पहले उद्धरण में (काव्य-जन्य) जिस आह्लाद का उल्लेख है उसमें राग-तत्त्व की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व का प्राधान्य है—राग-तत्त्व की उपेक्षा यहाँ भी नहीं है किन्तु उस पर कदाचित् उतना बल नहीं है जितना 'रस' में अनिवार्यतः रहता है। दूसरा यह कि त्रासदी के आस्वाद में भी भाव का विरेचन और तज्जन्य चित्त-वैशद्य ही व्यंजित है—विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मभोग की कल्पना यहाँ नहीं है—अर्थात् इसमें निहित आनन्द-कल्पना प्रायः अभावात्मक है। परन्तु ये तो सूक्ष्म भेद हैं; मूल विषय तो यह है कि अरस्तू कला और काव्य के आस्वाद को निश्चय ही प्रीतिकर मानते हैं।

अरस्तू के पश्चात् पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ हैं लोंजाइनस (लोंगिनुस) जो मुक्त भाव से आनन्दवादी थे। उनके अनुसार काव्य का प्राण-तत्त्व है औदात्य और औदात्य के मूल तत्त्वों में आत्मा के उल्लास का प्रमुख स्थान है :

(क) तथा [जिससे हमारी आत्मा] हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है।

(ख) साधारणतः औदात्य के उन उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।[1]

परिणामतः लोंजाइनस के अनुसार काव्यास्वाद का लक्षण है आत्मा का उल्लास।

परवर्ती आलोचक भी प्रायः काव्यास्वाद को आह्लादरूप ही मानकर चले हैं। मतभेद काव्य के प्रयोजन के विषय में रहा है : एक वर्ग आह्लाद के और दूसरा लोक-कल्याण के पक्ष में रहा है। जो आलोचक आह्लाद को काव्य की सिद्धि मानते हैं—जैसे विक्टर ह्यूगो, शिलर, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैले आदि, उनका मत तो इस विषय में सर्वथा निर्भ्रान्त है ही कि काव्यास्वाद आह्लादरूप होता है। साथ ही, जो लोक-कल्याण को साध्य मानकर चलते हैं—और नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास करते हैं वे भी इसका निषेध नहीं करते; किन्तु उनमें से अधिकांश आह्लाद को साध्य न मानकर साधन मानते हैं : उदाहरण के लिए, होरेस, व्युअलो, रेपिन, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि के नाम प्रस्तुत किये जाते हैं। हाँ, तोल्सतोय ने आनन्द और सौन्दर्य का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है : **अन्त में, यह (कला) आनन्द नहीं है, वरन् मानव-एकता का साधन है, जो मानव-मानव को सह-अनुभूति**

---

[1] (क) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ५२, (ख) काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० ६६

के द्वारा परस्पर सम्बद्ध करती है।[1] वस्तुतः पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में आरम्भ से ही काव्यास्वाद के स्वरूप-विश्लेषण के प्रति उतना आग्रह नहीं मिलता जितना कि भारतीय काव्यशास्त्र में—परिणामतः वह न उतना व्यवस्थित है और न उतना सूक्ष्म गम्भीर ही। बीसवीं शती में आकर जब मनोविज्ञान का साहित्य और साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश हुआ, तो यह प्रसंग स्वभावतः उभरकर आया और डा० रिचर्ड्स आदि ने काव्यानुभूति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया :

× × × जो विवेकशील हैं वे त्रासदी का प्रेक्षण न तो मनोरंजन के लिए करते हैं और न शिक्षा के लिए—अरस्तू के वचन इसका प्रमाण हैं। मनोरंजन और शिक्षा—दोनों में से कोई भी, जब तक कि हम इन शब्दों को प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ में ही प्रयुक्त न करें, कला के भव्यतर रूपों के अनुरूप नहीं है। कला के भव्यतर रूपों से प्रेरित अनुभव इतने परिपूर्ण, इतने विविध और इतने अखण्ड होते हैं—उनमें परस्पर-विरोधी अन्तःवृत्तियों—करुणा और त्रास, सुख और निराशा आदि का इतना सूक्ष्म संतुलन रहता है कि [किसी एक सामान्य प्रचलित शब्द द्वारा] उनका सरलता से बोध नहीं हो सकता।

× × × त्रासदी की अनुभूति मानव-चेतना की इतनी उदात्त प्रक्रिया है कि उसे न तो मनोरंजन अथवा आह्लाद की कोटि में रखा जा सकता है और न ऐसे स्थूल मूल्यों की प्रतिष्ठा का माध्यम ही माना जा सकता है जिन्हें नीति-संहिता में सूत्रित किया जा सके।

—अर्थात् १. रिचर्ड्स के अनुसार काव्य की अनुभूति आह्लादरूप नहीं है। २. उसमें परस्पर-विरोधी अन्तःवृत्तियों का सूक्ष्म सन्तुलन रहता है। ३. वह आह्लाद की अपेक्षा अधिक वैविध्यपूर्ण, परिपूर्ण एवं उदात्त होता है।

× × ×

उपर्युक्त मंतव्यों के विवेचन के फलस्वरूप निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. रस आनन्दरूप है। आनन्द के दो रूप हैं (क) उदात्त आत्मविश्रान्ति, और (ख) आह्लाद या मनःप्रीति—**सहृदयमनःप्रीतये**।[2] एक तीसरा रूप भी है मनोरंजन जो आज 'एण्टरटेनमेंट' का पर्याय होकर हीनतर अर्थ का वाचक बन गया है—किन्तु काव्य और कला के साथ उसका सनातन सम्बन्ध रहा है। इन तीनों रूपों में प्रीति तत्त्व सामान्य है। अर्थात् रस चाहे उदात्त आत्म-विश्रान्ति रूप हो, चाहे मनःप्रीति या आह्लाद अथवा अन्तश्चमत्कार रूप हो या और भी निम्नस्तर पर मनोरंजन रूप हो—प्रत्येक स्थिति में वह प्रीतिकर[3] या सुखात्मक है।

२. रस सुखात्मक भी है और दुःखात्मक—अर्थात् प्रीतिकर स्थायी भावों पर आश्रित शृंगार, वीर, शान्त आदि का स्वरूप सुखात्मक और अप्रीतिकर स्थायी भावों पर आश्रित करुण, भयानक, बीभत्स आदि का स्वरूप दुःखात्मक होता है।

३. रस उभयात्मक है अर्थात् सुखदुःखमयी मिश्र अनुभूति है : सभी स्थायी भावों

---

[1] कला क्या है? १८९८ ई०

[2] ध्वन्यालोक १।१

[3] प्लेज़रेबिल

में सुखदुःख का विभिन्न अनुपातों में मिश्रण रहता है जो उन पर आश्रित रसों में भी प्रतिफलित होता है ।

४. रस न सुखात्मक है और न दुःखात्मक—रसदशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है जिसमें वैयक्तिक रागद्वेप और उनके परिणामी सुखदुःख सर्वथा निश्शेप हो जाते हैं : रस की अनुभूति चित्त के वैशद्य की, एक प्रकार से—शान्ति की अनुभूति है ।

५. रस (काव्यास्वाद) सरल अनुभूति नहीं है—उसमें अनेक, प्रायः परस्पर विरोधी, अन्तःवृत्तियों का सूक्ष्म संतुलन रहता है; अतः वह अत्यन्त वैविध्यपूर्ण अनुभव है ।

तथ्य की प्राप्ति के लिए इन पाँच विकल्पों की परीक्षा आवश्यक है । अनेक कारणों से दूसरे विकल्प से आरम्भ करना अधिक उपादेय होगा : रस सुखात्मक भी है और दुःखात्मक भी । सामान्यतः हमारी पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि करुण, भयानक आदि काव्य-प्रसंगों का आस्वाद उनके आधारभूत स्थायी भावों के अनुसार दुःखमय ही होना चाहिए । किन्तु इसके विरुद्ध कुछ व्यावहारिक शंकाएँ उठती है। दुःख का अनुभव करने के लिए कोई बुद्धिमान् व्यक्ति काव्य का मनन या नाटक का प्रेक्षण क्यों करेगा ? दुःख जीवन में अनिवार्य है, अतः मनुष्य उसको भोगता है और केवल भोगता ही नहीं अपने पुरुपार्थ के वल पर उससे लाभ उठाने का भी पूरा-पूरा प्रयत्न करता है—अर्थात् उसका सामना करने के लिए अपने आत्मवल का विकास करता है, चित्तशुद्धि आदि का अनुभव करता है, सह-अनुभूति आदि भावनाओं का पोषण करता है तथा सुख को और अधिक सुखमय बनाने के लिए उसका (दुःख का) उपयोग करता है। किन्तु ये सभी सुख के अनुसन्धान की ही विधियाँ हैं—इनसे दुःख की काम्यता सिद्ध नहीं होती, दुःख का इच्छापूर्वक या सोत्साह वरण सिद्ध नहीं होता । दुःख को आर्य सत्य मानने वाले दर्शन भी उसकी अत्यन्त विनिवृत्ति को ही परम पुरुपार्थ मानते हैं, और दुःख पर वलिहारी जाने वाले सन्त भी प्रकारान्तर से उसे प्रभु के नाम-स्मरण के सुख का ही साधन मानते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि दार्शनिक दृष्टि से दुःख का चाहे कितना भी महत्त्व-प्रतिपादन किया जाय, दुःख अन्तिम भोग्य नहीं हो सकता और इसलिए दुःख के लिए दुःख का आमन्त्रण तत्त्व-दृष्टि से भी सिद्ध नहीं होता । और फिर, सामान्य सहृदय तो न दार्शनिक होता है और न सन्त या सूफ़ी; उसकी सहृदयता तो सामान्य सवासन मानव होने में ही निहित है । इसलिए यह कल्पना करना कि दुःख के प्रति अनुरक्त होकर या दुःख-जन्य लाभ के लिए सहृदय करुण और भयानक प्रसंगों के कटु रस का ग्रहण करता है, लोकानुभव के विरुद्ध है; अतः असिद्ध है । प्रस्तुत सिद्धान्त के प्रवर्तक रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि करुणादि रसों का अनुभव तो प्रमाता को दुःखमय ही होता है, फिर भी वह कवि-कौशल और नट-कौशल के चमत्कार के प्रति आकृष्ट होकर काव्य का मनन अथवा नाटक का प्रेक्षण करता है—अर्थात् इस प्रकार के काव्य-नाट्य-प्रसंगों से प्राप्त आह्लाद रस नहीं—वरन् कवि-कौशल और नट-कौशल-जन्य चमत्कार मात्र है, जिसके कारण प्रमाता को काव्य-नाट्य-रस के आस्वाद में भी आह्लाद की भ्रान्ति हो जाती है । इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लेने पर काव्यकला के चमत्कार और रस के आस्वाद का स्पष्ट विच्छेद हो जाता है—दोनों की सर्वथा पृथक् स्थिति मानने को वाध्य हो

जाना पड़ता है जो प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों को अग्राह्य है। कारण स्पष्ट हैं : १. प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य में अभिव्यक्त स्थायी भाव की अनुभूति ही तो रस है और काव्य में स्थायी भाव की अभिव्यक्ति कवि-कौशल के बिना सम्भव नहीं—कवि-कौशल द्वारा अभिव्यक्त हुए बिना स्थायी भाव का रूप सर्वथा ऐन्द्रिय-मानसिक रहता है और उसकी अनुभूति रसानुभूति न होकर प्रत्यक्ष भावानुभूति होती है। अतः रसानुभूति में काव्यकला-जन्य चमत्कार अनिवार्यतः अन्तर्भुक्त रहता—उसके बिना रस की सिद्धि ही नहीं होती। २. वर्तमान मनोविज्ञान अथवा सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार भी भाव-तत्त्व और कला-तत्त्व के पृथक् अनुभव की कल्पना भी सर्वथा असंगत है। वस्तुरूप में भी दोनों की अविच्छिन्न स्थिति है—और अनुभूति रूप में तो पार्थक्य का प्रश्न एकदम नहीं उठता—दोनों की समञ्जित अनुभूति ही सौन्दर्यानुभूति या रस है।

इस प्रकार (करुणादि में) रस की दुःखात्मकता सिद्ध नहीं होती। उसके विरुद्ध निम्नलिखित प्रमाण हैं :

(क) सामान्यतः दुःख के प्रति घोर अप्रवृत्ति होने पर भी सामाजिक का करुण काव्य के प्रति आकर्षण दुःखानुभूति के कारण नहीं वरन् किसी न किसी रूप में सुखानुभूति के कारण ही होना चाहिए।

(ख) केवल कवि-कौशल अथवा/तथा नट-कौशल से प्राप्त चमत्कार इस आकर्षण का पर्याप्त कारण नहीं है, क्योंकि काव्य-नाट्य आदि में निरूपित उत्कट शोक अथवा भय से उत्पन्न क्लेश (यदि वास्तव में वह क्लेश ही है) इतना प्रबल होगा कि कवि-कौशल और नट-कौशल पृथक् अथवा समवेत रूप से भी उसका निराकरण नहीं कर सकते। सामान्य जन को तो इस कौशल का स्पष्ट परिज्ञान भी नहीं होता और सूक्ष्मचेता सहृदय के परितोष के लिए केवल कौशल अपर्याप्त रहता है।

(ग) इस मत को स्वीकार कर लेने पर रसानुभूति और कला की अनुभूति के पार्थक्य की असंगत कल्पना करनी पड़ती है जो न प्राचीन काव्यशास्त्र में मान्य है और न आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में।

(घ) रस-भेद से आस्वाद-भेद मान लेने पर रस की परम्परानुमोदित एकरूपता खण्डित हो जाती है। (किन्तु यह प्राचीन शास्त्रीय धारणा है—आधुनिक आलोचना-शास्त्र केवल परम्परा के कारण ही इसको मानने के लिए बाध्य नहीं हो सकता।)

अब लीजिए तीसरा और पाँचवाँ विकल्प। इनमें साम्य यह है कि दोनों ही रस को मिश्र अनुभूति मानते हैं। एक में केवल सुख-दुःख के मिश्रण की ही बात है : दूसरे में अनेक प्रकार के संवेदनों के सूक्ष्म सामंजस्य की। रस के उभयात्मक रूप की कल्पना भारतीय काव्यशास्त्र में विशेषतः कभी मान्य नहीं रही : वैसे प्रत्येक रस के अनेक संचारियों की कल्पना में इस प्रकार के संकेत निहित हैं। उदाहरण के लिए, शृंगार रस को ही लीजिए—उसका स्थायी भाव है रति और संचारियों में हर्ष, व्रीड़ा, गर्व आदि प्रीतिकर भाव ही नहीं, निर्वेद, चिंता, व्याधि, उन्माद जैसे दुःखात्मक भाव भी अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार रति निश्चय ही एक मिश्र भाव है—सुख और दुःख दोनों का विभिन्न अनुपात से मिश्रण होने के कारण

उसका स्वरूप निश्चय ही उभयात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान तर्क और प्रयोग से इ
सर्वथा सिद्ध कर चुका है। विस्मय और शम के ही नहीं, क्रोध, भय आदि के विषय में भ
यही सत्य है। किन्तु प्रश्न भाव के नहीं—रस के उभयात्मक स्वरूप का है। रस की प्रक्रि
में भाव के अनुरूप दुःख का होना स्वाभाविक है; परन्तु परिणति में भी दुःख का दंश रहत
है, यह मानना संगत न होगा क्योंकि दुःख की आंशिक स्थिति भी तो पाठक या प्रेक्षक क
काम्य नहीं हो सकती। दुःख मात्र से ही मनुष्य को अरुचि है—केवल मात्राभेद से दुःख क
काम्यता सिद्ध नहीं हो जाती। रिचर्ड्स के अनुसार काव्यास्वाद का स्वरूप इतना सरल न
है कि सुख या आह्लाद में उसे सीमित किया जा सके—वह कहीं अधिक जटिल और वैविध्य
पूर्ण है। उसमें अनेक प्रकार के संवेदनों का सूक्ष्म सामंजस्य रहता है अतः वह अधिक पू
है। प्रश्न फिर उठता है कि जटिलता और वैविध्य रस की प्रक्रिया में रहते हैं या परिणा
में—मेरा अपना मत है कि उनका सम्बन्ध प्रक्रिया से ही है। परिणति में तो अनेक संवेदन
के सूक्ष्म सामंजस्य की ही बात समझ में आती है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया में संवेदनों क
अनेकता स्वतः स्पष्ट है। भारतीय रसशास्त्र भी यह मानता है कि रस-निष्पत्ति की प्रक्रिय
में निश्चय ही वैविध्य है और जटिलता है—प्रमाता की चेतना अनेक सुखदुःखात्मक संवेदन
में होकर गुज़रती है। प्रसिद्ध भरत-सूत्र और उससे भी अधिक भरत द्वारा उसकी व्याख्य
इसका प्रमाण है :

**जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से [भोज्य] र
की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से षाडवादि र
बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी [नाट्य] रस रूप क
प्राप्त होते हैं।** (नाट्यशास्त्र, का० भा०, पृष्ठ ९३)

किन्तु परिणति की स्थिति में तो संवेदनों की अनेकता समन्वित होकर एकतान ह
जाती है—विविध संवेदनों का सामंजस्य मूलतः वविध्यपूर्ण होते हुए भी अन्ततः अनुभूति क
इकाई बन जाता है। विविध संवेदनों का आस्वाद विविध है; संवेदनों के वैविध्य क
आस्वाद भी मिश्र होगा : किन्तु उनके सामंजस्य का आस्वाद तो अखण्ड होगा और प्रीतिक
भी होगा क्योंकि—

१. सामंजस्य का अर्थ है अनेकता में एकता की स्थापना। अतः अनुभव का वैविध्
एकता में परिणत हो जाएगा; २. अनुभव के स्तर पर सामंजस्य का अर्थ है अन्तःवृत्तिय
की समाहिति या चित्त की समाहिति और चित्त की समाहिति यदि स्वयं आनन्दरूप नहीं त
उसकी भूमिका अवश्य है। अतः रिचर्ड्स 'आनन्द' का निषेध नहीं करते—वे सुख और आह्ला
का भी निषेध नहीं करते किन्तु काव्यास्वाद को केवल सुख या आह्लाद तक ही सीमित न
मानकर उससे कहीं अधिक उदात्त और अवदात मानते हैं। वास्तव में, भ्रांति का आधार है
अंग्रेजी का 'प्लेज़र' शब्द जो अपने आप में हलका और छिछला अनुभव है; 'आनन्द' क
स्वरूप उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उदात्त और अवदात है : 'आनन्द' शब्द को अपने समग्र
अर्थ में ग्रहण कर लेने पर यह विवाद कदाचित् मिट सकता है।

अब रह जाता है चौथा विकल्प : रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था का नाम है। यह

आचार्य शुक्ल की स्थापना है। शुक्लजी की व्याख्या के अनुसार इसके अन्तर्गत मुख्यत: तीन धारणाएँ निहित हैं : (क) वैयक्तिक रागद्वेष और उनके परिणामी सुख-दु:ख से मुक्ति; (ख) चित्त का वैशद्य; (ग) भावना का साधारणीकरण और तज्जन्य नैतिक परितोष। वास्तव में जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है शुक्लजी की यह स्थापना अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त से प्रभावित है। अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के दो प्रमुख पक्ष हैं—मनोवैज्ञानिक और नैतिक : मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरेचन का अर्थ है आवेश की निर्गति के उपरान्त चित्त का वैशद्य और नैतिक दृष्टि से विरेचन मानसिक स्वास्थ्य का वाचक है। डॉ० रिचर्ड्स ने वर्तमान मनोविज्ञान के प्रकाश में इसी की प्रेरणा से उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अन्त:-वृत्तियों के सामंजस्य और चित्त के वैशद्य अथवा हृदय की मुक्तावस्था में मौलिक भेद नहीं है। अन्त:वृत्तियों का सामंजस्य निश्चय ही चित्त को विशद करता है अर्थात् हृदय को राग-द्वेप-जन्य विकारों से मुक्त कर प्रकृतिस्थ करता है, इसमें संदेह नहीं—अथवा यों कहें कि चित्त के प्रकृतिस्थ होने का अभिप्राय ही यह है कि हमारी विभिन्न अन्त:वृत्तियाँ परस्पर समंजित हो जाती हैं। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वैशद्य या मुक्तावस्था का अर्थ है विकारों का अभाव अर्थात् वह अभावात्मक स्थिति है और अन्त:वृत्तियों का सामंजस्य भावात्मक स्थिति है—एक चित्त की निर्विकार या नीरोग अवस्था है और दूसरी मन की स्वस्थ दशा। परन्तु यह कदाचित् शब्दक्रीड़ा ही होगी—व्यवहार में नीरोगता और स्वास्थ्य में अन्तर करना बहुत ही कठिन हो जाएगा। हाँ, शुक्लजी की नैतिक कल्पना एक पग और भी आगे बढ़ जाती है, अर्थात् उनकी यह स्थापना और भी अधिक भावात्मक एवं धनात्मक बन जाती है कि व्यक्तिगत शोक, क्रोध आदि में जहाँ मोह-जन्य मलिनता रहती है, वहाँ व्यक्ति के संकुचित घेरे से बाहर, लोकमंगल से प्रेरित होकर, ये ही भाव एक अलौ-किक सौन्दर्य से मण्डित हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उक्त स्थिति या स्थितियाँ निरानन्द हैं ? मेरा विचार है—नहीं। इस प्रकार की स्थिति को हम आनन्द की भूमिका अथवा आनन्द का अभावात्मक (निगेटिव) रूप अवश्य मान सकते हैं—आनन्द से आप्लावित आत्मभोग तक चाहे यह न पहुँचे, पर आत्मविश्रान्ति से कदाचित् बहुत दूर नहीं पड़ती। रिचर्ड्स ने अपनी सामंजस्य-कल्पना में अन्त:वृत्तियों के कम-से-कम क्षय तथा अधिक-से-अधिक परितोष की सम्भावना का समावेश कर और उधर शुक्लजी ने लोकमंगल के सौन्दर्य की उद्भावना द्वारा अभावात्मकता का भी बहुत कुछ परिहार करने का प्रयत्न किया है; परन्तु अपनी मान्यताओं के पूर्वग्रह के कारण दोनों न केवल आनन्द शब्द को बचा ही गये हैं वरन् उसका निषेध भी करते रहे हैं। फिर भी, जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, इन दोनों आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट मन:स्थितियाँ—'हृदय की मुक्तावस्था' और 'अन्त:वृत्तियों की समाहिति'—निरानन्द नहीं मानी जा सकतीं : प्रत्यक्ष अनुभव इसका प्रमाण है।

अत: निष्कर्ष यही निकलता है कि रस की आनन्दरूपता के विरोध में प्रस्तुत सभी विकल्प या तो असिद्ध हो जाते हैं या प्रकारान्तर से आनन्द का ही संकेत करते हैं।

अन्त में, शास्त्रार्थ के प्रपंच में न पड़—एक विशिष्ट करुणकाव्य-प्रसंग के आस्वाद के विश्लेषण द्वारा, प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय करना अधिक समीचीन होगा। 'सत्यहरिश्चन्द्र'

नाटक में रोहित की मृत्यु पर शैव्या-विलाप का प्रसंग है। कवि अत्यन्त मार्मिक रीति से रोहित की अकाल मृत्यु तथा उसके शोक से संतप्त शैव्या के आर्त क्रन्दन का वर्णन करता है और सूत्रधार बालनट एवं नटी के अभिनय-कौशल तथा अन्य नाट्य-उपकरणों की सहायता से अत्यन्त सजीव रूप में उसे उपस्थित करता है। प्रेक्षागृह में जाकर सामाजिक इस प्रसंग का साक्षात्कार करता है। यह अनुभव किस प्रकार का है ? यही हमारा विवेच्य विषय है। इस प्रसंग में पहली बात तो यह है कि सामाजिक का मन सामान्यतः प्रकृतिस्थ है। नित्य-प्रति के जीवन के राग-द्वेष और हर्ष-विषाद से अपने को अलग कर एक उच्चतर अनुभव के प्रति उन्मुख होकर वह यहाँ आया है या उसे आना चाहिए। प्रेक्षागृह के नाट्य-प्रसाधन कल्पना को प्रवुद्ध कर व्यावहारिक जीवन के संसर्गों से मुक्त होने में उसकी सहायता करते हैं। फिर भी, रंगमंच पर जब वह सर्पदंश से अबोध राजकुमार की करुण मृत्यु का प्रेक्षण करता है तो निश्चय ही उसके मन में शोक का उदय होता है और वह एक प्रकार के क्लेश का अनुभव करता है। यह ठीक है कि यह विपत्ति सर्वथा व्यक्तिगत नहीं है; फिर भी, दूसरे के बालक की भी इस प्रकार मृत्यु देखकर हमें शोक ही होता है—मात्रा का भेद अवश्य है किन्तु वह अनुभव शोक का ही होता है—हम यह जानते हैं कि यह सब यथार्थ नहीं है किन्तु उस समय हम इस तथ्य को भूल जाते हैं—कवि और नट का कौशल हमें भूलने के लिए बाध्य कर देता है। तब भी, यह सब नग्न यथार्थ नहीं है वरन् कल्पना के रमणीय आवरण में लिपटा हुआ है; इसलिए नग्न यथार्थ के आघात की तीव्रता इसमें नहीं है। यह आघात निश्चय ही वास्तविक आघात की अपेक्षा कोमल है। किन्तु क्या प्रस्तुत काव्य-प्रसंग का आस्वाद यही है—अर्थात् क्या प्रेक्षक शोक के इस आघात से, चाहे वह अपेक्षाकृत कोमल ही क्यों न हो, संतप्त होकर रह जाता है ? कोई भी विवेकशील व्यक्ति यह मानने को तैयार न होगा कि सहस्रों वर्षों से प्रेक्षक-समाज सन्ताप भोगने के लिए काव्य का अध्ययन और नाटक का प्रेक्षण करता रहा है। अतः यह मानना ही होगा कि उक्त तात्कालिक क्लेश करुण रस का आस्वाद नहीं है वरन् परिपाक-प्रक्रिया का एक अंगमात्र है। यह क्लेश जिसका रामचन्द्र-गुणचन्द्र और शुक्लजी ने उल्लेख किया है तात्कालिक अनुभव है, परिणति नहीं है। प्रत्येक सफल कलाकृति का अध्ययन या प्रेक्षण करने के पश्चात् सहृदय अनिवार्यतः एक प्रकार के मनःप्रसाद और आत्म-परितोष का अनुभव करता है—मनःप्रसाद का अर्थ यह नहीं है कि वह हँसता हुआ (शुक्लजी के शब्दों में, दाँत निकालता हुआ) प्रेक्षागृह से लौटता है। कलाकृति जितनी उदात्त और गम्भीर होगी, प्रेक्षक को उतना ही गम्भीर आत्म-परितोष उससे प्राप्त होगा। किन्तु आत्म-परितोष के स्थान पर यदि उसे क्लेश या विक्षोभ होता है—वह कुंठित होकर लौटता है, तो यह मानना होगा कि कहीं न कहीं कोई त्रुटि रह गयी है—या तो कवि अपनी सामग्री (अपने कच्चे माल) की—प्रकृत करुणा और त्रास आदि की—कलात्मक परिणति में असफल रहा है, अर्थात् करुणा और त्रास की प्रकृत नग्नता का परिहार नहीं कर सका या सहृदय का मन किसी प्रकार के उत्कट पूर्वग्रह से ग्रस्त रहा है। प्लेज़र या आह्लाद से आपको चिढ़ है तो छोड़िए, परन्तु यह गम्भीर आत्म-परितोष भी निरानन्द नहीं है। करुणा और त्रास की परिणति मनःप्रसाद या आत्म-परितोष में कैसे होती है, यह

प्रश्न अभी हमारे सामने नहीं है—इसका विवेचन आगे करेंगे। अभी तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि रस-प्रक्रिया में सहृदय का मन अनेक अवस्थाओं में होकर गुज़रता है: स्थायी भाव के स्वरूप के अनुसार वह सुख या दुःख का अनुभव करता है, कल्पना के जागृत होने से उसमें एक प्रकार की स्वच्छन्दता की भावना का उदय होता है, उधर कला-तत्त्वों की अनुभूति सामंजस्य (परितोष), आह्लाद, विस्मय आदि को जन्म देती हैं और अन्त में इन सब की परिणति एक विशेष प्रकार की मनोदशा में होती है जो निश्चय ही परितोषकारी होती है। कलात्मक सर्जना की प्रक्रिया समंजन की प्रक्रिया है: करुण प्रसंगों के आस्वादन में सहृदय की चित्तवृत्ति शोक-त्रास आदि के अनुभव से कुछ क्षणों के लिए विक्षुब्ध होकर भी अन्ततः समंजित हो जाती है और चित्तवृत्ति का समंजन निश्चय ही एक सुखद स्थिति है। इस प्रकार करुण रस का आस्वाद शोक, त्रास आदि का आस्वाद न होकर उनकी कलात्मक परिणति का आस्वाद है—आस्वादन की इस प्रक्रिया में सहृदय को थोड़ा-बहुत कटु अनुभव भी होता है, परन्तु परिणति आत्म-परितोष या सुख में ही होती है।

अतः रस की अनुभूति प्रीतिकर ही है—वह आनन्दमयी चेतना ही है: विवाद शाब्दिक है तात्त्विक नहीं।

आनन्द का स्वरूप

किन्तु आनन्द के भी तो अनेक स्तर और रूप हैं। रस के आनन्द का क्या स्वरूप है? यह स्पष्ट किये बिना रस के स्वरूप की व्याख्या अधूरी ही रह जाएगी।

भारत के सभी प्राचीन तथा अनेक आधुनिक आचार्य और उधर पश्चिम के भी अनेक मनीषी रस को एक प्रकार का अलौकिक आनन्द या अनुभव मानते हैं। प्राचीन आचार्यों ने रस की अलौकिकता की सिद्धि अत्यन्त आग्रहपूर्वक और प्रबल तर्कों के आधार पर की है। उनके मत का सारांश इस प्रकार है:

लौकिक भाव और उनके विषय काव्य-निबद्ध हो जाने पर कारण-कार्य-सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं और उनका लौकिक रूप नष्ट हो जाता है। अलौकिक विषय का आस्वाद होने के कारण रस स्वयं भी अलौकिक ही होता है अर्थात् स्मृति, अनुमान, प्रत्यक्ष अनुभव आदि से भिन्न होता है: वह न कार्य है न ज्ञाप्य है, न सविकल्पक ज्ञान है और न निर्विकल्पक।

अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी अपने ढंग से प्रायः इसी तथ्य की आवृत्ति करते हैं:

वास्तविक संसार का [जिस अर्थ में कि हम इस वाक्यांश का सामान्यतः प्रयोग करते हैं] अंग होना या अनुकृति होना इसकी [काव्य] की प्रकृति नहीं है; यह तो एक [निराला ही] संसार है—अपने में स्वतन्त्र, पूर्ण और स्वायत्त।[१]

फलतः किसी कला-कृति का रसास्वादन करने के लिए हमें जीवन से कुछ भी साथ लाने की आवश्यकता नहीं है—न उसकी धारणाओं और कार्य-कलाप का ज्ञान आवश्यक है और न उसके मनोवेगों का परिचय ही:[२] इस संदर्भ में डा० रिचर्ड्स का मत है[3] कि

---

१ ऑक्सफ़र्ड लैक्चर्स ऑन पोइट्री—ब्रैडले, पृ० ५
२ आर्ट—क्लाइव बैल, पृ० २५
३ प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म—'पाश्चात्य सौन्दर्य-चेतना', पृ० १५

प्रस्तुत धारणा का उद्गम-स्रोत कांट का ग्रन्थ है; बाद में उसी के आधार पर हीगेल ने सौन्दर्य का सम्बन्ध आत्मवाद के साथ स्थापित किया और परवर्ती विचारकों ने—क्रोचे, वर्नन ली, ब्रैडले, बोसान्के, क्लाइव बैल आदि ने—सौन्दर्यानुभूति के विशिष्ट स्वरूप की एक सुनिश्चित प्रकल्पना ही प्रस्तुत कर दी : **सौन्दर्य की अनुभूति विलक्षण और विशिष्ट होती है।** इनमें से कांट और हीगेल तो इस विशिष्ट अनुभव को आनन्द रूप मानते हैं, किन्तु परवर्ती आलोचकों ने अपने नवोत्साह में आनन्द को या तो इस अनुभव की विधि मात्र माना है या इसे आनन्द से भी विलक्षण माना है। इस विलक्षणता या वैशिष्ट्य का आधार यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति तटस्थ, परोक्ष, अव्यक्तिगत, साधारणीकृत—और बौद्धिक तथा सामान्य ऐन्द्रिय या रागात्मक अनुभूतियों से भिन्न होती है। इस प्रकार प्रस्तुत सिद्धान्त के उत्साही प्रवर्तक काव्य की अनुभूति को वास्तव में लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही अनुभूतियों से भिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि अलौकिक और विशिष्ट या विलक्षण विशेषणों का भावार्थ प्रायः समान ही है। रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है—वह बौद्धिक अनुभूति नहीं है, प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूति भी नहीं है; व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त है, व्यक्ति-चेतना की सीमाओं से परे साधारणीकृत अनुभव है—जबकि अन्य जीवनगत अनुभूतियाँ प्रायः इन्हीं कोटियों में आती हैं अर्थात् या तो वे वैयक्तिक राग-द्वेष से लिप्त प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐन्द्रिय अथवा रागात्मक अनुभूतियाँ होती हैं या बौद्धिक अनुभूतियाँ। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने इसको अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पायी और पाश्चात्य विचारकों ने एक नवीन भावना 'सौन्दर्य-भावना' की कल्पना कर डाली।

आत्मा की सत्ता में विश्वास कर चलें तो अनुभूति और तदनुसार आनन्द के स्थूलतः चार भेद कर सकते हैं :
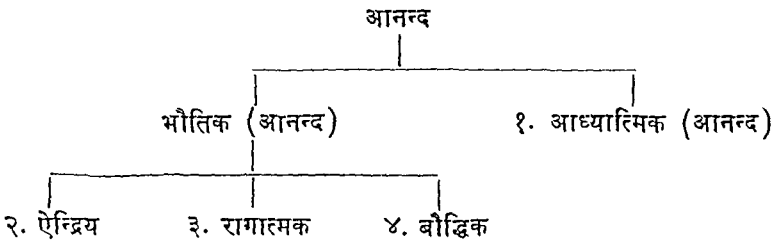
स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्थूल है, आत्यन्तिक नहीं है; क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार आध्यात्मिक या बौद्धिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से निरपेक्ष कैसे हो सकती है ? अथवा बुद्धि की सहायता के बिना हमारी इन्द्रियाँ या आत्मा कैसे क्रियाशील हो सकती है ? अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है—अनुभूति का कोई भी रूप सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए—प्रियजन के स्पर्श का आनन्द ऐन्द्रिय है, (प्रिय के

स्नेह का) आनन्द रागात्मक है, शास्त्र के किसी प्रश्न के समाधान का आनन्द बौद्धिक है और आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक।

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या किसी के अन्तर्गत नहीं आता—वह सर्वथा निरपेक्ष एवं विलक्षण है। संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने अलौकिक और अनिर्वचनीय कहकर उसकी विलक्षणता का प्रतिपादन अवश्य किया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने स्वरूप-विश्लेषण का प्रयास ही नहीं किया। रस-स्वरूप के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के विषय में दो मत प्राप्त होते हैं: भौतिकवादी और आत्मवादी। प्राचीनों में भरत और भट्टलोल्लट का तथा परवर्ती आचार्यों में जैन विद्वान् रामचन्द्र-गुणचन्द्र का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। भरत रस और उसके आस्वाद में भेद करते हैं: रस सुखदुःखात्मक भावों पर आश्रित कलात्मक स्थिति या सौन्दर्य-सृष्टि है और उसका आस्वाद हर्षादि-समन्वित एक प्रकार का प्रीतिकर अनुभव है। स्पष्टतः दोनों की ही स्थिति भौतिक है—रस भी इन्द्रियगम्य है और उसका आस्वाद भी ऐन्द्रिय है। भट्टलोल्लट रस को भावानुभूति से अभिन्न मानते हैं और काव्य के आस्वाद को चमत्कार रूप मानते हैं: रस के भोक्ता मूल नायकादि ही होते हैं; सहृदय उसका सादृश्य आदि के आधार पर नट पर आरोपण करता हुआ चमत्कार का अनुभव करता है। यहाँ रस का स्वरूप तो स्पष्टतः भौतिक है परन्तु नाट्य-कौशल आदि के कारण सहृदय द्वारा अनुभूत चमत्कार का क्या स्वरूप है यह कहना कठिन है। वह भी संदर्भ से भौतिक ही प्रतीत होता है, किन्तु उपयुक्त प्रमाण के अभाव में निश्चयपूर्वक ऐसा ही मान लेना कदाचित् समीचीन नहीं होगा। जैन आचार्यों का मत सर्वथा निर्भ्रान्ति है। उनके अनुसार रस सुखदुःखात्मक अनुभव है; श्रोता या प्रेक्षक उसी का आस्वादन करता है यद्यपि इस आस्वाद में काव्य-कौशल और नाट्य-कौशल-जन्य चमत्कार का भी मिश्रण हो जाता है। अतः उनके अनुसार काव्यानुभूति निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभूति है, और वह सर्वदा आनन्दरूप नहीं होती।

आत्मवादी मत निश्चय ही आनन्दवादी है और यही भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि मत है। इस मत के अनुसार रस=काव्यानन्द ऐन्द्रिय आनन्द या विषयानन्द नहीं है, वह आत्मानन्द के अत्यधिक निकट है यद्यपि शुद्ध आत्मानन्द भी वह नहीं है। काव्यानन्द में रत्यादि भावों की भूमिका रहती है अतः विषयानन्द से सर्वथा असंस्पृष्ट वह नहीं है; किन्तु ये भाव विशुद्ध अर्थात् साधारणीकृत होने के कारण रागद्वेष से मुक्त होते हैं। अतः काव्यानन्द में मृण्मय अंश कम और चिन्मय अंश अधिक होता है। चिन्मय अंश का प्राधान्य होने से वह आत्मानन्द के निकट तो पहुँच जाता है किन्तु रत्यादि की भूमिका के कारण वह अस्थायी और सोपाधि ही रहता है—स्थायी और निरुपाधि नहीं बन पाता। इस प्रकार काव्यानन्द की स्थिति मध्यवर्ती है: वह विषयानन्द की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं चिन्मय है और आत्मानन्द की तुलना में स्थूल तथा अस्थायी है। वास्तव में भारत के आनन्दवादी दर्शनों में आनन्द को प्रत्येक स्थिति में आत्मास्वाद रूप ही माना गया है—विषयानन्द में भी आनन्दतत्त्व आत्मास्वाद का ही वाचक है और काव्यानन्द में भी आनन्द का अर्थ स्पष्टतः विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मभोग ही है। अतः काव्यानन्द आत्मानन्द से प्रकृति या प्रकार की दृष्टि

से नहीं, गुण की दृष्टि से भिन्न है और विलक्षण केवल इसी अर्थ में है कि न तो वह विषयानन्द है और न शुद्ध आत्मानन्द ही।

पश्चिम में काव्यास्वाद के स्वरूप का इतिहास काफ़ी रोचक रहा है। प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानते हुए दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करते हैं—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उन्होंने सौन्दर्यानुभूति से (जिसे वे आत्मा का अनुभव मानते हैं) पृथक्—ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर, मिथ्या निम्नकोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है :

सोक्रेतस (सुकरात)—इनमें से कुछ कला-प्रक्रियाएँ ऐसी होती हैं जो आत्मा के परम कल्याण का विधान करती हैं; अन्य × × × कल्याण की अवज्ञा करके केवल सुख और उसकी सिद्धि के उपाय की ओर ही ध्यान देती हैं, यह विचार नहीं करतीं कि कौनसा आनन्द सत् है, कौनसा असत्।

× × ×

सोक्रेतस— × × × क्या उसका (त्रासदी का) एकमात्र प्रयोजन और लक्ष्य प्रेक्षकों को सुख प्रदान करना ही होता है या वह उसका (सुख का) विरोध करती है और उनके मधुर पापों का कथन न करके शब्दों और गीतों द्वारा स्वेच्छापूर्वक प्रिय एवं अप्रिय सत्यों का आख्यान करती है ? तुम्हारे विचार से उसका क्या स्वभाव है ?

कल्लिक्लेस—सोक्रेतस ! इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि त्रासदी सामाजिक के सुख और परितोष की ओर ही उन्मुख रहती है।

सो०—और कल्लिक्लेस ! क्या यह वैसी ही वस्तु नहीं जिसे हमने अभी-अभी चाटुक्रिया (मिथ्या परितोष) शब्द से अभिहित किया है ? (गोरगिअस, पृष्ठ ५०१-५)

अरस्तू ने भी काव्य के आनन्द को आध्यात्मिक न मानकर लौकिक ही माना है, परन्तु प्लेटो की तरह असत् अथवा अस्वस्थ कहकर उसकी गर्हणा नहीं की। उनके अनुसार काव्य का आनन्द आध्यात्मिक आनन्द नहीं है, प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय आनन्द नहीं है और बौद्धिक आनन्द भी नहीं है—वह प्राकृत जीवन के अन्तर्गत ही प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञान का नहीं कल्पनात्मक प्रत्यभिज्ञान का अर्थात् यह आनन्द प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय-मानसिक आनन्द की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। अठारहवीं शती के अंग्रेज़ आलोचक एडिसन ने इसे ही 'कल्पना का आनन्द' कहा है। कल्पना के इस (गौण) आनन्द को वे सर्वत्र ही **मन की उस क्रिया का परिणाम मानते हैं जो मूल वस्तुओं से उत्पन्न विचारों (मानस-बिम्बों) की, इन वस्तुओं की मूर्ति, चित्र अथवा संगीतात्मक अभिव्यंजना से उत्पन्न विचारों (मानस-बिम्बों) के साथ, तुलना करती है।** यह उद्धरण निश्चय ही अरस्तू के वाक्य की व्याख्या है—एडिसन ने अरस्तू की अनिश्चित विवेचना को पारिभाषिक शब्दावली में बाँध दिया है।[1]

प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् प्लेटो की ही ज्ञात-अज्ञात प्रेरणा से यूरोप में क्रमशः 'आध्यात्मिक सौन्दर्य' की परिकल्पना का विकास हुआ। क्रोचे ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐस्थेटिक'

---

[1] देखिए : अरस्तू का काव्यशास्त्र—भूमिका, पृ० ३७

में इसे 'रहस्यवादी सौन्दर्य-दर्शन' कहा है। इसका स्पष्ट प्रतिपादन सबसे पहले यूनानी-रोमी विद्वान् प्लोटिनस ने किया। उसके मंतव्य का सारांश इस प्रकार है : **प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रान्त है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ज्ञान की अनुकृति है, इसलिए अनुकृति की अनुकृति होने के कारण कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का।**[1] यह रहस्यवादी अथवा आध्यात्मिक सौन्दर्य-दर्शन अन्धकार युग में धर्म के रंग में रँग गया और कला का दर्शन तथा धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया। कई शताब्दियों बाद जब यूरोप में जर्मन अध्यात्मवाद का उद्भव और विकास हुआ तो सौन्दर्य एवं कला की भी अध्यात्मपरक गहन व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं—कांट, शिलर, हीगेल आदि ने इस सिद्धान्त के विकास में पूर्ण योगदान किया। इन दार्शनिकों के सूक्ष्म सैद्धान्तिक भेदों की विवेचना करना यहाँ न अभीष्ट है और न संगत : सामान्यतः इन सभी का स्पष्ट मत था कि कला (या सौन्दर्य) की सर्जना आध्यात्मिक क्रिया है : **इस प्रकार सौन्दर्य आत्मा की (मूर्त) इन्द्रियगम्य अभिव्यक्ति का नाम है।**[2] इस रूप में पारिभाषित सौन्दर्य की चर्वणा भी स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति ही होनी चाहिए। अतएव इस वर्ग के विचारकों के मत से काव्य का आस्वाद आध्यात्मिक अनुभूति है और यह अनुभूति निश्चित रूप से आनन्दमयी है। कांट के शब्दों में यह एक ऐसा अतीन्द्रिय एवं सार्वभौम आनन्द है जो एक ओर योग-क्षेम की भावनाओं से मुक्त है और दूसरी ओर बौद्धिक धारणाओं से।[3]

कालान्तर में इस अध्यात्मवादी सौन्दर्य-दर्शन का विरोध हुआ और मार्क्स तथा फ़ायड के युगान्तरकारी सिद्धान्तों के प्रकाश में सौन्दर्य और उसकी अनुभूति की अत्यन्त प्रबल शब्दों में भौतिकवादी व्याख्याएँ की गयीं। मार्क्सवाद के अनुसार कला की अनुभूति आर्थिक हितों से अनुशासित भौतिक अनुभूति है और उधर फ़ायड के मत से वह कामप्रेरित ऐन्द्रिय आस्वाद है। बीसवीं शती में भी अनेक काव्य-सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ जिनके द्वारा काव्यानुभूति के स्वरूप के बौद्धिक, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्यान प्रस्तुत किये गये—परन्तु वे प्रायः सभी उपर्युक्त धारणाओं के ही रूपान्तर हैं। हाँ, क्रोचे का 'सहजानुभूति' सिद्धान्त थोड़ी-सी नवीनता लेकर आया। उनके मत से आत्मा की दो क्रियाएँ हैं **१. विचारात्मक और २. व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो रूप हैं : ज्ञान स्वयंप्रकाश्य होता है अथवा प्रमेय; कल्पना द्वारा प्राप्त ज्ञान अथवा प्रमा द्वारा प्राप्त ज्ञान; व्यष्टि (विशेष) का ज्ञान अथवा समष्टि (सामान्य) का ज्ञान; विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान, अथवा उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान : वास्तव में ज्ञान या तो बिम्ब का उत्पादक होता है या धारणा का।**[4]

कला का सम्बन्ध ज्ञान के प्रथम भेद अर्थात् स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है—इसी का नाम सहजानुभूति भी है : कला सहजानुभूति ही है। इस प्रकार क्रोचे के अनुसार भी कला एक

---

[1] देखिए—ऐस्थेटिक (क्रोचे) १९५३, पृ० १६८

[2] ऐस्थेटिक (क्रोचे)-१९५३, पृ० २९९

[3] वही, पृ० २८०

[4] वही, पृष्ठ १४

प्रकार की आध्यात्मिक क्रिया है जो आत्मा की विचारात्मक प्रवृत्ति अथवा ज्ञान का ही अंग है। कला अर्थात् सहजानुभूति का आस्वाद कलाकार के लिए आनन्दमय होता है—और जब वह मूर्त रूप धारण कर लेती है तो स्वभावतः उस मूर्त रूप का आस्वाद भी सामाजिक के लिए आनन्दमय होता है। अतः यहाँ कला या काव्य के आस्वाद को मूलतः आध्यात्मिक मानते हुए भी राग की अपेक्षा कल्पना पर ही आश्रित माना गया है और क्रोचे की यह परिकल्पना वस्तुतः अध्यात्मवादी दार्शनिकों तथा अरस्तू की धारणाओं का समन्वित रूप है।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप काव्यानन्द अथवा 'रसास्वादन-समुद्‌भूत आनन्द' के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त प्राप्त होते हैं :

१. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय-मानसिक आनन्द है। प्राचीनों में प्लेटो ने और नवीन विचारकों में मार्क्स तथा फ्रायड ने अपने-अपने ढंग से इस मत का प्रतिपादन किया है।

२. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द का ही एक रूप है : संस्कृत के प्रतिनिधि आचार्यों का—अभिनव, मम्मट, जगन्नाथ आदि का—और उधर पश्चिम के अध्यात्मवादी विचारकों का यही मत है।

३. काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है : अरस्तू से प्रेरित होकर एडिसन् ने अठारहवीं शती में इस मत का प्रवर्तन किया। बीसवीं शती में क्रोचे ने इसी को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत कर सहजानुभूति का आनन्द माना।

४. काव्य का आनन्द सभी प्रकार के लौकिक (और आध्यात्मिक) अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द है जो सर्वथा निरपेक्ष है। यों तो यह सिद्धान्त काफ़ी पुराना है, परन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के आरम्भ में ब्रैडले, क्लाइव बैल आदि कलावादियों ने इसकी व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठा की है। यद्यपि यह सिद्धान्त भी कुछ-कुछ रहस्यवादी प्रकृति में रँगा हुआ है और रिचर्ड्स ने इस पर कांट तथा हीगेल आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी माना है, तथापि 'विलक्षण अनुभूति' और 'आध्यामिक अनुभूति' को एक मानना उचित नहीं होगा क्योंकि यह 'विलक्षण अनुभूति' केवल लौकिक आनन्द से ही नहीं आध्यात्मिक आनन्द से भी तो विलक्षण है।

काव्यानन्द या रस का स्वरूप-निर्णय करने के लिए इन चारों सिद्धान्तों का परीक्षण आवश्यक है। अन्तिम सिद्धान्त से ही आरम्भ करना उपयोगी होगा। विलक्षणता के पक्ष में जितने तर्क दिये गये हैं वे यह तो सिद्ध कर देते हैं कि काव्य का आस्वाद भाव के आस्वाद—प्रत्यक्ष या परोक्ष ऐन्द्रिय-रागात्मक अनुभूति से भिन्न है, शुद्ध बौद्धिक अनुभव—समस्या के समाधान, अनुमान, प्रमाण आदि के अनुभव से भी भिन्न है और उधर शुद्ध आत्मानन्द—योग आदि के आनन्द—से भी भिन्न है। परन्तु उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह सामान्य जीवनगत अनुभव नहीं है—इस लोक का अनुभव नहीं है। उसमें ऐन्द्रिय तत्त्व है, बौद्धिक तत्त्व का भी एकान्त अभाव नहीं है और आत्मा के विश्वासियों के अनुसार आत्मानुभव का भी अस्पर्श नहीं है। इस अनुभव के स्वरूप का संघटन अन्य अनुभूतियों से भिन्न अवश्य है परन्तु उसके आधार-तत्त्व सर्वथा विलक्षण नहीं हैं; अतः वह प्रकार में

भिन्न होने पर भी स्वभाव में एकान्त भिन्न नहीं है। तटस्थ अनुभव या व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त साधारणीकृत अनुभव भी तो ऐन्द्रिय-रागात्मक अनुभव का ही परिष्कृत रूप है। जैसा कि डॉ० रिचर्ड्स ने लिखा है, काव्यानुभूति की सम्पूर्ण प्रक्रिया में हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि ही माध्यम रहते हैं—अतः जब तक हम सौन्दर्य के आस्वाद के लिए किसी अतिरिक्त इन्द्रिय-विशेष की सिद्धि न कर लें, तब तक सौन्दर्य-चेतना को विलक्षण भाव या अनुभूति मानना असंगत होगा। इस तर्क से विलक्षणतावादियों का मत सहज ही असिद्ध हो जाता है।

काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है—यह मत केवल अंशतः ठीक है। काव्यानन्द में भाव की भूमिका भी अनिवार्यतः रहती है, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की यहाँ उपेक्षा कर दी गयी है। काव्य का आधार मूलतः हमारा रागात्मक जीवन है—कल्पना उसका माध्यम है और अनिवार्य माध्यम है, इसमें सन्देह नहीं; फिर भी, केवल कल्पना के आधार पर काव्य के स्वरूप का निर्माण सम्भव नहीं है। अतः काव्य का आस्वाद भी केवल कल्पना का आस्वाद नहीं हो सकता। काव्य के क्षेत्र से बाहर भी ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में कल्पना का प्रचुर उपयोग होता है—विज्ञान के आविष्कारों में कल्पना का जितना प्रयोग है उतना और कहाँ हो सकता है? किन्तु इस प्रकार की अनुभूतियों का तो काव्यास्वाद से कोई वास्ता नहीं। इसके अतिरिक्त, कल्पना भी तो मन और बुद्धि की ही क्रिया है; अतः कल्पना का आनन्द भी मानसिक-बौद्धिक आनन्द की परिधि में ही आ जाता है: वह आनन्द का कोई नवीन भेद या प्रकार नहीं है।

काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द का ही एक रूप है। वास्तव में इस मन्तव्य के विषय में तर्क करना अपेक्षाकृत कठिन है क्योंकि आत्मा की सत्ता एवं स्वरूप ही विवादास्पद हैं। भारतीय रस-सिद्धान्त के मूल-स्रोत शैव-दर्शन के अनुसार आनन्द आत्मा का ही स्व-रूप है, अतः प्रत्येक स्थिति में आनन्द आत्मपरामर्श अथवा आत्मास्वाद रूप ही होता है: विषयानन्द में भी आनन्द-तत्त्व आत्मास्वाद का ही पर्याय है। इस प्रकार, जैसा कि हम अन्यत्र स्पष्ट कर चुके हैं, ऐन्द्रिय और आत्मिक आनन्द का भेद प्रकृति का नहीं गुण का भेद है—और विषयानन्द, काव्यानन्द तथा आत्मानन्द में शुद्धता की मात्रा का ही अन्तर रह जाता है। वेदान्त का मत थोड़ा भिन्न है—उसके अनुसार ऐन्द्रिय आनन्द मिथ्या है, मायाजन्य भ्रान्ति मात्र है: आत्मज्ञान आत्मा की शुद्ध निरुपाधि स्थिति—निर्वितर्क ज्ञान का ही नाम है। पाश्चात्य अध्यात्मवादी दार्शनिक प्रायः आत्मानुभूति को अतीन्द्रिय अनुभव मानते हैं—किन्तु वे भी इन्द्रियों के संसर्ग का निषेध नहीं करते—उनका मत यही है कि आत्मानुभव में ऐन्द्रिय संसर्ग अन्ततः छूट जाते हैं और शुद्ध निर्विकार स्थायी आनन्द की स्थिति शेष रह जाती है।

उपर्युक्त व्याख्याओं के प्रकाश में यह तो सर्वथा स्पष्ट ही हो जाता है कि काव्यानन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं है और वस्तुतः ऐसा किसी ने एकदम माना भी नहीं है—दोनों में प्रकृति का भेद न मानते हुए भी गुण का भेद तो अवश्य माना ही गया है। आत्मानन्द जहाँ शुद्ध आत्म-तत्त्व का भोग है, वहाँ काव्यानन्द में भौतिक जीवन की भूमिका अवश्य बनी रहती है। साधारणीकृत भाव-भूमिका भी अभौतिक नहीं है: उसमें व्यक्तिगत रागद्वेष से

मुक्ति के फलस्वरूप भाव का परिष्कार है, उन्नयन है—परन्तु यह स्थिति भी अभौतिक या अतीन्द्रिय क्यों है ? इसका अनुभव भी तो मन ही करता है। काव्य का आनन्द प्रत्यक्ष स्थायी भाव का आस्वाद नहीं है—काव्य-निबद्ध या काव्य द्वारा परिशुद्ध स्थायी भाव का आस्वाद है। अब प्रश्न यह है कि क्या स्थायी भाव काव्य-निबद्ध होकर, या प्रमातृचेतना में काव्य के प्रभाव से व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर, आध्यात्मिक अनुभूति में परिणत हो जाता है ? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है क्योंकि काव्य की रचना या अनुभूति की क्रिया आत्मा की क्रिया नहीं है—कम से कम उस अर्थ में तो नहीं ही है जिस अर्थ में कि योग-साधन या ब्रह्म-चिन्तन आदि हैं। ऐसी स्थिति में काव्य-निबद्ध या काव्य-प्रेरित स्थायी भाव के आस्वाद को भी आध्यात्मिक आनन्द नहीं कहा जा सकता। अर्थात् काव्यानन्द प्रचलित अर्थ में आत्मानन्द का पर्याय या उसका रूप विशेष नहीं है। वस्तुतः इस स्थापना के लिए सामान्य अनुभव से बढ़कर और क्या प्रमाण होगा ? यदि हम यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक अनुभूति आत्मा की ही अनुभूति है और आनन्द के सभी प्रकार आत्मानन्द के ही रूप हैं, तब तो सारा भेद ही मिट जाता है। किन्तु यदि हम आनन्द के विभिन्न रूपों और स्तरों में भेद करते हैं, तब फिर काव्यानन्द को अत्यन्त उदात्त और अवदात अनुभव मानने पर भी आत्मानन्द-रूप नहीं माना जा सकता।

अब पहला विकल्प शेष रह जाता है : काव्य का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है। प्लेटो ने उसे प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय आनन्द माना—किन्तु उनका यह मत काव्य-सत्य तथा वस्तु-सत्य की भ्रांति पर आश्रित था और इसका हम सतर्क खण्डन कर चुके हैं। तब भी, प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय या लौकिक अनुभव न होने पर भी, काव्य का आनन्द लौकिक जीवन की ही अनुभूति है—इस स्वतःस्पष्ट तथ्य का निषेध कैसे किया जा सकता है ? भक्ति और रहस्यवाद को छोड़कर काव्य के समस्त विषय लौकिक ही होते हैं, उसके उपकरण—भाव, कल्पना, बुद्धि आदि तत्त्व भी लौकिक ही है; उधर उसके आस्वाद के माध्यम चक्षु-श्रोत्र तथा मन-बुद्धि भी लौकिक हैं और आस्वादयिता भी सवासन सामाजिक ही होता है, भक्त या योगी नहीं। ऐसी स्थिति में काव्यानन्द लोक-बाह्य एवं अतीन्द्रिय अनुभूति नहीं है, यह निर्विवाद है। अर्थात् वह लौकिक—ऐन्द्रिय-मानसिक—अनुभूति ही है और, जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, उसका आधार भाव है। अतः मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही उसका स्वरूप-निर्णय करना होगा।

एक उदाहरण लेकर इस प्रसंग का विवेचन करना अधिक उपयोगी होगा :

अस कहि फिर चितये तेहि ओरा। सियमुख-ससि भये नयन चकोरा।
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥
देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।
जनु बिरंचि, सब निजु निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृहँ दीपसिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥

(रा० च० मा०, बालकाण्ड—दोहा, २२९-२३०)

यह रामचरितमानस का जनकवाटिका-प्रसंग है। इसका मनन कर मुझे निश्चय ही आनन्द का अनुभव होता है : प्रसंग शृंगार का है और मेरे इस आनन्द का प्रेम (रति) भाव के साथ निश्चित सम्बन्ध है अर्थात् मेरा मन रति-भाव के अनुभव में से गुज़रता हुआ आनन्द का आस्वाद करता है। किन्तु फिर भी इस आनन्द में और प्रत्यक्ष प्रिय-मिलन (रति-भाव) के आनन्द में स्पष्ट भेद है इसमें सन्देह नहीं। मैं इस भेद का अनुभव करता हूँ, प्रत्येक सहृदय इसका अनुभव करता है। यह भेद किस प्रकार का है ? जीवनगत रति का अनुभव प्रत्यक्ष है और व्यक्तिगत रागद्वेप से आविष्ट है, अतः अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है, काव्य-निबद्ध रति (शृंगार रस) का अनुभव प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभव नहीं है, व्यक्तिगत रागद्वेप से आविष्ट भी नहीं है—अतः उतना तीव्र भी नहीं है। इस अनुभव के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए काव्यास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण आवश्यक है। जब मैं उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ता हूँ तो पहले शब्द और लय का संगीत मेरे चित्त का अनुरंजन करता है, फिर प्रायः असंलक्ष्यक्रम रीति से अर्थ-वोध होता है; इसके बाद काव्य-भापा के कल्पनात्मक तत्त्वों (लक्षणा-व्यंजना) के प्रभाव से मेरी कल्पना सक्रिय हो जाती है—सीमित अर्थ-बोध (अभिधार्थ) के बंधन टूट जाने से अनेक प्रकार के संस्कार-चित्र उभर आते हैं, विभिन्न संचारियों से परिवृत मेरा अपना रति-भाव उद्‌वुद्ध हो जाता है जो किसी वास्तविक व्यवित के प्रति उन्मुख न होने के कारण वैयक्तिक रागद्वेप से मुक्त होता है और अंततः इस सम्पूर्ण अनुभव-प्रक्रिया की परिणति एक सुखद अनुभूति में हो जाती है। स्पष्टतः यह सुखद अनुभूति प्रत्यक्ष रति-भाव का आनन्द नहीं है, परोक्ष रति-भाव अर्थात् रति-भाव की स्मृति का भी आनन्द नहीं है, क्योंकि कल्पनागत अनुभूति होने पर भी स्मृति व्यवितगत रागद्वेष से निश्चय ही आलिप्त रहती है और इसलिए स्वरूपतः सुखदुःखात्मक होती है;—साथ ही यह रति-भाव के सफल विवेचन का भी आनन्द नहीं है क्योंकि यह मूलतः बुद्धि की क्रिया नहीं है। यह वास्तव में एक प्रकार का समंजित आस्वाद है जिसमें ऐन्द्रिय, रागात्मक और बौद्धिक तत्त्वों का लवण-नीर संयोग रहता है। "अव एक शब्द रह जाता है—अनुभूति—जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेपण करने पर हमारे हाथ में केवल संवेदन (सेंसेशन्स) रह जाते हैं : जिनको वास्तव में हम अपने मनोजगत् के अणु-परमाणु कह सकते हैं। शारीरिक रूप में ये प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं, मानसिक रूप में ये सूक्ष्म और प्रतिविम्ब-रूप होते हैं और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते हैं अर्थात् इनके प्रतिविम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि ये लगभग अरूप ही से लगते हैं। उनका रूप नहीं, केवल अन्वितिसूत्र ही रह जाता है : जैसे बहुत वारीक ज़ंजीर की कड़ियाँ नहीं दिखायी पड़तीं केवल सूत्र ही दिखायी पड़ता है। इस प्रकार वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपों में मूलतः संवेदन-रूप ही है, उसमें [शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपों में] केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है मूलगत प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द संवेदन-रूप ही है, परन्तु ये संवेदन स्थूल एवं प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और प्रतिविम्ब-रूप होते हैं। साधारण रूप में प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के संवेदनों की कल्पना कर सकते हैं—१. एक तो शुद्ध

प्राकृतिक संवेदन (ये एकान्त प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते हैं), जो, उदाहरण के लिए, हमें अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। २. दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं—ये मानो पहले प्रकार के संवेदनों के प्रतिबिम्ब-रूप हैं। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष तथा स्थूल कम और आन्तरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३. तीसरे वे संवेदन जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते हैं। ये मानो प्रतिबिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त आंतरिक एवं सूक्ष्म होते है। वास्तव में, इनका स्थूल शारीरिक अंश प्रायः नष्ट ही हो जाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हमें इसी प्रकार के संवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन में प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं, परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से [क्रोचे के शब्दों में उसकी सहजानुभूति से और, साधारण व्यावहारिक शब्दावली में, उसको काव्यरूप में उपस्थित या ग्रहण करने से] प्राप्त होते हैं। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव; स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है और उसी अनुपात से इसके संवेदन भी एक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते हैं। इस प्रकार, काव्य से प्राप्त संवेदनों की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती; और, इसीलिए—वह पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है।"[1]

[1] रीतिकाव्य की भूमिका से उद्धृत

(ग) करुण रस का आस्वाद

यह सिद्ध हो जाने के बाद कि रस का आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दरूप होता है, एक प्रश्न स्वभावतः ही सामने आता है : करुणादि रसों का आस्वाद प्रीतिकर कैसे हो जाता है ?—और यह भी काव्यशास्त्र का अत्यन्त मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यद्यपि भारतीय आचार्यों के लिए यह प्रश्न कभी अधिक विवादास्पद नहीं बना, फिर भी इसके प्रति निश्चय ही वे सजग थे और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने अपने ढंग से इस पर विचार किया है। उनके तर्कों का समग्र रूप में अध्ययन करने के उपरान्त अनेक गम्भीर समाधान हमारे सामने उपस्थित होते हैं :

(१.) काव्य की सृष्टि नियतिकृत नियमों से रहित नानाचमत्कारमयी है; काव्य-रस अलौकिक होता है; अतः लौकिक कार्य-कारण-सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य नहीं है। दुःख से दुःख की उत्पत्ति तो लौकिक नियम है; किन्तु कवि की अलौकिक प्रतिभा के स्पर्श से काव्य में दुःख से सुख की उत्पत्ति भी सहज सम्भव हो जाती है—यही काव्य की अलौकिकता है :

(क) हेतुत्वं शोकहर्षादिर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ॥
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ साहित्यदर्पण ३.६-७

—अर्थात् लोक (जगत्) के संश्रय (स्वभाव) से शोकहर्षादि के कारण रूप से प्रसिद्ध, वनवासादि से लोक में लौकिक शोक आदि भले ही पैदा हुआ करें, परन्तु काव्य से सम्बन्ध होने पर वे कारण अलौकिक विभाव कहलाते हैं। अतः उन सबसे सुख ही होता है, यह मानने में क्या क्षति है ? (विमला टीका, पृ० ५२-५३)

(ख) अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति ।

—यह अलौकिक व्यापार (व्यंजना) की महिमा है कि उसके द्वारा अभिव्यक्त अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं।

(रसगंगाधर—चौखम्बा वि० भ०, प्र० आ० पृ० १०६)

यह मूलतः वही तर्क है जिसे पश्चिम के कलावादियों ने—ब्रैडले, क्लाइव बैल आदि ने बीसवीं शती के आरम्भ में पुनः प्रस्तुत किया है—पहले तो यह अनुभव अपना उद्देश्य आप ही है, अपने ही लिए इसकी स्पृहा की जा सकती है, इसका अपना निजी मूल्य है। दूसरे, काव्य की दृष्टि से इसके इस निजी मूल्य का ही महत्त्व है। × × × क्योंकि सामान्य अर्थ में वस्तु-जगत् का एक अंग होना या उसकी अनुकृति होना इसका स्वभाव नहीं है, यह तो अपने आप में ही एक दुनिया है—स्वतन्त्र, स्वतःपूर्ण और स्वायत्त ।

—ब्रैडले, ऑक्सफ़र्ड लेक्चर्स, पृ० ५

यह ठीक है कि इन आलोचकों ने 'आनन्द' का प्रयोग न कर 'आस्वाद' (अनुभव) शब्द का ही प्रयोग किया है, किन्तु जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट[1] किया है, ये कलावादी या सौन्दर्यवादी आलोचक मूलतः आनन्दवादी ही थे।

प्रस्तुत समाधान रस की अलौकिकता पर आश्रित है और उसी की सिद्धि-असिद्धि पर इसकी मान्यता निर्भर करती है। इसमें सन्देह नहीं कि पुराकाल से कवि के व्यक्तित्व एवं प्रतिभा, तज्जन्य काव्य और उसके आस्वाद-रस—सभी के लिए, व्यवहार में, 'अलौकिक' विशेषण का प्रयोग होता आया है—प्राचीन काल में यूनान, रोम आदि में और इधर भारत में भी कवि को दैवी शक्तियों से विभूषित माना जाता था—स्वयं प्लेटो ने दिव्य प्रेरणा के सिद्धान्त पर बल दिया है। परन्तु आज उसे हम लक्ष्यार्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं, वाच्यार्थ में नहीं। वस्तुतः कवि-प्रतिभा और सामान्य मानव-प्रतिभा, काव्य और अन्य बौद्धिक कर्म तथा काव्य-रस एवं जीवन-रस के अन्य रूपों में—विशेषतः मानसिक और बौद्धिक रस में—गुण का ही अन्तर है, प्रकृति का नहीं। अतः यह तो सर्वथा मान्य है कि काव्यगत शोक स्थायी भाव का अनुभव लौकिक शोक के अनुभव से भिन्न है—किन्तु वह अलौकिक नहीं है, प्रत्यक्ष शोकानुभव न होने पर भी लौकिक अनुभव की कोटियों में ही वह भी आ जाता है; न वह किसी अलौकिक शक्ति का चमत्कार ही है क्योंकि सामान्य शोक को काव्यगत 'शोक स्थायी' में परिणत करने वाली कवि-प्रतिभा भी कोई अपार्थिव शक्ति नहीं है।

(२) दूसरा समाधान अपेक्षाकृत गम्भीर है। भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—विशेषकर भट्टलोल्लट के सिद्धान्त—प्रतीतिवाद—का खण्डन करने के लिए यह तर्क दिया है :

स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्।

—अर्थात् यदि रस की स्वगत रूप में (सामाजिक द्वारा) प्रतीति मानी जाए तो करुण रस में दुःख की अनुभूति स्वीकार करनी होगी।

इसका आशय यह हुआ कि करुण रस का आस्वाद दुःखमय नहीं हो सकता। अतः प्रतीति का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है : यह मान लेने पर कि रस की प्रतीति होती है, करुण रस के सुखमय आस्वाद की समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के बाद भट्टनायक अपने मतानुसार उक्त समस्या का समाधान करते हैं :

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो……भोगेन परं भुज्यते।[2]

काव्य में भावकत्व का अर्थ है शब्दार्थ को दोषमुक्त तथा गुणालंकारयुक्त करने वाला व्यापार अर्थात् 'काव्य-कौशल' और नाट्य में उसका अर्थ है चतुर्विध अभिनय सम्पन्न करने वाला व्यापार ='नाट्य-कौशल।' यह व्यापार अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का बोध हो जाने के उपरान्त आरम्भ होता है। इसके दो कार्य हैं—१. सामाजिक की चेतना को

[1] देखिए, अरस्तू का काव्यशास्त्र—भूमिका, पृ० ५०-५१
[2] हिन्दी-अभिनवभारती, पृ० ४६४-६५

निविडनिजमोहसंकट से मुक्त करना—स्पष्ट शब्दों में व्यक्तिगत रागद्वेष के प्रभाव से मुक्त करना और २. विभावादि का साधारणीकरण करना। इसी भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान रस का सहृदय भोग = सुखद चर्वण करता है। अभिप्राय यह है कि काव्यास्वादन के समय सहृदय, लोकानुभव की भाँति, शोकादि स्थायी भावों की दुःखमय प्रतीति नहीं करता—अतः करुण रस का आस्वाद दुःखमय नहीं होता। काव्य में कवि भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा शब्दार्थ को दोष से मुक्त और गुणालंकार से सम्पन्न करता हुआ—(बिम्बविधायिनी कल्पना के चमत्कार से), शोकादि स्थायी भावों को उनके आश्रय—आलम्बनादि के साथ-साथ साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करता है। इन दोनों क्रियाओं के फलस्वरूप शोकादि कटु भाव व्यक्तिगत रागद्वेष के संसर्गों से मुक्त होकर रस रूप में भाव्यमान हो जाते हैं—अर्थात् सुखद चर्वणा के योग्य बन जाते हैं। अतः कवि के पास दुःख को सुख में परिणत करने के दो साधन हैं जो परस्पर सम्बद्ध भी हैं—काव्य-कौशल या कल्पना का चमत्कार और साधारणीकरण : ये दोनों यद्यपि पृथक् हैं, फिर भी साधारणीकरण की प्रक्रिया भी चूँकि कल्पना के द्वारा ही सम्पन्न होती है, अतः ये परस्पर सम्बद्ध भी हैं। कल्पना के चमत्कार से साधारणीकृत होकर शोकादि की विशिष्टता नष्ट हो जाती है—व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त होकर उसके स्थूल लौकिक सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उसका रूप सामान्य जीवनगत अनुभूति की अपेक्षा अधिक उदात्त और अवदात हो जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में व्यक्तिबद्ध 'अल्प' की चेतना में सुख नहीं है; किन्तु व्यक्ति की सीमाओं से मुक्त भूमा की चेतना में परम सुख की उपलब्धि है। इसी न्याय से काव्य में शोक आदि अप्रिय भाव भी साधारणीकृत होकर व्यक्ति-सम्बन्ध-जन्य दोषों से मुक्त रसमय बन जाते हैं। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने योग की 'मधुमती भूमिका' के आधार पर इसे काव्य की 'रसवती भूमिका' कहा है।

इस तर्क का संकेत अरस्तू के विवेचन में भी मिल जाता है, किन्तु वह अत्यन्त अविकसित अवस्था में है—प्रो० बुचर ने जिस शब्दावली में उसे प्रस्तुत किया है वह यूरोप के विकासशील आलोचनाशास्त्र से प्राप्त आधुनिक शब्दावली है : **दुःख में निहित दंश, अशान्ति और वैक्लव्य का जन्म स्वार्थ-भावना से होता है जो वास्तविक जीवन में इन मनोवेगों के साथ सम्बद्ध रहती है। अहंभाव के नष्ट होने पर दुःख भी नष्ट हो जाता है।**[1] लेखक को स्वयं भी इसका परिज्ञान है : **यदि कोई यह आपत्ति करता है कि मनोवेगों के साधारणीकरण का विचार एक आधुनिक विचार है × × × तो हम यह उत्तर दे सकते हैं कि यदि अरस्तू का अभिप्राय यह नहीं था, तो कम से कम यह उनके सिद्धान्त का सहज परिणाम अवश्य है।**[2]

अंग्रेज़ आलोचक एलरडाइस निकॉल ने दुःख के आस्वादन के अनेक कारणों के अन्तर्गत सार्वभौम भावना का प्रतिपादन प्रायः इसी अर्थ में किया है—**इसका कारण अंशतः वह सार्वभौम भावना भी है जिसे प्रत्येक उत्तम त्रासदी का मूल गुण माना गया है—इसका**

१ अरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ़ पोइट्री एण्ड फ़ाइन आर्ट–(च० सं०), पृ० २६८
२ वही, पृ० २६८

अर्थ है असीम के साथ सम्पर्क। यदि हम आस्तिक हैं तो कहेंगे कि यह दिव्य शक्तियों के साथ सम्पर्क है और यदि नास्तिक हैं तो कहेंगे कि यह विश्व की विराट असीम सत्ता के साथ सम्पर्क है। उत्तम त्रासदी में सर्वत्र ही इस प्रकार के उदात्तीकरण की भावना विद्यमान रहती है।[1]

इस दृष्टि से भट्टनायक का महत्त्व असंदिग्ध है—उन्होंने अत्यन्त तार्किक एवं तात्त्विक शब्दावली में साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वारा 'करुण' आदि के भोग का प्रतिपादन किया है।

३. तीसरा समाधान अभिव्यक्तिवादियों का है। उनके मतानुसार रस की न तो उत्पत्ति या प्रतीति होती है और न भुक्ति ही। रस का अर्थ है शब्दार्थ आदि के माध्यम से विशुद्ध भाव-भूमिका में आत्मा का आस्वाद और आत्मा का आस्वाद आनन्दमय होता है—उसमें दुःख की शंका ही कैसे हो सकती है? केवल उसके वैचित्र्य के लिए रति, शोक आदि संस्कारों (स्थायी भावों) का व्यापार होता है—

अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५०७)

अतः करुण रस में व्यक्तिबद्ध शोक की प्रतीति या प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, वरन् साधारणीकृत (व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त) शोक की भूमिका में अथवा उसके निमित्त से आनन्दघन आत्मा का आस्वाद होता है जो सहज आनन्दरूप है। इस तर्क से काव्य (वस्तु+कला) रस का उत्पादक नहीं है क्योंकि उत्पादन तो उसका होता है-जो असत् है जबकि आत्मानन्दरूप रस सत् है। काव्य तो निमित्त मात्र है, अर्थात् वह अपने वस्तु-तत्त्व एवं कला-सौन्दर्य के द्वारा व्यक्तिगत रागद्वेष-जन्य विघ्नों का अपाकरण कर आत्मा के सहज रसमय रूप को व्यक्त कर देता है—आत्मास्वाद के विघ्नों को दूर कर देता है। शृंगार काव्य का भी यही कर्तव्य-कर्म है और करुण काव्य का भी; रति आदि मधुर भावों का वर्णन भी यदि देश-काल के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता तो वह रसाभिव्यक्ति में असमर्थ रहता है और उधर शोकादि कटु भावों का वर्णन यदि कला की दृष्टि से सफल है, अर्थात् व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त होकर सामने आता है, तो वह भी परम रसमय बन जाता है। व्यक्ति-सम्बन्ध या राग-द्वेष की स्थिति रजोगुण और तमोगुण के प्राधान्य की स्थिति है जो नानाविघ्नमयी है, उनसे मुक्ति का अर्थ है रजोगुण और तमोगुण का शमन तथा सत्त्व का उद्रेक अर्थात् आत्मा के सहज आनन्द-रूप का परामर्श। नाना भावों से समृद्ध काव्य मनुष्य को रागद्वेषादि से मुक्त कर आत्मसाक्षात्कार—आनन्दघन रसानुभूति में प्रवृत्त करता है; अतः काव्य में भाव के लौकिक स्वरूप का महत्त्व नहीं है, भाव की सफल (कलात्मक) अभिव्यक्ति का ही महत्त्व है जो सहृदय को व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर आत्मानन्दरूप रस की अनुभूति में प्रवृत्त करती है—यह सिद्धान्त अद्वैत—विशेषतः शैवाद्वैत पर आधृत है जो आत्मा को परमरस-रूप मानता है : रसो वै सः।

४. इसी सिद्धान्त पर आश्रित समाधान शारदातनय का है। उनका तर्क यह है : यद्यपि यह संसार दुःखमोहादि से कलुषित है, फिर भी जीवात्मा राग, विद्या और कला—

---

[1] थिअरी ऑफ़ ड्रामा (१९३१), पृ० १३१

अपने इन तीन तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। इनमें राग सुखत्व का अभिमान है, विद्या राग का वह उपादान है जिसके द्वारा अविद्या से आच्छन्न चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त हो जाता है, और कला आत्मा को अभिज्वलित (प्रदीप्त) करने वाला हेतु है। इसी न्याय से प्रेक्षक भी शोक, भय, ग्लानि आदि से निष्पन्न करुण, भयानक, वीभत्स आदि रसों का अपने आत्मस्थ तीन तत्त्वों—राग, विद्या और कला के द्वारा 'चर्वण' करता है—

रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः ।
प्रवृत्तिगोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ ॥
भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मैव तिष्ठति ।
दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते ॥
यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्वं यद् रागोपादानमुच्यते ॥
तयाऽभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चितः ।
चैतन्यस्य मलेनैव संरुद्धस्य स्वभावतः ॥
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदुःखात्मिका बुद्धेर्वृत्तिर्गोचर उच्यते ॥
एवं परम्पराप्राप्तैर्भावैर्विषयतां गतैः ।
बुद्ध्यादिकरणैर्भोगाननुभुङ्क्ते रसात्मना ॥

(भावप्रकाशन, पृ० ५३)

इस तर्क का आधार यह है कि आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उसकी आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वह संसार के दुःख-मोहादि मायाजन्य कलुषों पर अनिवार्यतः विजय प्राप्त कर उन्हें भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद्य होने का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। यह समाधान शुद्ध भारतीय आनन्दवाद पर आधृत है—करुणाप्रधान मसीही दर्शन पर आश्रित परवर्ती पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसकी प्रतिध्वनि भी प्रायः नहीं मिलती। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में केवल ल्यूकस ने भौतिक स्तर पर कुछ-कुछ इसी प्रकार त्रासदी के आनन्द की व्याख्या की है : **"त्रासदी का कार्य है एक प्रकार का आनन्द प्रदान करना—और कुछ नहीं। × × अनुभव—अधिकाधिक अनुभव, यही हमारी इच्छा रहती है।[1]......अतः हम त्रासदी का प्रेक्षण करने जाते हैं—इसलिए बिलकुल नहीं कि हम आवेगों से मुक्ति चाहते हैं, वरन् इसलिए कि हम प्रचुर मात्रा में उनका अनुभव करना चाहते हैं; हमारा लक्ष्य होता है (भावों का) भोग न कि विरेचन।"[2]** कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त मन्तव्यों का आधारभूत दर्शन भिन्न है, फिर भी समस्या का समाधान दोनों का प्रायः समान ही है : एक में आत्मरस को मूल कारण माना गया है, दूसरे में जीवन-रस को।

शारदातनय तो अन्ततोगत्वा भाववादियों की परिधि में ही रहे हैं : परन्तु रुद्रभट्ट और

---

१ ट्रेजेडी (१९५३), पृ० ५१
२ वही, पृ० ५२

उनसे भी अधिक नाट्यदर्पण के लेखकद्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध अत्यन्त निर्भीक शब्दों में यह स्थापना की है—**सुखदुःखात्मको रसः।** (नाट्यदर्पण श्लोक १०९, पृ० १५८)। अर्थात् रस की अनुभूति सर्वत्र सुखात्मक ही न होकर दुःखात्मक भी होती है।

इनके अनुसार—

तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः श्रृङ्गार-हास्य-वीराद्भुतशान्ताः पञ्चसुखात्मनोऽपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः। (नाट्यदर्पण, पृ० १०९)

—अर्थात् श्रृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त (इष्ट विभावादि पर आश्रित रहने के कारण) सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक (अनिष्ट विभावादि से उपनीत होने के कारण) दुःखात्मक हैं।

तब फिर प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यों करता है? नाट्यदर्पण में इसका विस्तृत उत्तर दिया गया है—

यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थितवस्तुप्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन, विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणाऽपि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथ्नन्ति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते इति। —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० २९२

—अर्थात् जो इन [करुणादि रसों] से भी सहृदयों में चमत्कार दिखलायी देता है वह रसास्वाद के समाप्त होने के बाद यथास्थित जैसे-तैसे पदार्थों को दिखलाने वाले कवि और नटजनों के कौशल के कारण होता है। क्योंकि वीरता के अभिमानी जन भी [एक ही प्रहार में] सिर को काट डालने वाले, प्रहार-कुशल वैरी [के कौशल को देखकर, उस] से भी विस्मय [और तज्जन्य चमत्कार] का अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण अंगों को आनन्द प्रदान करने वाले, [सब इन्द्रियों के आह्लादक] कवि और नटजनों की शक्ति [कौशल] से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा धोखे में आकर बुद्धिमान लोग भी दुःखात्मक करुणादि रसों में भी परमानन्दरूपता समझने लगते हैं। और इनको आस्वादन करने के लोभ का संवरण न कर सकने के कारण प्रेक्षक सामाजिक भी इन [के आस्वादन] में प्रवृत्त होते हैं। कविगण तो सुख-दुःखात्मक संसार के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुख-दुःखात्मक रसों से युक्त ही [काव्य, नाटक आदि की] रचना करते हैं। पने का माधुर्य जैसे [उसमें पड़ी हुई मिर्च के] तीखे आस्वाद से और अधिक अच्छा प्रतीत होता है इसी प्रकार [करुणादि दुःख-प्रधान रसों में] दुःख के [तीखे] आस्वाद से मिलकर सुखों की अनुभूति और भी अधिक आनन्ददायिनी बन जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जैन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत समाधान इस प्रकार है :

५. करुण रस से प्राप्त आनन्द (चमत्कार) काव्य-कौशल अथवा काव्य तथा नाट्य दोनों के समवेत कौशल पर आधृत रहता है। प्रेक्षक या श्रोता करुण रस में आनन्दानुभूति नहीं करता, वरन् उसकी अभिव्यंजना करने वाले कवि तथा अभिनेता के कला-नैपुण्य से चमत्कृत होता है। इस चमत्कार से ही करुण रस में आनन्द की भ्रान्ति अथवा आभास हो जाता है। अर्थात् कला का सौन्दर्य शोक के उद्वेग को चमत्कार में परिणत कर देता है। कला का आधारभूत सिद्धान्त है सामंजस्य—अनेकता में एकता की स्थापना। अन्तर्वृत्तियों का समन्वय करने के कारण यह प्रक्रिया अपने आप में सुखद होती है; इसे ही कला-सृजन या सौन्दर्य की सृष्टि का आनन्द कहते हैं। कला-सृजन के समय कवि तथा कलानुभूति के समय सहृदय का चित्त इस प्रक्रिया द्वारा समाहित होकर उक्त आनन्द का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त समृद्ध अभिव्यंजना, विशिष्ट पद-रचना, संगीत-गुण तथा नाटक में नाट्य-प्रसाधन आदि 'काव्यालंकार'-जन्य आह्लाद भी करुण की कटुता को नष्ट करने में सहायक होता है।

यूरोप के आलोचना शास्त्र में भी कुछ आलोचकों ने इसी मत की स्थापना की है—वहाँ इसे 'काव्यल[illegible]' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्यरूप के सौन्दर्य [illegible] करुण रस की कटुता नष्ट हो जाती है और सहृदय का चित्त चमत्कार का अनुभव करता है :

इनके अतिरिक्त उत्तम त्रासदी में ऐसे अन्य तत्त्व भी रहते हैं जो हमारे सामने प्रस्तुत कथा के निविड अन्धकार के विघटन में सहायक होते हैं। जैसे, नाटककार की सर्जनात्मक कला-प्रतिभा है—और फिर छन्द की लय है, विशेषकर यूनानी और एलिजबेथ-युगीन नाटकों में, जो कुछ क्षणों के लिए हमारे मन को त्रासदी की अन्धकारमयी गहराइयों से वरवस दूर ले जाती है। त्रासदी में छन्द के प्रयोग और महत्त्व का विस्तृत विवेचन तो हम बाद में करेंगे, पर यहाँ इतना कहा जा सकता है कि छन्द अनेक बार हमारी इन्द्रियों के लिए सम्मोहक ओषधि का काम करता है। ऐस्किलस और शेक्सपियर के नाटकों में भाषा के सौन्दर्य से दुःख का दंश कम हो जाता है और यद्यपि यह दूसरे रूप में कभी-कभी अधिक तीव्र भी हो जाता है, किन्तु फिर भी उसके स्थूल एवं निकृष्ट तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।[1]

करुण रस के भोग के विषय में भारतीय काव्यशास्त्र में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (प्रायः अप्रत्यक्ष रूप से ही) उपर्युक्त पाँच समाधान उपस्थित किये गये हैं। उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में तो प्रारम्भ से ही यह एक ज्वलंत प्रश्न रहा है और अरस्तू तथा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों से लेकर आज तक विस्तार के साथ, अनेक प्रकार से, त्रासदी के आस्वाद की विषम समस्या का विवेचन होता आया है।

सबसे पहले अरस्तू का प्रसिद्ध विरेचन सिद्धान्त आता है :

अस्तु ! त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति

---

[1] थिअरी ऑफ़ ड्रामा (निकॅल), पृ० १३२

का नाम है......जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है—(काव्यशास्त्र, पृ० १६)। इसका अर्थ यह है कि त्रासदी में शोक, त्रास आदि भावों के अतिरंजित रूप का अनुभव कर प्रेक्षक के अपने शोक, त्रास आदि भाव उद्बुद्ध एवं अभिव्यक्त हो जाते हैं—बाह्य उत्तेजना से (उसकी अपनी वासना में स्थित) कटु मनोविकार सहसा उत्तेजित होकर अभिव्यक्त हो जाते हैं और इस प्रकार उनके दंश का निराकरण एवं उसके फलस्वरूप प्रेक्षक का मन विशद हो जाता है। वैद्य-पुत्र अरस्तू के इस समाधान का आधार चिकित्साशास्त्र है : जिस प्रकार रेचक ओषधि अशुद्ध तथा अस्वास्थ्यकर पदार्थ का बहिष्कार कर रोगी की शरीर-व्यवस्था को शुद्ध एवं स्वस्थ बनाती है, इसी प्रकार त्रासदी चित्त में (वासना रूप से) स्थित मनोविकारों को उद्बुद्ध एवं अभिव्यक्त कर प्रेक्षक की चेतना को विशद करती है। हमारे मन में नाना प्रकार के विकार घुमड़ते रहते हैं जिनसे चेतना प्रकृतिस्थ नहीं रह पाती। इन विकारों से मुक्ति के दो उपाय हैं—१. शमन (जिसका निर्देश प्लेटो ने किया है), और २. अभिव्यक्ति (जिसका प्रस्ताव अरस्तू ने, प्लेटो के उत्तर में, किया है); त्रासदी दूसरे उपाय का अवलम्बन करती है जो पहले की अपेक्षा निसर्ग के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार त्रासद प्रसंगों के प्रेक्षण अथवा श्रवण-मनन से चित्त निर्विकार हो जाता है और चित्त की निर्विकार स्थिति निश्चय ही शान्तिमय एवं सुखमय है। इस सिद्धान्त का विवेचन हम विस्तार से 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' में कर चुके हैं। इसका सबसे स्पष्ट दोष यह है कि यह काव्यास्वाद के अभावात्मक रूप की व्याख्या करके ही रह जाता है : इस प्रकार निष्पन्न अनुभव शान्तिमय होने के कारण अन्ततः सुखमय तो होता ही है किन्तु आनन्द का यह अभावात्मक रूप है और यह विश्वास करना कठिन होता है कि प्रेक्षक केवल चित्त को शान्त करने के लिए—इस अभावात्मक उपलब्धि के लिए ही—प्रेक्षागृह या काव्य की ओर ललकता है। पाश्चात्य आलोचकों ने भी इसका इसी आधार पर खण्डन किया है—ल्यूकस ने स्पष्ट कहा है कि प्रेक्षक भावों के विरेचन के लिए नहीं वरन् भोग के लिए नाटक या काव्य की ओर साग्रह प्रवृत्त होता है क्योंकि प्रेक्षागृह आखिर कोई अस्पताल तो है नहीं।

विरेचन-सिद्धान्त के अतिरिक्त और भी अनेक समाधान हैं जो पाश्चात्य दार्शनिकों एवं आलोचकों द्वारा समर्थ शब्दावली में प्रस्तुत किये गये हैं। रूसो का मत है कि प्रेक्षक या पाठक को त्रासदी में एक प्रकार का द्वेषजन्य आनन्द प्राप्त होता है, जिसका आधार पर-पीड़न अथवा स्व-पीड़न की सहज मानववृत्ति में निहित है। हमको दूसरों के दुःख से प्रच्छन्न सुख मिलता है—मानव का यह आदिम पाशव संस्कार है जिसके कारण रंगमंच पर नायक-नायिका की विपत्ति का साक्षात्कार कर सामाजिक को बहुत कुछ वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है जैसा कि किसी बालक को तितली के सुन्दर पंख छेदने में आता है। पर-पीड़न का दूसरा पहलू है—स्व-पीड़न : अपने को भी पीड़ा देने में मनुष्य एक प्रकार का रस लेता है—दुःख भी एक प्रकार का विलास है। वस्तुतः ये दोनों प्रवृत्तियाँ असाधारण या अवसाधारण मनःस्थिति की ही द्योतक हैं, सामान्य एवं स्वस्थ चित्तवृत्ति में पर-पीड़न या स्व-पीड़न की सम्भावना नहीं होती। अतः अनेक विचारकों ने इनके स्थान पर मानव-सहानुभूति

की कल्पना की है : उनका कथन है कि कारुणिक दृश्यों में मानव-सहानुभूति का सुख मिलता है। वे एक क़दम और आगे बढ़कर फिर यह सिद्ध करते हैं कि पर-सहानुभूति वास्तव में आत्मसहानुभूति का ही एक रूप है। इस या इस प्रकार के अन्य विचारों के साथ अंग्रेज़ कवि शैले और फ़्रांसीसी विचारक फ़ोन्तनेल के नाम सम्बद्ध हैं जिनका विश्वास है कि सुख और दुःख का सहोदर-सम्बन्ध है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहोर ने इसी विचार को दार्शनिक शब्दावली में अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि त्रासदी जीवन के गम्भीर और दुःखमय पक्ष को महत्त्व देती है—जीवन की व्यर्थता और जगत्-प्रपंच की असारता को व्यक्त करते हुए चरम सत्य का उद्‌घाटन करना उसका प्रयोजन है। जर्मनी के ही एक अन्य दार्शनिक श्लेगेल ने इसी विचार को दूसरी भंगिमा से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार त्रासदी के द्वारा हमारे मन में इस चेतना का उदय होता है कि पार्थिव जीवन का संचालन किसी अदृष्ट शक्ति (नियति) के हाथ में है जिसके समक्ष मानव का समस्त बल-वैभव तुच्छ है। यह विचार एक ओर अहंकार का शमन करता है और दूसरी ओर दुःख में हमें धैर्य प्रदान करता है। जीवन के इस अलौकिक विधान की अनुभूति निश्चय ही एक उदात्त भाव है जिससे मनुष्य को शान्ति प्राप्त होती है—और यही 'त्रासद आनन्द' का रहस्य है। ये सभी समाधान दुःखवाद पर आश्रित हैं, अर्थात् विभिन्न दृष्टियों से दुःखरस को ही त्रासदी का मूल आस्वाद मानते हैं। यों तो सत्य का थोड़ा बहुत अंश सभी विचारों में प्रायः रहता है और इन विचारों में भी निश्चय ही विद्यमान है, किन्तु इनमें से अधिकांश हमारी जिज्ञासा का परितोष नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, पर-पीड़न का सुख मनुष्य के बर्बर संस्कारों का द्योतक है जबकि कला का चरम उद्देश्य चेतना का परिष्कार है। प्राचीन बर्बर विनोद-उत्सवों का प्रमाण देकर कला का उनके साथ ऐकात्म्य स्थापित करना संगत नहीं है। इसी प्रकार स्व-पीड़न की प्रवृत्ति भी सामान्य एवं सहज मनःस्थिति की द्योतक नहीं है। मानव-सहानुभूति का तर्क अपेक्षाकृत अधिक संगत है; किन्तु प्रश्न यह उठता है कि वास्तविक जीवन में करुण दृश्यों के साक्षात्कार से भी तो मानव-करुणा या सहानुभूति का उद्रेक होता है, पर उसमें सुख तो नहीं होता। इस प्रकार के प्रसंगों में हमारी उदात्त भावनाएँ उभर आती हैं, कर्तव्य-बुद्धि जागृत हो जाती है और व्यक्तिगत संकीर्णताओं से मुक्त होकर हमारी चेतना सात्त्विक बन जाती है। फिर भी, यह अनुभव सुखमय तो नहीं होता और प्रमाण यह है कि इसकी आवृत्ति से हम बराबर बचते हैं, जबकि सुख की आवृत्ति की कामना सर्वथा स्वाभाविक होती है। ऐसी स्थिति में मानव-सहानुभूति, मानव-करुणा, आत्मकरुणा आदि के आधार पर करुण रस के आस्वाद की समस्या हल नहीं होती। शोपेनहोर का दार्शनिक समाधान दुःखवाद पर आश्रित है और भारतीय बौद्ध दर्शन इस सिद्धान्त का प्रेरक एवं पोषक है। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख प्रथम आर्य सत्य है। इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है, जिस पर अन्य सिद्धियाँ आश्रित हैं; अतः करुण रस जीवन का आद्य रस है। सत्य की उपलब्धि में जो आनन्द निहित रहता है, वही आनन्द जीवन में करुण का अंगित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से प्राप्त होता है। भारत में दुःखवाद का प्रतिपादन प्रधानतः बौद्ध दर्शन में ही हुआ है; अतः करुण रस के आस्वाद का यह दुःखवादी समाधान केवल

वहीं से उपलब्ध हो सकता है। भारतीय चिन्तक के लिए श्लेगेल की धारणा भी अज्ञात नहीं है—साहित्य में इस 'नियतिवाद' की शत-शत मार्मिक व्यंजनाएँ मिलती हैं। रामायण, महाभारत, पुराण, भक्ति-काव्य और आधुनिक साहित्य में इसकी अनुगूंज स्थान-स्थान पर मिलती है। न जाने कब से भारतीय मन यह गा-गाकर अपने को धीरज देता चला आ रहा है—

> **करम गति टारै नांहि टरी।**
> **मुनि बसिष्ठ से पंडित ज्ञानी सोधि के लगन धरी।**
> **सीता-हरन, मरन दशरथ को वन में बिपति परी॥**

परन्तु, अन्तर केवल यही है कि इस धारणा ने काव्यशास्त्र में सिद्धान्त का रूप कभी धारण नहीं किया। क्यों ?—भारतीय काव्यशास्त्र के प्राण रस-सिद्धान्त के विरुद्ध होने के कारण।

अभावात्मक समाधान दो-एक और भी हैं, किन्तु उनके पीछे कोई गम्भीर विचार या तर्क नहीं है। उदाहरण के लिए, ह्यूम और ड्यूबॉय के मतानुसार प्रेक्षक त्रासदी का अवलोकन या अध्ययन नैत्यिक जीवन की नीरसता से मुक्ति पाने के लिए करता है। त्रासदी से उसके जीवन में एक प्रकार की उत्तेजना आती है—चाहे उसका आधार भय और शोक ही क्यों न हों, क्योंकि "ऊबने की अपेक्षा दुःख भोगने में अधिक रस है"—इस मन्तव्य के पीछे उत्तेजना का सिद्धान्त है : उत्तेजना में, चाहे वह कटु ही क्यों न हो, एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विचार बहुत सारवान् नहीं है, क्योंकि यह उत्तेजना और आनन्द के अत्यन्त स्पष्ट भेद की उपेक्षा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि हम कभी-कभी अपनी सामान्य दिनचर्या से ऊबकर उत्तेजित क्षण की कामना करते हैं, किन्तु न तो यह माना जा सकता है कि जीवन में वास्तविक उत्तेजना की इतनी कमी है कि मनुष्य काल्पनिक उत्तेजना के लिए प्रेक्षागृह में जाता रहे और न उत्तेजना आनन्द का पर्याय ही है—कम से कम शोक एवं त्रास-जन्य उत्तेजना में आनन्द की कल्पना करना स्वस्थ मनःस्थिति में सम्भव नहीं है। एक अन्य तर्क यह भी है कि काव्य या नाटक के शोक तथा भय आदि भाव और उनसे सम्पृक्त परिस्थितियाँ अवास्तविक होती हैं; इसलिए हमें उनके कारण क्लेश नहीं होता, वरन् कला-कौतुक से एक प्रकार का चमत्कार प्राप्त होता है। वास्तव में यह धारणा कला को कौतुक के स्तर पर ले आती है और साधारणीकरण के सिद्धान्त का निषेध करती है। यदि सामाजिक काव्य अथवा नाट्य की अवास्तविकता के प्रति निरन्तर प्रबुद्ध है तब तो तादात्म्य सम्भव ही नहीं हो सकता—और तादात्म्य के बिना रस की निष्पत्ति कैसी ?

अब कुछ ऐसे समाधानों पर विचार करेंगे जिनका आधार भावात्मक है और जो निश्चय ही गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण हैं। निकॅल ने एक स्थापना यह की है कि त्रासदी में मानव-हृदय के शौर्य एवं औदात्त्य आदि भव्यतर गुणों का प्रदर्शन होता है—वीरता के पतन में भी एक गरिमा निहित रहती है जो शोक और त्रास को दिव्य आभा से मण्डित कर देती है। इस प्रकार के प्रसंगों का साक्षात्कार हमारे मन में क्लेश उत्पन्न नहीं करता, वरन् एक उदात्त अनुभूति को जन्म देता है जो निश्चय ही सुखद एवं प्रीतिकर होती है। नीत्शे का

मत इससे कुछ भिन्न है। उसके अनुसार त्रासदी में जीवन के प्रकाश और अन्धकार दोनों का ही ऊर्जस्वी चित्रण रहता है। प्रेक्षक जीवन की इसी द्वन्द्वात्मक शक्ति का अनुभव करता हुआ त्रासदी का रस लेता है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल भी इस द्वन्द्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके लिए द्वन्द्व सिद्धि नहीं है साधन है—अर्थात् आनन्द का कारण द्वन्द्व नहीं है वरन् चेतना की वह भव्यतर समाहिति ही आनन्द का कारण है जो इस द्वन्द्व के द्वारा अन्ततः सिद्ध होती है। बीसवीं शती में आई० ए० रिचर्ड्स ने हीगेल के 'रहस्यवादी काव्य-सिद्धान्त' पर व्यंग्य करते हुए भी, प्रायः इसी तथ्य को मनोविज्ञान की शब्दावली में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार काव्य का उद्देश्य है अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य, और जो काव्यरूप अधिक से अधिक विभिन्न अन्तर्वृत्तियों का समंजन करने में जितना सफल होता है उतना ही उसका कलात्मक मूल्य मानना चाहिए। त्रासदी की आधारभूत अन्तर्वृत्तियाँ हैं—करुणा और त्रास, जो एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं : क्योंकि करुणा का धर्म है आकर्षण और त्रास का धर्म है विकर्षण। स्वभावतः इनका सामंजस्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन और उसी अनुपात से परिपूर्ण भी होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि त्रासदी में अन्तर्वृत्तियों के समंजन की सर्वाधिक शक्ति होती है और चूँकि अन्तर्वृत्तियों के समंजन से निश्चय ही परितोष की प्राप्ति होती है इसलिए त्रासदी का प्रभाव भी क्लेशकर न होकर परितोषकारी ही होता है।

यद्यपि ये समाधान अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट एवं संगत हैं, फिर भी इनसे जिज्ञासा का शमन नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि किसी वीर का बलिदान प्रायः हमारे चित्त में अवसाद और निराशा के स्थान पर उदात्त भावनाओं की उद्बुद्धि करता है; किन्तु, केवल इसी अकेले तर्क से समस्या का समाधान नहीं हो जाता क्योंकि एक तो यह प्रत्येक स्थिति में सटीक नहीं बैठता, दूसरे त्रासदी में केवल वीर का बलिदान ही नहीं होता निरीह और सरल-सुन्दर व्यक्तियों का भी निर्मम उत्पीड़न एवं हनन होता है। यह ठीक है कि महापुरुषों के प्रति हमारे मन में दया उत्पन्न नहीं होती किन्तु उनका शोक और पतन किसी भी परिस्थिति में हमें परितोष प्रदान नहीं करता : हमारे मन में उत्साह का संचार होता है—उदात्त भावनाएँ हमारे चित्त को आन्दोलित करती हैं, परन्तु शोक का निवारण तो नहीं होता। आधुनिक युग के अंग्रेज़ लेखक ल्यूकस ने अन्य मतों का खण्डन करते हुए नीत्शे के मत से अंशतः सहमति प्रकट की है—उनका तर्क है कि त्रासदी जीवन के उत्थान-पतन का उदात्त चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती है जिससे हम जीवन-सत्य का उसके भव्यतम रूप में रसास्वादन करते हैं।[1] इस समाधान को भी हम आंशिक रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि जीवन-सत्य के समग्र रूप का रसास्वादन करने की क्षमता सामान्य सहृदय में नहीं होती—जीवन के उत्थान के साथ पतन को भी केवल उसके औदात्त्य के बल पर प्रीतिकर मान लेने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है, क्योंकि वास्तविक जीवन में इस प्रकार के प्रसंगों से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी हम उनकी आवृत्ति की कामना नहीं करते जबकि साहित्य में इस प्रकार के प्रसंगों के प्रेक्षण-मनन की इच्छा हमें बार-बार होती है। एक दृष्टान्त देकर मैं

---

१ देखिए—ट्रेजेडी : ल्यूकस, पृ० ५५

अपना मन्तव्य और स्पष्ट कर सकता हूँ। गांधी का बलिदान आधुनिक भारतीय जीवन की सबसे महान् प्रेरक घटना है—किन्तु वह प्रीतिकर तो नहीं हो सकती : उसकी आवृत्ति की कामना हम नहीं कर सकते। उसके औदात्त्य ने दुःख का दंश कम अवश्य कर दिया है, किन्तु नष्ट तो नहीं किया—सुख में परिणति का तो प्रश्न ही क्या है ? इनकी अपेक्षा हीगेल का तर्क अधिक प्रत्ययकारी है। त्रासदी से जीवन की जय-पराजय के द्वन्द्व का अनुभव हमारी चेतना की परस्पर विरोधी वृत्तियों को उद्बुद्ध कर अन्त में समंजित कर देता है—परिणाम-स्वरूप हमारी आत्मा समाहित हो जाती है। मूल द्वन्द्व जितना प्रबल और तीव्र होता है, आत्मा की यह समाहिति उतनी ही परिपूर्ण एवं गहन होती है—अतः अन्य काव्यरूपों की अपेक्षा त्रासदी से प्रेक्षक की आत्मा को अधिक परितोष मिलता है। रिचर्ड्स ने आत्मा के स्थान पर चेतना शब्द का प्रयोग कर इस समाधान को अधिक बुद्धि-ग्राह्य बना दिया है। यद्यपि, जैसा कि ल्यूकस आदि ने लिखा है, रिचर्ड्स का विवेचन अरस्तू के अभिमत को शुद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं करता, फिर भी वह अमान्य नहीं है। इसमें सबसे स्पष्ट दोष मुझे यह लगता है कि इसमें 'कैसे' की अपेक्षा 'क्या' का विवेचन अधिक है। त्रासदी सर्वथा विरोधी—आकर्षक और विकर्षक वृत्तियों का समंजन कर चेतना को समाहित करती है। अतः उसका प्रभाव तृप्तिकर है, यह तो ठीक है; किन्तु यह समंजन कैसे घटित होता है, इसका समाधान भी तो आवश्यक है, क्योंकि मूल समस्या तो यही है कि दुःख की सुख में परिणति कैसे हो जाती है ?

इस प्रकार दो-ढाई हज़ार वर्ष से प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नवीन विचारक इस प्रश्न के साथ जूझते आ रहे हैं पर आज भी यह प्रायः वहीं का वहीं है—कम से कम कोई अकाट्य या सर्वमान्य समाधान इसका आज भी उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त विचारों का विश्लेषण करने के उपरान्त निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१. प्रायः सभी तर्कों में सत्य का अंश निश्चय ही विद्यमान है—परहिंसा-रस के सिद्धान्त में भी। भेद मात्रा का है : कुछ तर्क दूसरों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हैं, बस।

२. कोई भी एक समाधान सर्वथा पूर्ण नहीं है जो जिज्ञासा का समग्र रूप से परितोष कर सके। यदि आप पूर्ण आस्तिक हैं—अर्थात् आत्मा की आनन्दरूपता में आपका अतर्क्य विश्वास है, तब तो अभिनवगुप्त का समाधान पर्याप्त हो सकता है। किन्तु यह 'यदि'—यह अनुबन्ध—सरल नहीं है क्योंकि ऐसा विश्वास आज कितनों को हो सकता है और कैसे हो सकता है ? सामान्य तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के आधार पर भट्टनायक का तर्क (संविद्-विश्रान्ति और सत्त्वोद्रेक की धारणाओं को छोड़कर भी) अत्यन्त गम्भीर हैं : पाश्चात्य विचारकों ने अनेक प्रकार से अपने-अपने ढंग से उसको अभिव्यक्त अथवा प्रतिध्वनित किया है। इस सिद्धान्त में वस्तुतः कलात्मक सामंजस्य और साधारणीकरण (यूनिवर्सेलिटी) सिद्धान्तों का संयोग है, जो कदाचित् प्रस्तुत प्रश्न के सर्वाधिक विश्वसनीय समाधान हैं।

३. वास्तव में जिज्ञासा के सम्यक् परितोष के लिए हमें कई सिद्धान्तों का आश्रय लेकर एक मिश्र समाधान प्रस्तुत करना पड़ेगा—अनेक कारण मिलकर ही दुःख को सुख में परिणत करते हैं। (क) काव्य का शोक प्रत्यक्ष अनुभव का विषय न होकर कल्पनात्मक

अनुभव का विषय है; अतः उसका दंश कल्पना के प्रभाव से बहुत कम हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। (ख) काव्य का यह शोक व्यक्तिगत न रहकर साधारणीकृत हो जाता है, अतः ममत्वजन्य कुण्ठा और निराशा इसमें नहीं रहती। व्यक्ति-संसर्गों से—व्यक्ति के राग-द्वेषों से मुक्त होकर चेतना विशद हो जाती है और चित्त का वैशद्य निश्चय ही एक सुखकर मनःस्थिति है। (ग) करुण काव्य में करुणा का सम्बन्ध प्रायः महान् व्यक्तियों के साथ रहता है—महत्ता के संसर्ग से शोकादि की लघुता नष्ट हो जाती है और वे औदात्त्य से मण्डित हो जाते हैं। इन करुण दृश्यों में प्रायः मानव-शौर्य और गरिमा का भव्य निदर्शन रहता है जो सामाजिक की चेतना का उत्कर्ष करता है। 'उत्तररामचरित' में राम की उदात्त कर्तव्य-भावना उनके व्यक्तिगत दुःख को विशेष गरिमा से मण्डित कर देती है। इस प्रकार के प्रसंग जीवन के गम्भीर पक्ष को सामने रखते हैं। इनसे सहृदय गहनतर जीवन-तथ्यों के साक्षात्कार का अवसर प्राप्त करते हैं, और सत्य का साक्षात्कार निश्चय ही एक उपलब्धि है जिससे आत्मा का उत्कर्ष होता है। इस प्रकार करुण प्रसंगों से गम्भीर जीवन-रस की सिद्धि होती है। (ङ) और, अन्त में कला की प्रक्रिया दुःखादि के लेशमात्र को नष्ट कर देती है। कला की प्रक्रिया वैविध्य को समाहित करने की प्रक्रिया है—बिखरे हुए उपकरणों को समंजित कर कलाकार अनेकता में एकता स्थापित करता है और विरूप को रूप देता है। इसी का नाम है कलात्मक अन्विति जिसका रागात्मक आधार है भेद में अभेद की प्रतीति—और भेद में अभेद की प्रतीति निश्चय ही सुखकर अनुभूति है। इस संदर्भ में मैं अपना ही एक उद्धरण प्रस्तुत करने का लोभ संवृत नहीं कर सकता—"अनुभूति के आधार हैं संवेदन और अनुभूति में एक पृथक् संवेदन नहीं होता, संवेदनों का एक विधान होता है। जब संवेदनों में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है तो हमारी अनुभूति प्रीतिकर होती है और जब ये विशृंखल तथा विकीर्ण होते हैं तो अनुभूति कटु होती है। काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा 'भावित' होते हैं। इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है; क्योंकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था में व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने से, आनन्दप्रद बन जाते हैं।" (रीतिकाव्य की भूमिका तृ० सं०, पृ० ६४)।

करुण रस के सुखमय आस्वाद की विषम समस्या को इसी प्रकार समाहित किया जा सकता है—कम से कम मैं अपनी जिज्ञासा का परितोष इसी रूप में कर सका हूँ।

अध्याय ३

(क) रस की निष्पत्ति
(ख) रस का स्थान
(ग) साधारणीकरण

(क) रस की निष्पत्ति

रसनिष्पत्ति भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। वास्तव में रस का विवेचन यहाँ रस की निष्पत्ति से ही आरम्भ होता है क्योंकि भरत ने मूलतः रस के स्वरूप का नहीं रस की निष्पत्ति का ही व्याख्यान किया है :

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः (नाट्यशास्त्र—काव्यमाला, १९४३, पृ० ९३)

—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी [भावों] के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

इस सूत्र में 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है और इन्हीं को लेकर परवर्ती आचार्यों में गहन शास्त्रार्थ हुआ है। भरत ने स्वयं 'निष्पत्ति' की व्याख्या इस प्रकार की है :

—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

—अर्थात्, जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से [भोज्य] रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और ओषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी [नाट्य] 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

यहाँ पहले उपवाक्य में 'रसनिष्पत्ति होती है', दूसरे में 'रस बनते हैं' और तीसरे में 'रसत्व को प्राप्त होते हैं'—इन तीन परस्पर सम्बद्ध क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। इनके आधार पर निष्पत्ति का अर्थ है बनना या होना, स्वरूप को प्राप्त होना। यह सामान्य अपारिभाषिक कोशार्थ है : निस्+पद् (गतौ)+क्तिन्=निश्शेष रूप से स्थिति प्राप्त करने का—होने का भाव : होना, स्थिति प्राप्त करना, अस्तित्व प्राप्त करना, सिद्धि।[1]

संयोग शब्द का अर्थ और भी स्पष्ट करते हुए भरत ने आगे लिखा है :

यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।

—अर्थात् जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा

---

[1] मोनियर विलियम्स, आप्टे आदि

सात्त्विक (मानसिक) अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर संयोग का अर्थ है स्थायी भावों के साथ सम्यक् योग=संगम। दृष्टान्त के 'उपगत' और 'उपेत' शब्दों से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।[1]

इस दृष्टान्त के अनुसार :

नाट्य रस=भोज्य रस (षाडवादि)

स्थायी भाव=अन्न

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी=द्रव्य, व्यंजन, ओषधि आदि।

जिस प्रकार द्रव्य, व्यंजन, ओषधि आदि का अन्न के साथ संयोग होने से षाडवादि अर्थात् भोज्य रस बनते हैं, इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग होने से नाट्य रस बनते हैं या सिद्ध होते हैं। अतः रस-सूत्र का स्वयं भरत के अनुसार अर्थ हुआ—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव के साथ संयोग या संसर्ग होने से रस की सिद्धि होती है। आधारभूत तत्त्व है स्थायी भाव—जब वह विभावादि के साथ संयुक्त हो जाता है तो रस की सिद्धि हो जाती है। संयोग का अर्थ यहाँ संसर्ग है। सिद्धि के दो अर्थ हो सकते हैं (१) उत्पत्ति या अभाव में भाव की कल्पना; (२) निर्मिति। भरत ने यद्यपि रस के प्रसंग में उत्पत्ति[2] शब्द का बार-बार प्रयोग किया है, किन्तु दृष्टान्त से स्पष्ट है कि वह केवल औपचारिक ही है—अभाव में भाव की सृष्टि का वाचक नहीं है। निर्मिति का अर्थ है विद्यमान उपकरणों के संयोग से नव-रूप-रचना, जो आधारभूत उपकरणों की परिणति होते हुए भी उनसे भिन्न होती है। रस की निष्पत्ति का यही अर्थ भरत को मान्य है। रस ऐसा नूतन पदार्थ नहीं है जिसका पहले सर्वथा अभाव रहता हो : तथा **नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति**—अर्थात् विभावादि से उपगत होकर स्थायी भाव ही रस बन जाते हैं। रस स्थायी से भिन्न है, जैसे षाडवादि अन्न से भिन्न है, परन्तु आधार उसका स्थायी ही है जो रस रूप में परिणत हो जाता है; अतः रस के रूप में किसी नूतन पदार्थ की सृष्टि नहीं होती, विद्यमान स्थायी भाव रूप पदार्थ ही अन्य उपकरणों के सहयोग से नवीन रूप धारण कर लेता है। निर्मिति का अर्थ 'नूतन सृष्टि' नहीं है—संस्कार आदि क्रियाओं और व्यंजन आदि पदार्थों के संयोग से 'नवरूप-प्राप्ति' ही है। दृष्टान्त के आधार पर निष्पत्ति का भरत-सम्मत अर्थ यही बैठता है। 'षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते' में निर्वर्त्यन्ते का स्पष्ट अर्थ है—बनते हैं।[3]

भट्टलोल्लट

परवर्ती काव्यशास्त्र में भरत के इस मौलिक सूत्र का अनेक प्रकार से व्याख्यान-विवेचन आरम्भ हो गया और रस-सिद्धान्त का क्रमशः विकास होने लगा। भरत-सूत्र के व्याख्याकारों

---

[1] मोनियर विलियम्स, आप्टे आदि

[2] स च······आदिभिः उत्पद्यते (नाट्यशास्त्र पृ० ९९, १००, १०१ : रौद्र, वीर, भयानक रसों का वर्णन)

[3] देखिए मोनियर विलियम्स : (संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी नवीन संस्करण) पृ० ५६०

में सबसे पहला नाम मिलता है भट्टलोल्लट का। लोल्लट का भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है : सबसे पहले उनके रस-सम्बन्धी मत के उद्धरण अभिनवगुप्त (११वीं शती) के ग्रंथ 'अभिनव-भारती' में और कुछ उल्लेख उन्हीं के 'ध्वन्यालोकलोचन' में मिलते हैं। ये उद्धरण अत्यन्त संक्षिप्त हैं और अभिनव द्वारा अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये हैं, अतः अत्यन्त अपर्याप्त होने के साथ ही सर्वथा प्रामाणिक भी कदाचित् न हों; फिर भी लोल्लट के मत का सर्व-प्रथम आधार अभी तक ये उद्धरण ही हैं। इनके अतिरिक्त दूसरा आधार है मम्मट के काव्य-प्रकाश में उद्धृत लोल्लट का मन्तव्य जो और भी संक्षिप्त है तथा अभिनवभारती में उद्धृत मन्तव्य से थोड़ा-सा भिन्न भी है। इसके विषय में दो सम्भावनाएँ हैं—एक तो यह कि मम्मट ने भी लोल्लट का ग्रंथ देखा हो और उसके आधार पर उपर्युक्त मन्तव्य उद्धृत किया हो, दूसरा यह कि उनका आधार तो अभिनवगुप्त के ग्रंथों के तद्विषयक उद्धरण ही रहे हों परन्तु अपने समय तक विकसित रस-सिद्धान्त के प्रकाश में उन्होंने अभिनव की व्याख्या में थोड़ा-सा संशोधन कर दिया हो। समस्त परिस्थितियों पर विचार करने पर दूसरा मत ही ग्राह्य प्रतीत होता है। परवर्ती सभी आचार्यों ने प्रायः मम्मट के वक्तव्य की ही पुनरावृत्ति की है।

इसी अत्यन्त अल्प सामग्री के आधार पर लोल्लट के मत की व्याख्या और विवेचना करनी होगी।

१. अभिनव द्वारा उद्धृत लोल्लट-मत

(क) अभिनवभारती में :

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मेनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।"

—अर्थात् भट्टलोल्लट आदि [व्याख्याताओं] ने [इस सूत्र की] इस प्रकार व्याख्या की है कि विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायिभाव के साथ [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का संयोग] उससे रस की निष्पत्ति (अर्थात् उत्पत्ति) होती है। उन [विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों] में से विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य [कटाक्षादि रूप] अनुभाव विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि उन [रसजन्य अनुभावों] की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती है [वे तो रस के कार्यभूत होते हैं]। अपितु [यहाँ रस के कारणभूत अनुभावों में रत्यादि स्थायी] भावों के ही जो [पीछे उत्पन्न होने के कारण] अनुभाव हैं [उनका ग्रहण विवक्षित है]। और [निर्वेद आदि] व्यभि-चारिभाव चित्तवृत्ति-स्वरूप होने से ['युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्' इस नियम के

अनुसार रति रूप तथा निर्वेदादि रूप दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ एक समय में नहीं हो सकती हैं इसलिए] यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते हैं, किन्तु यहाँ उस [स्थायिभाव] के संस्कार रूप से विवक्षित हैं। [इसलिए रस रूप से स्थित रत्यादि स्थायिभाव के साथ संस्कार रूप में निर्वेदादि व्यभिचारिभाव रह सकते हैं।]

—[रस के उपपादन के लिए आगे दिये जाने वाले व्यंजनादि रूप] दृष्टान्त में भी व्यंजनादि के बीच में किसी [रस] की स्थायिभाव के समान अनुद्भूत (वासनात्मक] रूप में स्थिति होती है, और दूसरे की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में। इसलिए 'विभाव अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है।' और अपरिपुष्ट [स्थायिभाव रस से भिन्न] स्थायिभाव [कहलाता] है। [यह रस तथा स्थायिभाव का भेद है]। वह [रस, अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट] दोनों में रहता है। मुख्य रूप से [जिसका अनुकरण नट करता है उस] अनुकार्य रामादि में रहता है। तथा रामादिरूपता की प्रतीति होने के कारण [गौण रूप से] नट में भी [रस की प्रतीति होती है। रस-सूत्र की यह व्याख्या भट्टलोल्लट आदि करते हैं।]—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४२-४३

(ख) ध्वन्यालोकलोचन में :

तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। (ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा १९४० ई०, पृ० १८४)।

—वह इस प्रकार है—पूर्वावस्था में जो स्थायी है वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है। नाट्यरस तो उसे कुछ लोग इसलिए कहते हैं कि नाट्य में उसका प्रयोग होता है।

यद्यपि यहाँ लोल्लट का नाम नहीं दिया गया, पर निश्चय ही यह उन्हीं का मत है : बालप्रिया टीका से सन्देह का तुरन्त ही निवारण हो जाता है।

२. मम्मट द्वारा उद्धृत लोल्लट-मत

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः; अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः; व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो; मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये; तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

—अर्थात्, विभावों—ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों से, रति आदि [स्थायी] भाव उत्पन्न हुआ; [रति आदि की उत्पत्ति के] कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया; और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट किया गया; मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में और उनके स्वरूप के अनुसन्धान से नट में प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस [हो जाता] है। यह भट्टलोल्लट आदि का मत है।

[काव्यप्रकाश—चतुर्थ उल्लास]

इन उद्धरणों के आधार पर भट्टलोल्लट के मन्तव्य के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

(१) संयोग का अर्थ वही है जो भरत ने किया है—अर्थात् स्थायी भाव के साथ संयोग।

(२) स्थायी भाव का आश्रय है अनुकार्य—रामादि।

(३) सीतादि आलम्बन उसे अनुकार्य के चित्त में ही उत्पन्न करते हैं। इस प्रसंग में 'उत्पत्ति' और 'उद्भूतता' दो शब्दों का प्रयोग है जिनके आधार पर मम्मट ने 'जनितः' शब्द का प्रयोग किया है। अब प्रश्न यह है कि उत्पत्ति का अर्थ यहाँ, वास्तव में, 'अभाव में भाव की कल्पना' है या 'उद्बुद्धि' मात्र है। यदि **'कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्'** लोल्लट के ही मन्तव्य का अंश है, अभिनव की टिप्पणी नहीं है, तब तो विवाद केवल शाब्दिक रह जाता है। जब स्थायी भाव वासना रूप से विद्यमान है, और विभाव उसको उद्बुद्ध ही करता है तब तो उद्बुद्धि और अभिव्यक्ति में कोई भेद ही नहीं रह जाता। किन्तु यदि यह टिप्पणी अभिनव की है तब उत्पत्ति का आधार असत्कार्यवाद ही मानना पड़ेगा।

(४) अनुभाव का अर्थ रस-जन्य चेष्टाएँ नहीं हैं अर्थात् श्रृंगार रस में विभोर राम की चेष्टाएँ नहीं वरन् भावों के अनुवर्ती विकार अर्थात् उपचित स्थायी भाव के नहीं अनुपचित स्थायी भाव—और व्यभिचारियों के भी—अनुवर्ती विकार। उपचित स्थायी भाव रस है अतः उसके अनुवर्ती विकार तो कार्य ही होंगे कारण नहीं, जबकि अनुपचित स्थायी भावों के और संचारियों के अनुवर्ती विकार स्थायी भाव के उपचय का कारण होते हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर (?) डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'भावानाम्' का अर्थ किया है 'विभावों' के अर्थात् 'आलम्बन के' अनुभाव जो आश्रयरूप अनुकार्य द्वारा अनुभूत रस के [illegible]ग होते हैं। यद्यपि भरत की शब्दावली में 'भाव' में 'विभाव' का भी अन्तर्भाव है, फिर [illegible] इस प्रकार के विशेष अर्थ की उपस्थापना अनावश्यक है क्योंकि यदि अभीष्ट अर्थ [illegible]ो अभिनवगुप्त ने ही स्वयं इसका स्पष्टीकरण क्यों नहीं किया। —इसके विपरीत [illegible] **'तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्'** की उपेक्षा कर इन्हें स्पष्टतः स्थायी भावों के [illegible] ही मान लिया है।

(५) व्यभिचारी स्थायी के सहभावी होते हैं। किन्तु **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'**—अर्थात् मन में एक साथ दो चेतनाएँ नहीं हो सकतीं : इस नियम के अनुसार स्थायी और व्यभिचारी का सहभाव कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि व्यभिचारी संस्कार रूप में स्थायी के साथ रहते हैं युगपत् स्थिति में नहीं। और यदि, स्थायी की वासनात्मकता-विषयक उपर्युक्त धारणा स्वीकार कर ली जाय तो भी दोनों का सहभाव सिद्ध हो जाता है—स्थायी भाव की वासनारूप में स्थिति और संचारियों की उद्भूत या उद्बुद्ध रूप में।

(६) रस मूलतः एवं मुख्यतः अनुकार्यगत होता है और गौण रूप में अनुसन्धान के बल से नटगत भी। अभिनव द्वारा उद्धृत वाक्यावली के अनुसार अनुसन्धानकर्त्ता नट ही है—अनुसन्धान के बल से उसमें भी रस की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ 'अनुसन्धान' शब्द

व्याख्यापेक्षी है। 'अनुसंधान' के संस्कृत आचार्यों ने अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं : (१) आरोप; (२) अभिमान; (३) योजन। इनके आधार पर अभिनव द्वारा उद्धृत वाक्य में आरोप का अर्थ होगा नट का अपने में 'रामत्वादि' का आरोप; अभिमान का अर्थ होगा नट का उस समय के लिए अपने को 'रामादि' समझना और योजन या योजना का अर्थ होगा 'पहले जो मैं नट था वही *अब मैं राम हूँ' (अशुद्धानुसंधान)* और इसके बाद *'मैं राम हूँ'* (शुद्धानुसंधान)।[1] इन तीनों में स्थूल दृष्टि से तो विशेष भेद नहीं है—किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह भेद स्पष्ट हो जाता है। दार्शनिक शब्दावली की उलझन में न पड़कर सामान्य दृष्टि से हम यही समझते हैं कि ये तीनों शब्द तादात्म्य के मात्रा-भेद के ही द्योतक हैं : 'आरोप' में तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य रहता है; 'अभिमान' में आन्तरिक हो जाता है—कदाचित् वह शैव-दर्शन के 'अशुद्धानुसंधान' तक ही पहुँच पाता है और 'योजन' में पूर्ण हो जाता है, अर्थात् शैव-दर्शन के शुद्धानुसंधान की कोटि तक पहुँच जाता है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने लोल्लट को शैव विद्वान् मानते हुए तृतीय मत की ही स्थापना की है। लोल्लट का वास्तविक अभिमत क्या था और डॉ० पाण्डेय की स्थापना कहाँ तक मान्य है, इसका निर्णय करने के लिए कोई प्रामाणिक आधार अभी नहीं मिलता। फिर भी भारतीय नाट्य-कला के सूक्ष्म-अध्ययन के लिए उपर्युक्त व्याख्यान अत्यन्त रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं और इसी दृष्टि से उसको यहाँ संक्षेप में उद्धृत किया गया है।

मम्मट ने उपर्युक्त उद्धरण में थोड़ा भेद कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है : **तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति**······अर्थात् रामादि अनुकार्यों के स्वरूप के अनुसन्धान से नट में प्रतीयमान स्थायी भाव ही रस हो जाता है। इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि रस की नट में प्रतीति सामाजिक को होती है—और कदाचित् अनुसन्धान का कर्त्ता भी सामाजिक ही है (यद्यपि अनुसन्धान की संगति यहाँ नट के साथ भी बैठ सकती है)। उपर्युक्त तीन अर्थ-विकल्पों के अनुसार अनुसन्धान के सामाजिक-परक अर्थ इस प्रकार होंगे :

(१) सामाजिक नट पर राम का आरोप कर उसमें रामगत रस की प्रतीति कर लेता है। आरोप शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि सामाजिक के मन में नट की चेतना लुप्त नहीं होती—उसे यह ज्ञान थोड़ा-बहुत रहता ही है कि यह नट है जो राम के रूप में व्यवहार कर रहा है।

(२) सामाजिक नट में राम का अभिमान कर रामगत रस की प्रतीति कर लेता है। इसका आशय यह है कि सामाजिक के मन में उस समय नट के प्रति राम-भावना उत्पन्न हो जाती है—रंग-कौशल की प्रवंचना से वह उस समय नट के वास्तविक रूप को भूल कर उसमें राम की प्रतीति कर लेता है। अभिमान शब्द की व्यंजना यह है कि नट के वास्तविक रूप को भूल कर उसमें राम की भावना करना एक प्रकार की भ्रान्ति ही है जो नाट्यकला के चमत्कार से कुछ समय के लिए उत्पन्न हो गयी है : यह प्रतीति यद्यपि मिथ्या है, फिर भी इसके बिना सामाजिक को नट में नायक-गत रस की प्रतीति नहीं हो सकती और उसका नाट्य-रस के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

---

[1] हिन्दी काव्यप्रकाश (डॉ० सत्यव्रतसिंह, पृ० ८८) और कम्पैरेटिव एस्थेटिक्स, भाग १ (डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ० ३०)।

(३) अनुसन्धान का योजना-परक अर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि 'नट ही राम है' इस प्रकार का शुद्धानुसन्धान हो जाने पर नटगत रस 'प्रतीयमान' नहीं रहेगा 'सिद्ध' हो जायगा जबकि उपर्युक्त उद्धरण का वैशिष्ट्य ही रस की 'प्रतीयमानता' पर निर्भर है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर लोल्लट की रस-धारणा की पुनः कल्पना का प्रयास किया जा सकता है। इस प्रसंग में पहली बात तो यह स्पष्ट है कि उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी एवं वस्तुपरक था, आत्मवादी एवं व्यक्तिपरक नहीं था—और इस दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी, अभिनवगुप्त के उद्धरणों को ही अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना होगा : मम्मट के संशोधन परवर्ती आत्मवादी रस-कल्पना के ही परिणाम हैं।

लोल्लट के अनुसार लोक-जीवन में कण्व के आश्रम की रमणीक पार्श्वभूमि में अपूर्व सुन्दरी शकुन्तला का साक्षात्कार कर दुष्यन्त के चित्त में सहसा रतिभाव उत्पन्न हो गया। (यह रतिभाव यद्यपि दुष्यन्त के चित्त में वासना-रूप से विद्यमान था, फिर भी चूँकि कारणभूत शकुन्तला के सम्पर्क से ही इसका उदय हुआ, इसलिए एक प्रकार से इसकी उत्पत्ति ही माननी चाहिए।) आलम्बन-रूप शकुन्तला के अनिन्द्य लावण्य एवं आकर्षक व्यवहार से वन-प्रदेश की उस रमणीक भूमिका में (उद्दीपन विभाव के द्वारा) आश्रय-रूप दुष्यन्त के चित्त का यह स्थायी रतिभाव और भी उद्दीप्त हो गया। दुष्यन्त के अंगों में स्पन्दन होने लगा--रोमांच से शरीर पुलकित हो गया (अनुभाव)। एक ओर शकुन्तला के रूप-लावण्य से उसके चित्त में हर्ष का उद्रेक हुआ, दूसरी ओर वरणीयता आदि के प्रश्न को लेकर चिन्तादि व्यभिचारी भाव अनायास ही संचरण करने लगे, यद्यपि इनसे रतिभाव का क्षय न होकर पोषण ही हुआ। इस प्रकार दुष्यन्त-रूप आश्रय के हृदय में शकुन्तला-रूप आलम्बन के द्वारा जो रति स्थायी भाव उत्पन्न होकर शकुन्तला के हावभाव तथा वातावरण के प्रभाव से उद्दीप्त हुआ था, वह दुष्यन्त के पुलक, रोमांच आदि अनुभावों से प्रकट होकर हर्ष, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों द्वारा पुष्ट हो गया—अर्थात् इस प्रक्रिया से उस स्थायी भाव का पूर्ण परिपाक हो गया और वह 'रस' बन गया।

'लोकवृत्तानुकृतिर्नाट्यम्' के अनुसार नाट्य में इस प्रसंग का अनुकरण किया गया। नट ने दुष्यन्त का रूप धारण किया, नटी ने शकुन्तला का, आश्रम की पार्श्वभूमि यवनिका के द्वारा प्रदर्शित की गयी। नट ने अपनी शिक्षा और अभ्यास से दुष्यन्त का अभिमान या योजना—सीधे शब्दों में उसके साथ तादात्म्य कर लिया और ठीक उसी के समान व्यवहार (का अभिनय) करने लगा, अर्थात् इस प्रकार व्यवहार करने लगा मानों वह स्वयं दुष्यन्त है और सामने विद्यमान नटी शकुन्तला है—जिसे देखकर उसके चित्त में रतिभाव का उद्भव हो गया है और शरीर में रोमांच आदि का उदय तथा मन में हर्ष, चिन्ता आदि भावों का संचार हो रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण सामग्री यहाँ भी उपस्थित हैं : स्थायी भाव है, विभाव हैं, अनुभाव और व्यभिचारी भाव हैं—अतः यहाँ भी स्थायी भाव विभाव से उद्भूत होकर और अनुभावों तथा व्यभिचारियों से क्रमशः व्यक्त एवं परिपुष्ट होकर 'रस' में परिणत हो जाता है। अन्तर यह है कि पहला प्रसंग वास्तविक है और दूसरा उसका कलात्मक अनुकरण है—अतः पहले प्रसंग में वास्तविक दुष्यन्त के चित्त में जिस रस की

निष्पत्ति हुई वह मुख्य है या था, और नाट्य-प्रसंग में नट के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति हुई वह गौण है। —अभिनव के साक्ष्य के अनुसार लोल्लट का अभिमत कदाचित् यही था; इसके गुण-दोष चाहे कुछ भी हों।

व्याख्या—कुछ शंकाओं का समाधान

इस अभिमत के विषय में पहला प्रश्न तो यह उठता है कि इस रस से सामाजिक का क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर है कि सामाजिक नट-गत रस का या नाट्यरस का साक्षात्कार कर चमत्कृत होता है। इस चमत्कार का आधार केवल वाह्य सौन्दर्य अर्थात् वातावरण, वेशभूषा, अनुभाव आदि का सफल अभिनय मात्र नहीं हैं—इसका मूल आधार स्थायी भाव है क्योंकि वही तो उपचित होकर रसत्व को प्राप्त हुआ है। अतः यह चमत्कार कुतूहल-जन्य मनोरंजन मात्र न होकर एक प्रकार की रागात्मक अनुभूति है। लोल्लट-सम्बन्धी उद्धरण में इस तथ्य का कथन नहीं है, परन्तु व्यंजना से यह सर्वथा स्पष्ट है। आख़िर, रस की सार्थकता अनुकार्य और अनुकर्ता तक ही सीमित तो नहीं मानी जा सकती। जब सम्पूर्ण नाट्य-प्रपंच का आयोजन ही सामाजिक के लिए है तो इस नाट्य-प्रपंच के प्राणभूत रस की सार्थकता भी उसके विना सिद्ध नहीं हो सकती—अर्थात् सामाजिक के चमत्कार में ही उसकी भी सार्थकता है। यह स्वतःस्पष्ट व्यावहारिक तथ्य है: इसके लिए तर्कशास्त्र या दर्शन की अपेक्षा नहीं है। भरत का मत भी यही है; लोल्लट उसी के सहारे चल रहे हैं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि अनुकार्य का क्या अर्थ है: मूल ऐतिहासिक राम, दुष्यन्तादि या कवि-निबद्ध रामादि? लोल्लट का उत्तर है: मूल ऐतिहासिक रामादि, क्योंकि कवि-निबद्ध रामादि के चित्त में रत्यादि भावों की उद्भूति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। लेकिन मूल पात्रों की सत्ता कहाँ है—उनका अनुकरण नट कैसे करेगा; नट तो वस्तुतः कवि-निबद्ध पात्रों का ही लोक-ज्ञान और व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर अनुकरण करता है। इसका उत्तर यह है कि वस्तुपरक दृष्टि के कारण लोल्लट मूल पात्र और उसके कवि-निबद्ध रूप में भेद नहीं कर पाये: मूल पात्र से काव्य या नाटक का पात्र कवि की भावना के संसर्ग के कारण निश्चय ही थोड़ा-बहुत भिन्न हो जाता है, इस रहस्य की अवगति उन्हें नहीं हो सकी। अतः उनके मन में यह शंका ही नहीं उठी कि रामादि का अनुकरण कैसे सम्भव है?

मूल रस की स्थिति अनुकार्यगत मानने का आशय यह है कि मूल रस का आस्वाद ऐतिहासिक रामादि ने ही किया था और व्यक्ति का अनुभव होने के कारण वह प्रत्यक्ष लौकिक—ऐन्द्रिय-मानसिक—अनुभव ही था। गौण रस की स्थिति अनुकर्ता में भी मानने का अर्थ यह है कि अनुकर्ता भी रत्यादि स्थायी भाव के परिपाक रूप रस का अनुभव करता है, किन्तु वह उसके अपने रत्यादि भाव के परिपाक का सीधा अनुभव नहीं है वरन् दूसरे के अनुभव का कल्पनात्मक समानुभव है। अतः मूल रस (अनुकार्यगत रस) की धारणा जहाँ वर्तमान रस-धारणा से भिन्न और उसी सीमा तक अशुद्ध है, वहाँ गौण (नट-गत) रस-धारणा, अनेक प्राचीन आचार्यों के (जो नट में रस की स्थिति नहीं मानते) मत से भिन्न होने पर भी, आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के मतानुकूल है।

भरत की भाँति लोल्लट का दृष्टिकोण भी वस्तुपरक है—वे भी सहृदय की दृष्टि से रस को आस्वाद न मानकर आस्वाद्य ही मानते हैं : सहृदय के नाट्यास्वाद का नाम रस नहीं है, रस की स्थिति नाटक के मूलपात्र एवं नट में ही है जिसका सहृदय भोग करता है। भरत के समान लोल्लट भी यही मानते हैं कि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से रस में परिणत हो जाता है :

१—नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति (भरत, ना० शा०, पृ० ९३)

२—तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः (लोल्लट, हि० अ०भा०, पृ० ४४३)

दोनों में भेद हो जाता है इन 'भावों' के वास्तविक अर्थ के विषय में। भरत के अनुसार भावों की—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी की—सत्ता भी वस्तुगत ही है। ये सभी भाव-भेद मूल पात्र, नट अथवा सामाजिक किसी भी व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव न होकर सामान्य भाव अर्थात् भाव-सम्बन्धी (मनोवैज्ञानिक) धारणाएँ—आधुनिक आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में निर्वैयक्तिक भाव (इम्परसनल इमोशन्स) ही हैं : कवि और नट अपने-अपने उपकरणों के माध्यम से प्रतिभा, लोकज्ञान, शिक्षा, अभ्यास आदि के द्वारा एक विशेष व्यवस्था के अनुसार इन्हें प्रस्तुत कर नाट्यरस की सृष्टि करते हैं। लोल्लट को कदाचित् यह स्थिति ग्राह्य नहीं हुई—जैसे कि अनेक आधुनिक आलोचकों को निर्वैयक्तिक भावों की स्थिति ग्राह्य नहीं है। अतः उन्होंने अपने बुद्धि-विवेक से इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है और सीधी विचार-प्रक्रिया का अवलम्बन कर स्थायी भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल पात्र के साथ और परोक्ष सम्बन्ध अनुकर्ता नट के साथ स्थापित कर दिया है। वे कवि की ओर भी बढ़ सकते थे; भरत के ग्रन्थ में इसके लिए प्रमाण भी है : **कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते**; परन्तु उधर कदाचित् उनका ध्यान नहीं गया। इस प्रकार रस की स्थिति नाट्य के स्थान पर अनुकार्य और अनुकर्ता व्यक्ति में मानने के कारण—रस को अनुभूति-रूप मानने के कारण—भावप्रधान कलात्मक स्थिति के स्थान पर रस को मनोभाव-रूप मानने के कारण—भरत की अपेक्षा लोल्लट का दृष्टिकोण निश्चय ही अधिक व्यक्तिपरक एवं भावपरक है। किन्तु सहृदय की दृष्टि से अब भी वह वस्तुपरक ही है क्योंकि लोल्लट-कल्पित रस सहृदय के लिए तो आस्वाद्य ही है। सहृदय का अपना आस्वाद लोल्लट के मत से रस नहीं है, रस का परिणाम है। भरत और लोल्लट की रस-कल्पना का सूक्ष्म भेदाभेद यही है।

विवेचन : शक्ति और सीमा

लोल्लट के अभिमत (या अनुमानित अभिमत) की सीमाओं का संस्कृत काव्यशास्त्र में विस्तार से विवेचन हुआ है, किन्तु उसकी शक्ति का उल्लेख किसी प्राचीन आचार्य ने नहीं किया।

शक्ति—(१) पहली विशेषता तो इसकी यही है कि भरत-सूत्र की व्याख्याओं में यह मत मूल के सर्वाधिक निकट है।

(२) रस को अनुकार्यगत मानने का आशय यह है कि काव्य और नाट्य सौन्दर्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल पात्र के भावों के साथ है और चूँकि मूल पात्र के भावों तथा उनसे प्रेरित कार्यों से ही काव्य या नाट्य की विषय-वस्तु (थीम) का निर्माण होता है अतः यह

सिद्ध होता है कि काव्य अथवा नाट्य का मूल सौन्दर्य उसकी विषय-वस्तु में ही निहित रहता है। इस तरह प्रकारान्तर से लोल्लट कला में वस्तु के महत्त्व की स्थापना करते हैं और यह सिद्धान्त नाना मतवादों के रहते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है : विश्व-साहित्य के प्राचीन तथा नवीन, अनेक आचार्यों की मान्यता इसे प्राप्त है।

(३) रस की व्यक्तिपरक व्याख्या का सूत्रपात यहीं से हो जाता है—कलात्मक स्थिति से आगे बढ़कर रस मनःस्थिति तक पहुँच जाता है : यद्यपि यह मनःस्थिति सहृदय की नहीं है, फिर भी व्यक्ति की सत्ता इसमें सर्वथा स्पष्ट है।

(४) अभिनेता द्वारा रसानुभूति की घोषणा कर लोल्लट ने नाट्य-कला के विकास में एक नया मोड़ उपस्थित किया। अभिनय-कला के प्रसंग में 'अनुसन्धान-क्रिया' का अनुसन्धान अपने आप में एक बड़ी सिद्धि थी। इससे नाट्य-कला के सूक्ष्म अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

सीमा

संस्कृत काव्यशास्त्र में लोल्लट के मत के दोष सर्व-विदित हैं। अभिनवभारती के अनुसार शंकुक ने उसके विरुद्ध आठ आक्षेप किये हैं—**(१) विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः, (२) भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् (३) स्थितिदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, (४) मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, (५) हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, (६) कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, (७) शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनुमान्द्यदर्शनं, (८) क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।**[१] (हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ४४५)

---

[१] अर्थात्—(१) विभावादि के योग के बिना [या अभाव में] स्थायिभाव से अनुमापक हेतु के न होने से [स्थायिभाव की] प्रतीति नहीं बन सकती है [इसलिए स्थायिभाव को रस नहीं कहा जा सकता है। और यदि, शब्द से स्थायिभाव की परोक्ष प्रतीति मानी जाए तो विभावादि के प्रयोग के] (२) पहिले भावों को [शब्द से] अभिधेय मानना होगा [वह परोक्षात्मक ज्ञान आस्वाद रूप या साक्षात्कारात्मक न होने से रस नहीं कहा जा सकता है।] (३) [विभावादि के प्रयोग के पहिले भी रस को] स्थित मानने पर ['विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इत्यादि रूप जो रस की उत्पत्ति की प्रक्रिया बतलायी है उन] अन्य लक्षणों की आवश्यकता नहीं रहती है। (४) [यदि रत्यादि स्थायिभावों को ही रस माना जाए तो रत्यादि की मात्रा में न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य की सम्भावना होने से रस में भी] मन्द, तर-तम-मध्यम आदि अनन्त भेद होने लगेंगे। [परन्तु रस के एक रूप होने से उसमें मात्राकृत तारतम्य नहीं माना जाता है। और यदि स्थायिभाव को ही रस मानें तो फिर रस के समान स्थायिभाव को भी तारतम्य या मात्राकृत भेद से रहित मानना होगा, उस दशा में] (५) हास्य रस में [स्थायिभाव की मात्रा के तारतम्य से जो छह भेद किये गये हैं उन] छह भेदों का अभाव प्राप्त होने लगेगा। [और यदि स्थायिभाव के तारतम्य से रस का भेद मानेंगे तो] (६) काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस, भाव आदि मानने होंगे [जो कि युक्तिसंगत नहीं हैं। इसलिए स्थायिभाव को रस मानना उचित नहीं है, और आपने स्थायिभाव के उपचय अथवा उपचित स्थायिभाव को रस कहा है, परन्तु शोकादि स्थायिभावों में] (७) शोक प्रारम्भ में तीव्र होता है, उसके बाद कालक्रम से मन्द होता जाता है [अतः उसका उपचय सम्भव न होने से करुण रस की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार] (८) क्रोध, उत्साह तथा रति [आदि अन्य स्थायिभावों में] अमर्ष, स्थैर्य और सेवा [आदि परिपोषक सामग्री] के अभाव में ह्रास दिखलायी देता है इसलिए [उपचय के स्थान पर उनका अपचय रूप] विपर्यय पाया जाने से [उपचित स्थायिभाव रस होता है यह कहना उचित नहीं है।]

इन तर्कों में से प्रथम छह स्थायी भाव और रस की एकता—स्थायी ही रस है—**स्थाय्येव रसः**—का निषेध करते हैं और अन्तिम दो स्थायी भाव की उपचिति—स्थायी भाव उपचित होकर रस बन जाता है—**'स्थाय्येव उपचितो रसः'** का। प्रथम छह तर्कों का सारांश यह है कि स्थायी भाव की सत्ता विभावादि के संयोग से पूर्व केवल विचारगत ही होती है, उनका ज्ञान मात्र हो सकता है साक्षात्कारात्मक या रसनात्मक प्रतीति नहीं। अतः विभावादि के संयोग से तो वास्तव में स्थायी भाव अपने स्वरूप को प्राप्त करता है—रस-रूप को नहीं। साथ ही स्थायी भाव में तो तारतम्य रहता है—उसकी अनुभूति में मात्रा-भेद से अन्तर पड़ता रहता है जबकि रस में तारतम्य की कल्पना असंगत है; अतः दोनों का ऐकात्म्य असिद्ध है। शेष दो तर्कों का सारांश यह है कि स्थायी भाव का उपचय सर्वत्र नहीं होता : शोक का जहाँ—स्वभावं से ही उपचय न होकर अपचय होता है, वहाँ क्रोध, उत्साह तथा रति भावों का परिपोषक सामग्री के अभाव में अपचय हो जाता है। अतः 'स्थायी भाव उपचित होकर रस बन जाता है' यह स्थापना, उपचिति की संदिग्धता के कारण, सिद्ध नहीं हो पाती।

शंकुक के ये आक्षेप सर्वथा मान्य नहीं हैं। स्थायी भाव ही रस में परिणत होता है—यह सिद्धान्त तो आरम्भ से अन्त तक मान्य रहा। भरत[1] का मत यही था; बाद में परवर्ती रसवादियों[2] ने भी इसे यथावत् स्वीकार किया है। अन्तर स्थायी भाव के अर्थ के विषय में था : भरत को जहाँ अव्यक्तिगत स्थायी भाव अभिप्रेत था, वहाँ अभिनवादि का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से था। लोल्लट ने इन दोनों से भिन्न तीसरा अर्थ किया—अनुकार्य का स्थायी भाव, और अनुकार्य के विषय में वे मूल पात्र और कवि-निबद्ध पात्र का भेद स्पष्ट नहीं कर पाये। उनके विवेचन का सबसे दुर्बल अंग यही है और यहीं से उनके सिद्धान्त का खण्डन आरम्भ हो जाता है।

इस दोष से एक दूसरे दोष का जन्म होता है और वह यह कि रस की स्थिति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय-मानसिक भाव से अभिन्न और तदनुसार सुख-दुःखात्मक हो जाती है, जो मान्य नहीं है।

लोल्लट के मत के दो प्रमुख दोष ये ही हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—(१) लोल्लट के अनुसार—निष्पत्ति का सीधा अर्थ है उपचिति, क्योंकि स्थायी की उपचित अवस्था का नाम ही रस है। यह उपचिति एक मिश्र प्रक्रिया है जिसमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी योग देते हैं। (क) विभावों से स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि होती है। इस उद्‌बुद्धि को उत्पत्ति भी कहा जा सकता है किन्तु यहाँ उत्पत्ति का अर्थ होगा अरूप को रूप देना—अभाव में भाव की कल्पना नहीं : स्थायी भाव वासना-रूप में स्थित होने के कारण केवल शब्द से

---

[1] **नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।** (भरत, ना० शा०, पृ० ९३)

[2] **रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।** सा० द० ३।१

अभिधेय था, उसकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति नहीं थी—विभावों के कारण ही उसने अपने रसनात्मक रूप को प्राप्त किया। (ख) अनुभावों से उसकी (स्थायी भाव की) प्रतीति होती है : मम्मट ने इसे सर्वथा स्पष्ट कर दिया है, परन्तु अभिनव के उद्धरण में भी इसका निश्चित संकेत है। (ग) व्यभिचारियों से उसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार उपचिति की प्रक्रिया में उद्‌बुद्धि या उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि—इन तीन क्रियाओं का आरम्भ में (प्रायः क्रमिक) योग है और अन्ततः ये तीनों ही मिलकर उपचिति की प्रक्रिया को पूर्ण करती हैं। वास्तव में भरत की दृष्टि में, और उनके निकटतम रहने के कारण लोल्लट की दृष्टि में भी, षाडवादि रस बनाने की प्रक्रिया रही है; जिस प्रकार निमित्त कारण से निस्सृत पदार्थ-विशेष का द्रव अन्य द्रव्यों और ओषधियों के मिश्रण से 'षाडवादि रस' बन जाता है ऐसे ही विभावों से उद्‌भूत स्थायी भाव, अनुभावों और व्यभिचारी भावों से मिलकर (पोषित होकर), नाट्यरस बन जाता है। अतः निष्पत्ति का अर्थ है बनना—निर्मिति, (अंगरेज़ी में जिसके लिए 'प्रिपेरेशन' शब्द का प्रयोग करते हैं)। उसके लिए उत्पत्ति शब्द का प्रयोग केवल इसी अर्थ में किया जा सकता है कि रस के द्वारा स्थायी भाव विभावादि से उपचित होकर एक नवीन रूप ग्रहण करता है : रस के रूप में किसी अभूत पदार्थ का उद्‌भव नहीं होता।

'निष्पत्ति' का अर्थ स्पष्ट हो जाने के पश्चात् संयोग का अर्थ निश्चित करना सरल हो जाता है। संयोग का सीधा अर्थ है विभावादि के साथ स्थायी भाव का संयोग : **विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः**। ये विभावादि स्थायी भाव को उपचित कर रस रूप में परिणत कर देते हैं—अतः विभावादि उपचायक हैं और स्थायी भाव उपचेय, अर्थात् स्थायी भाव तथा विभावादि में उपचेय-उपचायक सम्बन्ध है। इस प्रकार 'संयोग' का अर्थ होता है : उपचेय-उपचायक सम्बन्ध। जैसा कि मैंने पूर्ववर्ती अनुच्छेद में स्पष्ट किया है उपचय या उपचिति एक संयुक्त प्रक्रिया है जो उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि—इन तीन अंग-भूत क्रियाओं से मिलकर सिद्ध होती है। विभावों से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है, अतः विभावों के साथ उसका उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है; अनुभावों से उसकी प्रतीति होती है, अतः अनुभावों के साथ उसका गम्य-गमक सम्बन्ध है और व्यभिचारी भावों से उसकी पुष्टि होती है, अतः व्यभिचारियों के साथ उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध है। अर्थात् उपचेय-उप-चायक सम्बन्ध उत्पाद्य-उत्पादक+गम्य-गमक+पोष्य-पोषक सम्बन्धों का समवाय है। सूत्र बना :

संयोग=उपचेय-उपचायक सम्बन्ध=उत्पाद्य-उत्पादक+गम्य-गमक+पोष्य-पोषक सम्बन्ध।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

लोल्लट के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे मीमांसक थे। अब तक इसका कोई विश्वस्त आधार नहीं मिला—और इसका इतिहास भी बहुत पुराना नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त, मम्मट और जगन्नाथ आदि ने इस तथ्य का कोई उल्लेख नहीं किया, सबसे पहले कदाचित् काव्यप्रकाश के भाष्यकार वामन झलकीकर ने सन् १७४७ में अपनी बाल-

बोधिनी टीका में यह संकेत किया है कि लोल्लट भट्ट-मतोपजीवी मीमांसक[1] थे और सम्भवतः वहीं से प्रेरणा प्राप्त कर डा० पी. वी. काणे[2] ने अभिनवभारती के एक उद्धरण के आधार पर उनके पूर्वमीमांसक होने का अनुमान कर लिया है। इन्हीं दो उल्लेखों के आधार पर गतानुगतिकतावश हिन्दी-संस्कृत के आधुनिक विद्वान् लोल्लट की रस-विवेचना को मीमांसा पर आश्रित मानते रहे—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० गुलाबराय, पं० रामदहिन मिश्र आदि ने निर्भ्रान्ति रूप से इस तथ्य की घोषणा की है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी परम्परा का ही समर्थन करते हुए लिखा है : "इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तरमीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' का ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त में जगत् की आध्यात्मिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यात्मिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीता-विषयिनी अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी, नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात् 'उत्तरमीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।" (काव्यप्रकाश—टीका पृ० १०१-१०२)। किन्तु वर्तमान[3] शोधकों ने जब इसके मूल स्रोत का अन्वेषण किया तो उन्हें कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं मिला और प्रमाण के अभाव में किसी प्राचीन प्रवाद की आवृत्ति करना अनुसन्धान के नियम के विरुद्ध है। अतः यह मानने का कोई कारण आज नहीं मिलता है कि लोल्लट पूर्वमीमांसक, उत्तरमीमांसक अथवा भट्टमतोपजीवी मीमांसक थे।

इधर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि लोल्लट शैव थे। उनकी स्थापना के आधार दो हैं : (१) वसुगुप्त की स्पन्दकारिका पर किन्हीं लोल्लट की एक वृत्ति मिलती है और (२) 'अनुसन्धान' शब्द का 'योजन' के अर्थ में लोल्लट ने प्रयोग शैवदर्शन के अनुसार ही किया है।[4] इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पना उपर्युक्त कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक साधार है, किन्तु इसको भी सर्वथा प्रामाणिक मान लेना सरल नहीं है क्योंकि एक तो यह निश्चय करने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है कि अनुसन्धान शब्द का प्रयोग लोल्लट ने 'योजन' के अर्थ में किया है और दूसरे लोल्लट की विवेचना की शैवाद्वैत के साथ तो कोई संगति ही नहीं बैठती। अतः यह विकल्प भी संदिग्ध ही है। —अन्त में, डॉ० तारकनाथ बाली ने अपने शोध-प्रबन्ध में स्थायी भाव की 'उत्पत्ति' के आधार

---

[1] काव्यप्रकाश : वामन झलकीकर, पृ० २२५

[2] हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ४६

[3] डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त (रसगंगाधर, शा० अ०, पृ० १२६)

[4] हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ० २८

पर 'असत्कार्यवाद' के साथ लोल्लट की रस-विवेचना का सम्बन्ध स्थापित किया है,[1] किन्तु जैसा कि मैंने उपर्युक्त विवेचन में अभी स्पष्ट किया है लोल्लट ने 'उत्पत्ति' शब्द का प्रयोग 'अभाव में भाव की कल्पना' के लिए नहीं किया। —वे भावों की वासना-रूप में स्थिति से अवगत थे : स्थायी तथा व्यभिचारी दोनों के प्रसंगों में उन्होंने 'वासना' का प्रयोग किया है— (१) **कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, (२) व्यभिचारिणश्च······यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः।** प्रस्तुत प्रसंग में यदि यह भी मान लिया जाए कि वासना-विषयक टिप्पणी अभिनव ने चढ़ा दी है, तब भी कदाचित् यह कल्पना संगत नहीं होगी कि भारतीय दर्शन की इस अत्यन्त प्रचलित धारणा से लोल्लट अनभिज्ञ थे—या इसे स्वीकार नहीं करते थे, अतएव असत्कार्यवाद का आधार भी ठीक नहीं बैठता और अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि उपलब्ध सामग्री के आधार पर लोल्लट के रस-विवेचन की दार्शनिक भूमिका का निर्णय सम्भव नहीं है। केवल यही कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि भरत के समान ही व्यावहारिक थी। अस्तु !

श्री शंकुक

भरत-सूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याता हैं—शंकुक। ये भी भट्टलोल्लट के समान ही केवल नाम-शेष हैं : इनके मत से सम्बद्ध कुछ उद्धरण 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक-लोचन' में और एक उद्धरण 'काव्यप्रकाश' में मिलता है—हेमचन्द्र तथा प्रदीपकार की रस-विवेचनाओं में उद्धृत शंकुक का मत प्रायः इन पर ही आधृत है।

'अभिनवभारती' में उद्धृत श्री शंकुक का मत :

तस्मात् हेतुर्भिविभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। 'रतिः शोकः' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति। × × × × × अतएव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तकमपि नोक्तम्।

तेन 'रतिनुक्रियमाणा शृङ्गारः' इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्। अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥ इति॥

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्य-

---

[1] रस-सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन, पृ० ३७

प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन, यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदाद् अविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥

—अर्थात् इसलिए [रस के] कारण-रूप विभावों, [उसके] कार्य-रूप अनुभावों [कटाक्षादि शारीरिक व्यापारों], तथा सहचारी-रूप [निर्वेदादि] व्यभिचारी भावों [मानस व्यापार या चित्तवृत्ति] से [नट के द्वारा अपने शिक्षा, अभ्यास आदि रूप] प्रयत्न से जन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उसी प्रकार के [कृत्रिम] न प्रतीत होने वाले [कारण कार्य सहकारी रूप पूर्वोक्त विभावादि से] लिंग की सामर्थ्य से अनुकर्ता [नट] में स्थित रूप से [अनुमान द्वारा] प्रतीत होने वाला, मुख्य [अनुकार्य] राम आदि में रहने वाले [रत्यादि] स्थायिभाव का अनुकरण-रूप [नटगत स्थायिभाव ही रस] होता है। और अनुकरण-रूप होने के कारण ही [स्थायिभाव नाम से न कहा जाकर] उससे भिन्न [रस इस] नाम से व्यवहृत 'रस' कहलाता है।

[इस प्रकार से रस की अनुभूति में कारणभूत] विभाव काव्य के द्वारा उपस्थित होते हैं। [कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि] अनुभाव [नट की] शिक्षा [अभ्यासादि] से, और व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा [उपस्थित होते हैं]। स्थायिभाव [इनमें से किसी साधन से उपस्थित नहीं होता है] काव्यबल से भी प्रतीत नहीं होता है। [पूर्वतः स्थित रहता है। केवल विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव-रूप लिंगों से नटगत रूप में अनुमित होता है। वह भी रामादिगत रत्यादि के अनुकरणात्मक रूप में अनुमित होता है। इसलिए अनुकरणात्मक होने से स्थायिभाव नाम के वजाय 'रस' नाम से कहा जाता है]। रति, शोक आदि शब्द अभिधा शक्ति द्वारा [शाब्द प्रक्रिया के अनुसार परोक्ष रूप में] रत्यादि को बोधित करते हैं। वाचिक अभिनय के रूप में बोधित नहीं करते हैं। × × × × इसीलिए [स्थायिभाव की प्रतीति काव्यबलादि से न होकर केवल अभिनय द्वारा होने से सूत्रकार ने रस के लक्षण में जहाँ विभाव, अनुभाव आदि का उल्लेख किया है वहाँ] स्थायी पद का भिन्न विभक्ति में भी प्रयोग नहीं किया है।

इसलिए अनुक्रियमाण [जिसका अभिनय द्वारा अनुकरण किया जा रहा है इस प्रकार की नटगत] रति [स्थायिभाव] शृंगार रस होती है। इसलिए [रस को भट्टलोल्लट ने जो तदात्मक अर्थात्] स्थायिभाव-रूप अथवा [उत्पत्तिवादी द्वारा] स्थायिभावजन्य [तत्प्रभाव] माना है सो [वास्तविक रूप में] युक्तिसंगत नहीं है।

मिथ्याज्ञान से भी [रसास्वादादि रूप] अर्थक्रिया [फलप्राप्ति] देखी जाती है।

मणि की प्रभा तथा प्रदीप की प्रभा को देखकर और [उनको] मणि समझ कर

[उठाने के लिए] भागने वाले दो व्यक्तियों में मिथ्याज्ञान के समान होने पर भी अर्थक्रिया [अर्थात् फलप्राप्ति] में भेद पाया जाता है।

और यहाँ (१) नट ही सुखी [शृंगाररसयुक्त राम] है, यह प्रतीति नहीं होती है। और (२) यही राम है, इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती। (३) न यह सुखी [राम] नहीं है, यह प्रतीति होती है। और (४) नहीं, यह राम है या नहीं —इस प्रकार की [संशयात्मक] प्रतीति होती है। किन्तु चित्रतुरगादिन्याय से (अर्थात् घोड़े के चित्र को देखकर जिस प्रकार की प्रतीति होती है उस प्रकार की) सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य रूप समस्त प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की, जो सुखी राम है वह ही यह [नट] है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। [अतएव उसको निश्चित रूप से भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता है]। इसी से [निम्न कारिकाओं में] कहा है—

[नाटक में नट को रामादि के रूप में देखते समय] न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की, और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है। यह [नट] वह [राम रूप] है इस प्रकार की बुद्धि होती है और यह [नट वास्तव में] वह [रामादि रूप] नहीं है इस प्रकार की भी बुद्धि होती है।

इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किस प्रकार से [भ्रम आदि रूप से] कहा जाय [यह निश्चय नहीं किया जा सकता है]।

[हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४६-५०]

'ध्वन्यालोकलोचन'—दूसरे उद्योत—में शंकुक का नाम दिये विना ही अभिनवगुप्त ने उनकी रस-विषयक मान्यता को उद्धृत किया है :

अन्ये तु—अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीततयास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्-रसा नाट्यरसाः।

—अर्थात् दूसरे आचार्यों का कहना है—'जिस प्रकार भित्ति पर हरिताल इत्यादि से अश्व का चित्र बना दिया जाता है और उस चित्र में अश्व का अवभास होने लगता है, उसी प्रकार अभिनय इत्यादि सामग्री के सहकार से अनुकरण करने वाले नट में स्थायिभाव का अवभास होने लगता है। यह एक ऐसी प्रतीति होती है जिसकी तुलना लोक में होने वाली किसी भी प्रतीति से नहीं हो सकती। अतएव इस प्रतीति में एक प्रकार का आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रतीति का दूसरा नाम आस्वाद भी हो जाता है। इस रसन या आस्वादन को रस कहते हैं। यह रसन या आस्वादन नाट्य से होता है। अतः इसे नाट्यरस कहते हैं।

मम्मट के काव्यप्रकाश में उद्धृत शंकुक का मत :

काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारण-

कार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्री शंकुकः।

—अर्थात्—काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने [अनुभाव इत्यादि] कार्य से, नट के ही द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्द से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्यगमकभावरूप सम्बन्ध से, अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव वहाँ [अर्थात् नट में वास्तव रूप में] न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से [स्वात्मगतत्वेन] आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्रीशंकुक का मत है।

शंकुक का अभिप्राय—

(१) अनुकार्यगत स्थायी भाव का नट द्वारा अनुकृत रूप रस संज्ञा से अभिहित होता है—अर्थात् स्थायी भाव वस्तुतः अनुकार्य रामादि में ही अवस्थित रहता है। नट अपने कौशल द्वारा उसका अनुकरण करता है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी स्थायी भाव का अनुभव कर रहा है। **स्थायी भाव की यह नाट्यानुकृति ही रस है।**

(२) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तो नाट्य में उपस्थित रहते हैं, किन्तु स्थायी भाव उपस्थित नहीं होता। शब्द आदि से केवल उसका बोध हो सकता है प्रतीति नहीं—उसका उपस्थापन तो केवल अभिनय के द्वारा ही हो सकता है, इसीलिए भरतसूत्र में भिन्न विभक्ति में भी उसका उल्लेख नहीं हुआ। अतः सामाजिक विभावादि लिंगों से उसका अनुमान करता है—**नट द्वारा अनुक्रियमाण रामादि के स्थायी भाव का।**

(३) अनुकरण की प्रक्रिया : (क) विभावादि का अनुकरण काव्य के आधार पर होता है—अर्थात् कवि ने विभावादि का जैसा चित्रण नाटक में किया है, अनुकर्ता उसी के अनुसार व्यवहार करता है। (ख) अनुभावों का अनुकरण अभिनय-कला की शिक्षा से सम्भव हो जाता है। (ग) व्यभिचारी भावों का अनुकरण नट अपने कृत्रिम अनुभावों के आधार पर कर लेता है—लोकानुभव में नट चिन्ता, हर्ष आदि में मनुष्यों की जिस प्रकार की मुद्राएँ देखता है वैसी ही मुद्राएँ चिन्ता, हर्ष आदि के वास्तविक अनुभव के बिना ही कृत्रिम रूप से बनाकर उक्त व्यभिचारियों का अभिनय कर लेता है—इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का अभिनय इस कौशल के साथ किया जाता है कि कृत्रिम होने पर भी वे वास्तविक प्रतीत होते हैं।

यह विवेचन अभिनय-कला की दृष्टि से तो उपयोगी है ही, एक विशेष महत्त्व इसका यह भी है कि अनुकार्य के वास्तविक स्वरूप के प्रश्न का यहाँ कदाचित् पहली बार उत्तर मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकार्य से अभिप्राय वास्तव में काव्य-निबद्ध रामादि का है, ऐतिहासिक रामादि का नहीं; मूलतः तो ऐतिहासिक रामादि ही

अनुकार्य हैं, परन्तु वे नट के नहीं कवि के अनुकार्य हैं—नट के अनुकार्य हैं कवि-निवद्ध रामादि ।

(४) यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब नटगत स्थायी भाव अवास्तविक है, तो प्रेक्षक द्वारा उसका अनुमान मिथ्या ज्ञान हुआ और इस मिथ्या ज्ञान के आधार पर प्रेक्षक का नाट्यरसास्वादन वास्तविक कैसे माना जाएगा ? इसका समाधान दो प्रकार से हो सकता है :

नट में राम की प्रतीति भ्रांति मात्र नहीं है क्योंकि नाट्य में नट को राम के रूप में देखते समय न सन्देह का अनुभव होता है, न यथार्थता का और न भ्रांति का ही—नट राम है, ऐसा भी लगता है और नट राम नहीं है, यह भी लगता है । ऐसी स्थिति में नट में राम की प्रतीति एक विचित्र [कला-जन्य] प्रतीति है, जो सन्देह, यथार्थज्ञान, भ्रांति—किसी भी वास्तविक अनुभव के तद्रूप नहीं है । अतः नाट्य की प्रतीति एक विशेष कला-जन्य प्रतीति है जिसे शुद्ध भ्रांति या मिथ्याज्ञान मानना असंगत है ।

कला की इसी विशिष्ट प्रतीति को 'चित्रतुरगन्याय' का आश्रय लेकर और भी स्पष्ट किया गया है । नट में राम की प्रतीति सम्यक् अथवा यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि नट वास्तव में राम नहीं है ; वह मिथ्या ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि नट पर रामत्व का आरोप उस तरह से निराधार नहीं है जिस तरह से कि रज्जु में सर्प का भ्रम ; वह संशय ज्ञान भी नहीं है, अर्थात् नाटक का प्रेक्षण करते हुए सामाजिक के मन में यह सन्देह नहीं उठता है कि सामने नट है या राम, क्योंकि सन्देह तो कला-प्रतीति का सबसे वड़ा विघ्न है—संशय-ग्रस्त मन कला का आनन्द नहीं ले सकता ; और अन्त में, यह प्रतीति सादृश ज्ञान भी नहीं है अर्थात् प्रेक्षक को यह प्रतीति नहीं होती कि सामने है तो नट ही, किन्तु वह राम के सदृश है । अतः यह प्रतीति सामान्य न होकर विलक्षण है—कैसी है ? जैसी कि अश्व के चित्र में अश्व की प्रतीति अर्थात् यह प्रतीति कला की प्रतीति है जो सामान्य प्रतीति-भेदों से भिन्न है । इस प्रकार शंकुक ने भी अपने ढंग से कलानुभूति की विलक्षणता का ही आख्यान किया है—जो सर्व-सम्मत न होने पर भी विश्व के प्राचीन और नवीन सौन्दर्यशास्त्र का एक वहुमान्य सिद्धान्त है ।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि काव्य, रंगकौशल, अभिनय-कला आदि की सहायता से राम-सीता के रूप, व्यवहार आदि [विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी] का अभिनय करते हुए नट-नटी जब उनके प्रेम (रति स्थायी) का अभिनय करने में सफल हो जाते हैं—अर्थात् रंगमंच पर उनके प्रणय का दृश्य प्रस्तुत कर देते हैं तो रस निष्पन्न हो जाता है । अतः रस-निष्पत्ति का अर्थ हुआ काव्य, रंग-कौशल आदि की सहायता से नट द्वारा स्थायी भाव की अनुकृति—सीधे शब्दों में, स्थायी भाव का अभिनय । इस प्रकार शंकुक के मत से रस का आधार नट है : इनके अनुसार भी रस भाव पर आश्रित एक कलात्मक स्थिति है जिसमें अभिनय-तत्त्व प्रधान है और काव्य-तत्त्व गौण क्योंकि काव्य अभिनय का सहायक मात्र है । इस दृष्टि से यह मत भी भरत-सम्मत अर्थ के निकट है क्योंकि इसमें भी रस को अनुभूति-रूप न मान कर स्थिति-रूप ही माना गया है—भेद इतना है कि भरत में जहाँ काव्य और नाट्य दोनों पर समान वल दिया गया है वहाँ शंकुक के मत में

भट्ट तोत द्वारा शंकुक के अनुकरणवाद का खण्डन

शंकुक के मत का खण्डन अभिनवगुप्त ने अपने आचार्य भट्ट तोत के माध्यम से किया है। ये सभी तर्क भट्ट तोत के हैं या अभिनव के अपने तर्क भी इनमें अंतर्भुक्त हैं, भट्ट तोत के ग्रंथ/ग्रंथों के अभाव में इसका निर्णय करना आज कठिन है। इनका सारांश यह है कि न तो प्रेक्षक की दृष्टि से स्थायी भाव का अनुकरण सिद्ध हो सकता है, न नट की दृष्टि से, न तत्त्व-विवेचक की ही दृष्टि से—और न भरत ने ही इसका संकेत किया है।

प्रेक्षक की दृष्टि से :

प्रमाण के अभाव में प्रेक्षक यह कैसे अनुभव कर सकता है कि नट राम का अनुकरण कर रहा है? अनुकरण की प्रतीति के लिए तो अनुकार्य और अनुकर्ता की क्रिया—दोनों का ज्ञान अपेक्षित है; जिसने रामादि को देखा है वही उनके रूप-व्यवहार आदि के अनुकरण की प्रतीति कर सकता है, पर रामादि को किसने देखा है? विभावादि के अनुकरण की प्रतीति जहाँ इन्द्रियों के माध्यम से होती है, वहाँ स्थायी भाव के अनुकरण की प्रतीति मन (आत्मा) का विषय है, अतः मूर्त विभावादि की ऐन्द्रिय प्रतीति के द्वारा अमूर्त भाव की मानसिक प्रतीति की कल्पना असंगत है। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार लोक-जीवन में नर-नारी के वास्तविक व्यवहार को देखकर सामाजिक को रति की प्रतीति होती है इसी प्रकार रंगमंच पर भी नट-नटी के कृत्रिम व्यवहार को देखकर उसे कृत्रिम या अनुकृत रति की प्रतीति होती है—तो यह भी तर्कणा भ्रांत है। कारण यह है कि यदि प्रेक्षक नट-नटी के व्यवहार को कृत्रिम समझता है तब तो उसे रति की भ्रांति मात्र हो सकती है—कृत्रिम या अनुकृत रति की प्रतीति नहीं, और यदि वह नट-नटी के व्यवहार को वास्तविक समझता है तब उसे वास्तविक रति की ही प्रतीति होगी—रति के अनुकरण की नहीं। अन्त में, यदि यह तर्क दिया जाय कि सामाजिक को नट वस्तुतः क्रुद्ध न होने पर भी क्रुद्ध-सा प्रतीत होता है और स्थायी भाव के सादृश्य की यह प्रतीति ही उसके अनुकरण की प्रतीति है—तब भी तथ्य की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि सादृश्य की प्रतीति मान लेने पर तो सामाजिक को नट के विषय में भावावेश-रहित प्रतीति ही होगी, अर्थात् नट में भाव की कल्पना ही वह नहीं कर सकेगा। इस प्रकार प्रेक्षक की दृष्टि से स्थायी भाव की अनुक्रियमाणता सिद्ध नहीं हो पाती।

नट की दृष्टि से :

नट की दृष्टि से भी स्थायी का अनुकरण सिद्ध नहीं होता। यदि अनुकरण का अर्थ है सदृशकरण, तब मूल व्यक्ति को देखे बिना वह कैसे सम्भव है? और यदि उसका अर्थ है पश्चाद्करण तब नट ही क्यों कोई भी व्यक्ति जो रत्यादि का अनुभव करता है रामादि के स्थायी भाव का अनुकरण कर सकता है—फिर तो लौकिक भावानुभूति भी रस हो जाएगी। एक प्रश्न यह उठता है कि नट शोकादि स्थायी भाव का अनुकरण किस साधन के द्वारा करता है? —अपने शोकादि के द्वारा। तब यह अनुकरण प्रत्यक्ष शोक की अनुभूति से भिन्न कैसे हुआ? अश्रुपात आदि से। किन्तु नट के अश्रुपात से तो अनुकार्य के अश्रुपात अर्थात् अनुभाव का ही अनुकरण हो सकता है, स्थायी भाव का नहीं। शंकुक की ओर से

एक विकल्प और भी प्रस्तुत किया जा सकता है : नट जीवनगत अनुभव के आधार पर अपने रत्यादि भावों के आलम्बनादि का स्मरण कर तदनुरूप अनुभावों का प्रकाशन करता हुआ उचित कण्ठध्वनि से काव्य का उच्चारण कर स्थायी भाव का अनुकरण करता है। किन्तु यह भी तो स्थायी भाव का अनुकरण नहीं कहा जा सकता—अतः नट की दृष्टि से भी स्थायी का अनुकरण असिद्ध है।

वस्तुस्थिति का विवेचन करने वालों की दृष्टि से :

तत्त्व-दृष्टि से वस्तुस्थिति का विवेचन करने पर भी रस की अनुकरणरूपता सिद्ध नहीं होती। क्यों ? अभिनव का तर्क है : 'बाद में प्रतीत होने वाले को वस्तुवृत्त नहीं कह सकते।' इस वाक्य का वास्तविक अर्थ क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। अभिनव ने यहाँ केवल इतना और कहा है 'और जो वास्तव में वस्तुवृत्त है, उसको हम आगे चलकर कहेंगे।' आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ० प्रेमस्वरूप आदि ने भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। इसका आशय कदाचित् यह है कि अनुकरण बाद की घटना होती है—तथ्य के घटित होने के बाद ही उसका अनुकरण सम्भव है। अतः अनुकरण की प्रतीति 'अनुसंवेद्यमान' तथ्य है जबकि रस सद्यःपरनिर्वृति रूप है। इस प्रकार तत्त्व-दृष्टि से रस अनुकरण-रूप नहीं माना जा सकता।

भरत के मत से :

अन्त में, भरत के मत से भी रसानुकरणवाद सिद्ध नहीं होता क्योंकि नाट्यशास्त्र में ऐसा कोई भी संकेत नहीं है—वरन् उसके विरुद्ध ही कुछ प्रमाण मिल जाते हैं। भरत की यह उक्ति भी कि 'नाटक में सप्तद्वीप का अनुकरण होगा' उक्त मत की पोषणा नहीं करती। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब नाटक में सारे संसार का अनुकरण होता है तब स्थायी भावों का अनुकरण ही क्यों न माना जाए ? इसका उत्तर है : मान भी लिया जाए कि स्थायी भाव का भी अनुकरण होता है, फिर भी यह तो सिद्ध नहीं होता कि स्थायी भाव का यह अनुकरण 'रस' है।

इस प्रकार शंकुक का अनुकृतिवाद सर्वथा असिद्ध हो जाता है। साथ ही जैसा कि आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है, उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके सिद्धान्त को अनुमितिवाद की अपेक्षा मूलतः अनुकृतिवाद कहना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि अभिनव का पूरा बल अनुकृतिवाद के ही खण्डन पर है। बाद में चलकर मम्मट ने सहृदय की दृष्टि से व्याख्या करते हुए रस की अनुमिति पर अधिक बल दिया और उनके अनुसरण पर शंकुक का सिद्धान्त अनुमितिवाद नाम से प्रसिद्ध हो गया। परन्तु इस प्रसंग में ऐतिहासिक दृष्टि से मम्मट की अपेक्षा अभिनव का मत निश्चय ही अधिक प्रामाणिक है।

शंकुक के मत की सीमा और शक्ति

सीमा—

शंकुक के मत की सीमाएँ उसकी शक्ति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं। अभिनव ने अपने सम्पूर्ण बुद्धि-बल से उनके अनुकरणवाद के दोषों का उद्घाटन किया है। इन आक्षेपों का मूल है अनुकरण शब्द की असमर्थता। शंकुक से डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व यवन आचार्य अरस्तू

ने भी काव्य तथा अन्य ललित कलाओं के प्रसंग में इसी शब्द का प्रयोग करते हुए अनुकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनके अनुसार भी काव्यादि कलाएँ केवल मूर्त पदार्थों का ही नहीं भावों और विचारों का भी अनुकरण करती हैं। अनुकरण के इस व्यापक प्रयोग के कारण उसकी अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं और अन्ततः उसका अर्थ किया गया—कल्पनात्मक पुनःसृजन। अर्थ का यह विस्तार—अनुकरण को सृजन के निकट ले आने का यह प्रयास, वास्तव में, शब्द की अपनी असमर्थता का द्योतक है : अभिप्रेत अर्थ तो ठीक है किन्तु शब्द में स्वयं इसका वाचन करने की शक्ति नहीं है। यही दुर्घटना शंकुक के साथ हुई है : उनका अभिप्राय यह है नट रामादि के व्यवहार का अनुकरण करता हुआ, कल्पना के द्वारा उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर, उनके रत्यादि स्थायी की भी कल्पनात्मक अनुभूति कर लेता है। यह कल्पनात्मक अनुभूति वास्तविक न होने के कारण एक दृष्टि से कृत्रिम अनुभूति ही है। बात शायद बहुत ग़लत नहीं है, किन्तु अनुकरण और कृत्रिम शब्दों की असमर्थता के कारण उलझ गयी है।

शंकुक के सिद्धान्त की दूसरी सीमा है रस के अनुमान की कल्पना। लिंगों के द्वारा लिंगी का अनुमान बुद्धि की क्रिया है, अतः वह परोक्ष ही हो सकती है—प्रत्यक्ष एवं आस्वादात्मक नहीं। शंकुक को इसका ज्ञान है, इसीलिए उन्होंने उसे सामान्य अनुमान से विलक्षण माना है। मम्मट ने इस चर्वणा की सामाजिक की अपनी वासना के आधार पर व्याख्या करने का प्रयास किया है, जिसका संकेत अभिनव के उद्धरण में नहीं है। यह सब कठिनाई वस्तुतः रस के अनुमान की कल्पना के कारण ही उपस्थित हुई है जो तत्त्वतः भ्रान्त है। भाव का अनुमान भी होता है, परन्तु वह परोक्ष अर्थात् विचार रूप ही रहता है—अनुभूति रूप नहीं होता। इसके विपरीत रस का आस्वाद साक्षात् और निश्चय ही अनुभूति-रूप होता है; अतः रस की अनुमिति की धारणा अनुभव से असिद्ध है।

तीसरा दोष इस सिद्धान्त का यह है कि रस में अभिनय-तत्त्व प्रधान और काव्य-तत्त्व गौण हो जाता है जो भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-चिन्तन की परम्परा के विरुद्ध है। भारतीय साहित्यशास्त्र में तो अभिनय की अपेक्षा काव्य को निश्चय ही अधिक महत्त्व दिया गया है। अभिनय कला अर्थात् उपविद्या है और काव्य विद्या। पश्चिम में भी काव्य को ही कला का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है : शंकुक ने रस को नट-कृत अनुकरण का पर्याय तथा काव्य को नट-कौशल का सहायक मात्र मानकर इस क्रम को उलट दिया है। वस्तुतः रस-परिपाक का मूल कारण काव्य ही है, अभिनय तो उसका पोषक मात्र है।

शक्ति—

लोल्लट ने रस को अनुकार्य की प्रत्यक्ष अनुभूति रूप मानकर नाट्यगत भाव और प्रत्यक्ष भाव में जो भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी शंकुक ने उसका निराकरण किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि नाट्यगत भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति न होकर उसका अनुकरण अर्थात् कल्पनात्मक अनुभूति है। कला के मनोविज्ञान का यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और रस के स्वरूप-विश्लेषण में इसका महत्त्व असंदिग्ध है।

अनुकार्य के वास्तविक रूप को भी शंकुक ने ही स्पष्ट किया। लोल्लट ने अनुकार्य

के प्रसंग में मूल पात्र और कवि-निबद्ध पात्र के बीच भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी—शंकुक ने स्पष्ट कहा कि नाट्य में अनुकार्य का अर्थ है कवि-निबद्ध पात्र।

सामान्य प्रतीति से कला-प्रतीति की विलक्षणता की स्थापना भी शंकुक की सूक्ष्म चिन्तना की परिचायक है। विवादास्पद होने पर भी कलाशास्त्र का यह अत्यन्त प्रसिद्ध एवं बहुमान्य सिद्धान्त है और आज भी इसके समर्थकों की संख्या कम नहीं है।

रस की घटना में शंकुक का प्रेक्षक लोल्लट के प्रेक्षक की अपेक्षा अधिक सक्रिय रूप से भाग लेता है—वह नाट्य में उपस्थित विभावादि लिंगों के द्वारा नट द्वारा अनुक्रियमाण स्थायी भाव—रस की अनुमिति करता है। लोल्लट ने प्रेक्षक को एकदम छोड़ दिया है—कम से कम उपलब्ध उद्धरणों में उसका कोई उल्लेख नहीं है। जब समस्त नाट्य-प्रपंच का विधान ही प्रेक्षक के लिए होता है तो उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? शंकुक ने इस स्वतःसिद्ध तथ्य की प्रतीति करते हुए प्रेक्षक के पक्ष को ग्रहण किया है और रस के संदर्भ में उसकी सत्ता को उचित मान्यता प्रदान की है। इस प्रकार रस की व्यक्तिपरक धारणा के विकास में शंकुक का योगदान स्पष्ट है।

और अन्त में, रस-विवेचन को निश्चित दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सर्वप्रथम शंकुक को ही प्राप्त है—उनके उपरान्त रस के स्वरूप-विश्लेषण में दार्शनिक चिन्तना का निश्चयपूर्वक प्रवेश हो गया, जिससे यद्यपि कुछ हानि तो हुई पर विचार का स्तर सहसा ऊँचा उठ गया।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

शंकुक के सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। भरत का दृष्टिकोण व्यावहारिक ही है—उन्होंने मूलतः नाट्य-व्यवसाय और गौणतः सामाजिक को दृष्टि में रखते हुए रस का व्यावहारिक विवेचन किया है जिसमें दर्शन का प्रपंच नहीं है। लोल्लट के विवेचन में दार्शनिक चिन्तन का प्रवेश तो अवश्य हो गया है, पर वह उनकी दृष्टि पर आरूढ़ नहीं हुआ और भरत के समानान्तर चलते हुए उन्होंने भी अपनी व्यावहारिक दृष्टि पर ही अधिक विश्वास किया है। उनके दार्शनिक सिद्धान्त के विषय में बड़ा विवाद है—और वास्तव में उचित प्रमाण के अभाव में उसका निर्णय करना सम्भव भी नहीं है। परन्तु शंकुक के विषय में इस प्रकार के सन्देह के लिए विशेष अवकाश नहीं है। उपलब्ध उद्धरणों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि उनकी प्रवृत्ति निश्चय ही दर्शन की ओर थी—उन्होंने अपने रस-विवेचन में दर्शन का उपयोग किया है और उनका आधारभूत दर्शन निश्चय ही न्याय है: लिंगों के द्वारा लिंगी का अनुमान तथा 'चित्रतुरगन्याय' आदि की धारणाएँ तथा शब्दावली इसका प्रमाण हैं। इसके आगे, रस-विषय के नवीन अनुसंधाता डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने अत्यन्त कौशल के साथ, तर्क-प्रमाण-पुरस्सर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शंकुक की आस्था वैदिक न्याय की अपेक्षा बौद्ध न्याय में ही अधिक थी। किन्तु यहाँ एक शंका उठती है और वह यह कि रस-सिद्धान्त के प्रति एक बौद्ध दार्शनिक के आकृष्ट होने की सम्भावना कहाँ तक हो सकती है? वैदिक दर्शनों—विशेषकर शैवदर्शन आदि के साथ रस-सिद्धान्त का जैसा प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है, वैसा अवैदिक दर्शनों के साथ नहीं। रस-सिद्धान्त के पूरे इतिहास

में दो-चार अवैदिक दार्शनिकों—गुणचन्द्र-रामचन्द्र आदि के नाम मिलते तो हैं, परन्तु वे उपर्युक्त अनुमान को विशेष प्रोत्साहन नहीं देते : गुणचन्द्र-रामचन्द्र की सुख-दुःखात्मक रस-कल्पना ने तो उल्टी गंगा वहाने का ही प्रयास किया था। यद्यपि यह शंका भी अपने आप में कोई निर्णायक विपरीत प्रमाण नहीं है, फिर भी मैं समझता हूँ कि वैदिक और अवैदिक न्याय के प्रपंच में न पड़कर शंकुक को केवल नैयायिक ही मानना अधिक प्रामाणिक होगा।

सांख्यवादी व्याख्याकार

शंकुक के उपरान्त अभिनवगुप्त ने नाम का उल्लेख किये विना किसी सांख्यवादी व्याख्याकार के मत का खण्डन किया है। इस प्रसंग में अभिनवभारती में निम्नोद्धृत पंक्तियाँ मिलती हैं :

येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री वाह्यैव, सांख्यदृशा सुखदुःख-स्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदु.खस्वभावा इति।

तेन 'स्थायिभावान् रसत्वनुपनेष्यामः' इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव वुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रामाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्यत् प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत् कियदत्रोच्यताम्।

—अर्थात् और जिस [व्याख्याकार] ने यह कहा कि [क्योंकि] सुख-दुःख-मोह को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त [रस की विभावादि रूप] विपय-सामग्री वाह्य ही होती है, इस सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार [संसार के सभी पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने के कारण] रस [भी] सुख-दुःखमोहात्मक होता है, और उस सामग्री में [जैसे आगे दिये जाने वाले व्यंजन आदि के उदाहरण में दाल आदि व्यंजनों में छौंक आदि के द्वारा संस्कार करने से रस की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार यहाँ] दाल आदि के स्थान पर विभाव और उनके संस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं। और [विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि] सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख-दुःख-मोह-रूप स्थायी भाव रत्यादि होते हैं।

[जिसने उपर्युक्त सांख्य-सिद्धान्त के आधार पर रस के सुख-दुःख-मोहात्मकत्व का प्रतिपादन किया है] उसने 'स्थायिभावों को रसत्व को प्राप्त करावेंगे' [स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः] इत्यादि [भरत मुनि के वाक्य] में उपचार (लक्षणा) का अंगीकार करके [इस] ग्रन्थ के साथ [अपने मत के] विरोध को स्वयं समझ कर [हम जैसे] प्रामाणिक पुरुषों को [उस भरतमुनि-विरोधी सिद्धान्त में मूर्खों को भी प्रतीत होने जाने वाले भद्दे] दोप के प्रदर्शन कराने की मूर्खता से वचा लिया, इसलिए उसको क्या कहा [कितना धन्यवाद दिया] जाए।

[हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६१]

इस मत का सारांश यह है :

(१) रस की विपय-सामग्री [विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी] वाह्य ही होती है।

(२) प्राकृतिक पदार्थ होने के कारण उसमें सुख, दुःख और मोह को उत्पन्न करने की शक्ति

होती है। सांख्य मत से प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से युक्त—त्रिगुणात्मिका होती है। सत्त्व सुख-रूप है, रजस् दुःख-रूप और तमस् मोह-रूप। अतः प्रत्येक प्राकृत पदार्थ में सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने की शक्ति होती है। (३) इस दृष्टि से रस भी, जिसकी विषय-सामग्री प्राकृत या वाह्य है, पदार्थ-रूप तथा त्रिगुणात्मक अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक होता है। (४) इस सामग्री में विभाव दाल आदि व्यंजन अर्थात् मूल पदार्थ-रूप हैं और अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव उनसे संस्कार करने वाले हैं। इस प्रकार विभावादि ही अनुभाव और व्यभिचारी से संस्कृत होकर रस बन जाते हैं।

प्रस्तुत स्थापना भरत के मत से भिन्न है क्योंकि उन्होंने तो स्पष्ट कहा है: **स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः**—अर्थात् स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। व्याख्याकार को इसका परिज्ञान है, परन्तु उसने भरत के इस प्रयोग को औपचारिक मानकर अपने मन्तव्य को पुष्ट करने का प्रयास किया है। (५) अतः रत्यादि स्थायी भाव रस की वाह्य विषय-सामग्री (विभावादि) से उत्पन्न आन्तरिक एवं सुखदुःखमोहात्मक होते हैं। उपर्युक्त रस-सामग्री का प्रेक्षण कर सामाजिक के चित्त में रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं जो उत्पादक सामग्री के अनुरूप सुखदुःखमोहात्मक ही होते हैं। अर्थात् स्थायी भाव रस के आधार-रूप न होकर प्रभाव-रूप होते हैं। (६) रस भाव-रूप न होकर पदार्थ-रूप ही है और उसकी अनुभूति आनन्दमयी नहीं वरन् सुखदुःखमोहात्मक होती है। राम और सीता का रूप धारण करने वाले नट-नटी जब उनके अनुभावों और व्यभिचारी भावों का भी सफल अभिनय करते हैं तो (रंगमंच पर) रस की सृष्टि हो जाती है। रस की समस्त विषय-सामग्री—राम-सीता, उनके अनुकर्ता नट-नटी, उनकी शारीरिक चेष्टाओं तथा मनोविकारों का अभिनय—सभी कुछ प्राकृत एवं वाह्य होता है, अतः तज्जन्य रस भी प्राकृत पदार्थ-रूप तथा त्रिगुणात्मक होता है और अन्य प्राकृत पदार्थों की भाँति उसका आस्वाद भी सुखदुःख-मोहात्मक ही होता है, केवल आनन्दमय नहीं। (७) संयोग का अर्थ यहाँ है विभावादि के साथ अनुभाव और व्यभिचारी भाव का संस्कारक-संस्कार्य सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ है सृष्टि (निर्मिति) जो सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार अभाव में भाव की कल्पना न होकर विद्यमान तत्त्वों की नवीन रूप में परिणति मात्र है।

प्रस्तुत मत के दोष इतने अधिक स्पष्ट हैं कि अभिनवगुप्त ने उसका युक्तिपूर्वक खण्डन करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। वास्तव में, यहाँ हमें रस के वस्तुपरक विवेचन का सबसे स्थूल रूप मिलता है। रस को यहाँ रंगमंच पर उपस्थित वाह्य अभिनय मात्र माना गया है जिसमें भाव-तत्त्व का प्रायः अभाव ही है—व्यभिचारी भाव भी अभिनीत होकर दृश्य-रूप ही हो जाते हैं। भरत की दृष्टि भी वस्तुपरक है, किन्तु उनके रस का आधार अनिवार्यतः स्थायी भाव ही रहता है। अतः यह मत भरत के मत के विरुद्ध तो है ही, साथ ही विवेक का बल भी इसे प्राप्त नहीं है। इसके अनुसार नाटक का सरस अभिनय देखकर सामाजिकों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार सुख, दुःख अथवा मोह का अनुभव होना चाहिए। इस प्रकार—प्रत्यक्ष जीवनगत अनुभव और कला की अनुभूति में कोई भेद नहीं रह जाता—न प्रकृति का और न गुण अथवा मात्रा का: कलानुभूति शुद्ध ऐन्द्रिय अनुभूति बन जाती है।

भट्टनायक

भरत-सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याकार हैं भट्टनायक। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती तथा ध्वन्यालोकलोचन—दोनों में ही इनके मत का विवेचन अधिक विस्तार एवं आदर के साथ किया है, यद्यपि स्वर यहाँ भी उनका खण्डनात्मक ही रहा है।

अभिनवभारती : भट्टनायकस्त्वाह रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।

न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यस्तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसतायुक्ता प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितवृत्त्यन्तरोदयः। अव्यग्रतयाकाशरसत्वमपि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम्।

शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्।

तस्मात् काव्यं दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो, अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति। (पृ० ४६२-४६५)

—अर्थात् भट्टनायक तो [रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए] यह कहते हैं कि—रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है। [क्योंकि यदि परगतत्वेन उसकी उत्पत्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी मानी जाए, सब ही व्यर्थ है। रस की प्रतीति तो सामाजिक को होनी चाहिए। यदि सामाजिक में उसकी अनुभूति न होकर किसी अन्य नट आदि में होती है तो वह सामाजिक के लिए व्यर्थ है। इसलिए परगतत्वेन उत्पत्ति आदि के विचार को छोड़कर ग्रन्थकार ने स्वगतत्वेन अर्थात् सामाजिक में रस की उत्पत्ति आदि के विषय में विचार किया है।] स्वगत [अर्थात् सामाजिक में करुणादि रसों की] प्रतीति मानने पर करुण रस में [सामाजिक को] दुःखी [प्रतीत] होना चाहिए। किन्तु वह प्रतीतियुक्त नहीं है। [दुःख के मूल कारण वास्तविक] (१) सीता आदि के विभाव [रूप में उपस्थित] न होने से। (२) अपनी स्त्री आदि की स्मृति [अभिनय काल में] न होने से [दुःख आदि का होना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यदि सामाजिक में करुण रस की प्रतीति मानी जाये तो उसके अनुभव काल में उसको दुःख होना चाहिए। इसलिए भट्टनायक के अनुसार सामाजिकगतत्वेन रस की प्रतीति नहीं बनती है। तीसरी बात यह है कि सीतादि अथवा पार्वती आदि] (३) देवता आदि [के विभाव होने पर उन] के साधारणीकरण के अयोग्य होने से और [हनुमान आदि जैसे विभावों के द्वारा किये गए] (४) समुद्रलंघन आदि [का साधारणीकरण असम्भव होने से उन] के

असाधारण होने से [सामाजिक को स्वगत रूप से रस की प्रतीति होना सम्भव नहीं है।]

और न उस [रत्यादि] से युक्त राम [आदि विभावों] की स्मृति, [रूप वह रस-प्रतीति] है [क्योंकि स्मृति, पूर्व-उपलब्ध अर्थ की ही होती है। रत्यादि युक्त राम के] पहले उपलब्ध न होने से [रसानुभूति को रत्यादिमान् राम की स्मृति रूप भी नहीं कहा जा सकता है।] शब्द, अनुमान आदि [परोक्ष ज्ञान के जनक प्रमाणों] से उस [रस] की प्रतीति मानने पर [उस ज्ञान के परोक्ष रूप होने और साक्षात्कारात्मक न होने के कारण उसमें] प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसी सरसता होती है वैसी सरसता नहीं हो सकती है। [इसलिए शब्द अथवा अनुमान प्रमाण से भी रस का ज्ञान नहीं माना जा सकता है। यदि लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण से रस की प्रतीति मानना चाहें तो वह भी युक्ति-संगत नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से सम्भोगादि में रत] नायक-नायिका के देखने पर [रस के स्थान पर लज्जा, घृणा और इच्छा आदि अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप] दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय होगा। इसके अतिरिक्त [लज्जा, जुगुप्सा आदि अन्य वृत्तियों का उदय हो जाने से अव्यग्रता अर्थात्] तन्मयता न होने के कारण [आकाश-पुष्प के समान आकाश-रस अर्थात्] रस-प्रतीति का अभाव भी होगा। इसलिए [लौकिक प्रत्यक्षादि रूप] अनुभव, स्मृति [परोक्ष ज्ञान] आदि रूप रस की प्रतीति मानना उचित नहीं है। [इसलिए भट्टनायक के मत में 'रसो न प्रतीयते' यह कहा गया है। और रस की] उत्पत्ति मानने में भी ये सब दोष समान ही हैं। [इसलिए रस की स्वगत या परगत उत्पत्ति भी नहीं कही जा सकती है। अब तीसरा अभिव्यक्ति-पक्ष रह जाता है। उसके विषय में भट्टनायक आगे कहते हैं कि]

शक्ति रूप से पहले से स्थित [रस] की [बाद को विभाव, अनुभाव आदि द्वारा] अभिव्यक्ति मानने पर [जैसे मन्द प्रकाश में वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती है, अधिक प्रकाश में अधिक स्पष्ट हो जाती है, इसी प्रकार विभावादि] विषयों की वृद्धि आदि से [रसानुभूति में भी न्यूनाधिक्य रूप] तारतम्य होने लगेगा [जो कि रस के अखण्ड एकरस एवं आत्मस्वरूप होने के कारण उचित नहीं है।] और [वह अभिव्यक्ति सामाजिक को] स्वगत रूप से होती है अथवा परगत [अर्थात् नटादिनिष्ठ] रूप से होती है यह पहले [प्रतीति एवं उत्पत्ति पक्ष] के समान विचारना चाहिए।

इसलिए काव्य में दोषाभाव तथा गुणालंकारमयत्व रूप लक्षण के कारण [अर्थात् दोष-रहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्द एवं अर्थ को काव्य कहा जाता है, इस काव्य-लक्षण के अनुसार] और नाटक में [आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य] चार प्रकार के अभिनय के द्वारा [सामाजिक के] अपने भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप, अभिधा के बाद [द्वितीय अंश पर] होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान [साधारणीकृत] रस, अनुभव, स्मृति आदि से भिन्न प्रकार के रजोगुण तथा तमोगुण

के मिश्रण के कारण द्रवीमान, विस्तार तथा विकास रूप, सत्त्व गुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार में विश्रान्ति रूप एवं परब्रह्म के आस्वाद के सदृश [भोग] भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव [भोग] किया जाता है। [यह भट्टनायक का अपना सिद्धान्त है।]

ध्वन्यालोकलोचन में भी भट्टनायक के मत का लगभग ३२ पंक्तियों में[1] विवेचन है। परन्तु उसमें मुख्यतः खण्डन ही है—भट्टनायक के सिद्धान्त का कथन अत्यन्त अल्प है और अभिनवभारती की अपेक्षा उसमें कोई नवीनता भी नहीं है। अतः उसको उद्धृत करने से प्रस्तुत संदर्भ में विशेष लाभ नहीं है।

हां, काव्यप्रकाश का उद्धरण निश्चय ही उपयोगी है।—वह यद्यपि अत्यंत संक्षिप्त है, फिर भी अभिनवभारती के उद्धरण से उसमें दो मार्मिक स्थलों पर भेद है, जो भट्टनायक के मत की व्याख्या में निश्चयपूर्वक योगदान करता है :

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते। (हि० काव्यप्रकाश, पृ० १०६-१०७)[2]

—अर्थात् न तटस्थ (नटगत या अनुकार्यगत रूप से) और न स्वगत रूप से रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य और नाटक में अभिधा से द्वितीय (तुरंत बाद में होने वाले), विभावादि के साधारणीकरणरूप भावकत्व नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत ?) स्थायी भाव, सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय संविद्विश्रांति (आत्मास्वाद या ब्रह्मास्वाद) के समान, भोग से (भोजकत्व व्यापार के द्वारा) आस्वादित किया जाता है—यह भट्टनायक का मत है।

भट्टनायक के मत का सारांश

भट्टनायक के मत के दो पक्ष हैं—निषेध पक्ष और विधि पक्ष।

निषेध पक्ष—निषेध पक्ष में उन्होंने रस की प्रतीति, उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का खण्डन किया है। प्रतीति तथा उत्पत्ति का फलितार्थ प्रायः समान ही है और उनका सम्बन्ध लोल्लट के मत से है; अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है आनन्दवर्धन के ध्वनि तथा व्यंजना-सिद्धान्त से जो भट्टनायक को सर्वथा अग्राह्य था। प्रतीति के विषय में पहला प्रश्न यह है कि वह परगत होती है या स्वगत ? यदि वह परगत है अर्थात् अनुकार्य अथवा नट रस की प्रतीति करता है, तो सामाजिक का उससे क्या वास्ता ? यदि वह स्वगत है अर्थात् यह माना जाए कि सामाजिक को स्वयं ही रस की प्रतीति होती है, तब अनेक बाधाएँ सामने आती हैं। प्रतीति के दो रूप हो सकते हैं : प्रत्यक्ष और परोक्ष। रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मानने पर करुणादि रसों में नायक-नायिका के शोक से सामाजिक को शोक का अनुभव होगा और उधर श्रृंगारादि

---

१ काव्यप्रकाश (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० १०६-१०७

२ ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा सं० सी० १९९७) पृ० १८६-१९० काव्येऽपि च......तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति।

रसों में दूसरों की प्रेम-क्रीड़ा के साक्षात्कार से सहृदय के चित्त में लज्जा, जुगुप्सा आदि का उदय होने से चित्त की अव्यग्रता (तन्मयता) नष्ट हो जाएगी जिससे रसानुभूति की सम्भावना ही नहीं रहेगी। किन्तु ऐसा तो वास्तव में होता नहीं है—प्रेक्षक को न दुःख का अनुभव होता है और न लज्जा आदि का। इसके कारण स्पष्ट हैं। एक तो यह कि प्रेक्षक वास्तविक राम-सीता का, जिन्होंने दुःख या संभोग-सुख का अनुभव किया था, साक्षात्कार नहीं करता। वे तो रस के विभाव नहीं हैं; राम-सीता के कल्पनात्मक रूप ही रस के विभाव हैं, अतएव प्रत्यक्ष प्रतीति—दुःख से दुःख और रति-क्रीड़ा से लज्जा आदि के उदय का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जब कारण ही वास्तविक नहीं है तो कार्य वास्तविक कैसे होगा? उत्तर दिया जा सकता है कि प्रेक्षक को अपनी प्रिया की स्मृति हो सकती है। किन्तु, यह भी संगत नहीं है क्योंकि इससे भी तो चित्त की समाहिति नष्ट हो जाएगी। इसके अतिरिक्त काव्यगत विभाव—सीता, पार्वती आदि—में तो सहृदय की पूज्य बुद्धि है; वे सामान्य कान्ता तो नहीं हैं जिनके प्रति उसका सहज रतिभाव हो सके। और, फिर—अलौकिक कार्यों के विषय में क्या कहा जायेगा? हनुमान् के समुद्र-लंघन की प्रतीति सहृदय को कैसे होगी क्योंकि अलौकिक एवं असाधारण पात्रों का तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। अतः प्रत्यक्ष प्रतीति असिद्ध है। परोक्ष प्रतीति के भी दो रूप हैं—शब्दार्थ-ज्ञान और (२) स्मृति। इनमें से प्रथम में तो साक्षात्कारात्मक अनुभूति की सम्भावना ही नहीं है क्योंकि अर्थ-बोध मात्र में आस्वाद नहीं होता। उधर स्मृति की कल्पना भी सार्थक नहीं है, क्योंकि स्मरण तो उसका हो सकेगा जिसका हमने पहले कभी प्रत्यक्ष दर्शन या अनुभव किया है: रावण के बन्दीगृह में शोकसंतप्ता सीता या सीता के वियोग में कातर राम को तो हमने देखा नहीं है, अतः उनका स्मरण हम कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार, परोक्ष प्रतीति भी सिद्ध नहीं होती।

उत्पत्ति के विरुद्ध भी उपर्युक्त सभी तर्क यथावत् प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अब रह गयी अभिव्यक्ति। उसके विरोध में पहले तो परगतत्व और स्वगतत्व का ही प्रश्न उठता है। यदि पूर्वस्थित रस की अनुकार्य या नट के चित्त में अभिव्यक्ति मानी जाय तब फिर यही उत्तर होगा कि सहृदय के लिए तो वह व्यर्थ ही हुई। यदि रस की अभिव्यक्ति सहृदय के चित्त में होती है तो विभावादि अभिव्यंजक कारणों के न्यूनाधिक्य से रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य की कल्पना करनी पड़ेगी। जिस प्रकार अभिव्यंजक दीपक आदि का प्रकाश प्रखर होने से पदार्थ का रूप अधिक व्यक्त होता है और मन्द होने से कम, इसी प्रकार काव्य में भी अभिव्यंजक विभावादि की शक्ति के तारतन्य से रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य सिद्ध हो जायेगा—जो रस की अखण्डता का बाधक होने के कारण अमान्य है। अतः रस की अभिव्यक्ति की कल्पना भी संगत नहीं है।

विधि पक्ष—भट्टनायक के अनुसार रस की भुक्ति होती है और अपने मत की सिद्धि के लिए वे काव्य के तीन व्यापारों की कल्पना करते हैं: अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

अभिधा शब्दार्थ का सामान्य तथा प्रथम व्यापार है जिसके द्वारा काव्य में शब्दार्थ का बोध होता है—यह काव्य, इतिहास-पुराण तथा शास्त्रादि सब में समान रूप से व्याप्त रहता है। अभिधा का यह स्वरूप प्रसिद्ध ही है अतः भट्टनायक ने इसका विवेचन नहीं किया।

दूसरा व्यापार है भावकत्व। (१) इसकी सत्ता केवल काव्य और नाट्य में ही मिलती है; काव्य में दोषाभाव तथा गुण एवं अलंकार के सद्भाव और नाटक में चतुर्विध अभिनय के कारण शास्त्रादि से भिन्न प्रभाव-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। शास्त्रादि में शब्दार्थ से अभिधा के द्वारा जहाँ केवल अर्थ-बोध होता है, वहाँ काव्य में भावकत्व के कारण कई अन्य विशेषताओं का समावेश हो जाता है : जैसे (क) सहृदय के चित्त का व्यक्तिगत राग-द्वेष-जन्य अज्ञान दूर हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त हो जाता है, अपने-पराये की भावना, जो आनन्दानुभूति की प्रमुख बाधा है, उस समय नहीं रहती; (ख) विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है—जो इस व्यापार का मूल गुण है; और अन्ततः (ग) रस भावित हो जाता है—अर्थात्, जैसा कि मम्मट के उद्धरण से स्पष्ट है स्थायी भाव भावित होकर रस में परिवर्तित हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति है : निष्पत्ति का अर्थ है स्थायी भाव का भावित हो जाना। यहाँ भावित शब्द का अर्थ विचारणीय है। काव्य-प्रकाश की अनेक टीकाओं के आधार पर आचार्य विश्वेश्वर ने इसका सीधा अर्थ किया है साधारणीकृत। किन्तु डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने दोनों में भेद किया है : वे लिखते हैं······ 'भट्टनायक का वक्तव्य है कि वे भावकत्व व्यापार से भावित होते हैं। उन्हें उनका 'साधा-रणीकरण' नहीं अपितु 'भावन' अभिप्रेत है।' दोनों के अर्थ में क्या भेद है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। मोनियर विलियम्स आदि के कोशों में 'भावन' के अनेक अर्थ मिलते हैं—उनमें से प्रसंग के अनुकूल दो-तीन ही हैं, यथा 'चिन्तन का विषय होना' 'कल्पना का विषय होना' 'व्यक्त होना' आदि। इनमें से दूसरा अर्थ—अर्थात् 'कल्पना का विषय होना' ही भट्टनायक के भावकत्व व्यापार के सर्वाधिक निकट है। अतः आधुनिक शब्दावली में भावन का अर्थ है 'कल्पनात्मक प्रतीति' और 'स्थायी भाव के भावन' का अर्थ है—भावकत्व व्यापार के फल-स्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति में परिणति। हम यहाँ आधुनिक काव्यशास्त्र की शब्दावली का ही प्रयोग कर रहे हैं प्राचीन का नहीं। परिणामतः स्थायी भाव की 'कल्पनात्मक प्रतीति' और उसके 'साधारणीकरण' में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि व्यक्तिबद्ध प्रत्यक्ष प्रतीति कल्पना का विषय बनकर स्वतन्त्र एवं साधारणीकृत ही हो जाती है : कल्पना का कार्य है बिम्ब का निर्माण और बिम्ब रूप होते ही विशिष्ट अनुभूति व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर सर्वगम्य हो जाती है।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार का कारण है शब्दार्थ में दोष का अभाव तथा गुणा-लंकार का सद्भाव, आधुनिक शब्दावली में कल्पना-तत्त्व का समावेश और कार्य है काव्य-सामग्री का साधारणीकरण, परिणामतः सहृदय के चित्त की व्यक्तिगत संसर्गों से मुक्ति (दूसरे शब्दों में चित्त का वैशद्य) और अन्त में इस द्विविध प्रक्रिया के फलस्वरूप सहृदय के स्थायी भाव की, भावित होकर, रस में परिणति।

तीसरा व्यापार है भोजकत्व जिसके द्वारा सहृदय भावकत्व द्वारा सिद्ध रस का भोग करता है। यह भोग अनुभव तथा स्मृति आदि—अर्थात् प्रत्यक्ष तथा परोक्ष लौकिक अनुभव से विलक्षण है। इस समय सत्त्व का उद्रेक होने से यद्यपि सहृदय का चित्त चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण तथा आनन्दमग्न हो जाता है, फिर भी उसमें रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण

के कारण द्रुति, विस्तार तथा विकास की स्थिति भी रहती है। वस्तुतः यह निजसंविद्विश्रांति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है जो ब्रह्मास्वाद के समान है—समान ही है तद्रूप नहीं क्योंकि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का स्पर्श भी रहता है।

रस भोग्य या आस्वाद्य है, आस्वाद रूप नहीं है। भावित होकर अथवा कल्पना का विषय बनकर सहृदय का स्थायी भाव रस बन जाता है और तब वह उसका भोग अर्थात् आनन्दमय आस्वादन करता है। यहाँ रस क्रमशः सहृदय के अत्यन्त निकट आ जाता है—वह उसके अपने स्थायी भाव की ही कल्पनात्मक प्रतीति है, किन्तु अब भी वह आनन्दमयी चेतना रूप नहीं है—उसका विषय ही है। (रस में और आनन्द में अभेद-सम्बन्ध न होकर कारण-कार्य सम्बन्ध है।) अतः प्रस्तुत रस-कल्पना में भी वस्तु-तत्त्व (विषय-तत्त्व) विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार भट्टनायक का दृष्टिकोण, अपने पूर्ववर्ती आचार्यो की अपेक्षा अधिक व्यक्तिपरक या आत्मपरक होने पर भी अभिनव की अपेक्षा में वस्तुपरक ही है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ हुआ भावित होना या भाविति। विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है—यही रस की निष्पत्ति है। विभावादि भावन क्रिया के कारण या भावक हैं और स्थायी भाव भाव्य है। अतः संयोग का अर्थ हो जाता है भावक-भाव्य सम्बन्ध। परम्परागत भोजक-भोज्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता क्योंकि रस की सिद्धि-निष्पत्ति तो स्थायी भाव के भावित होने में है—इस सिद्ध-निष्पन्न रस की सहृदय द्वारा भुक्ति निष्पत्ति के बाद की घटना है। इस प्रकार रस का स्थान है सहृदय का चित्त। कतिपय विद्वानों का मत है कि भट्टनायक रस की स्थिति शब्दार्थ में मानते हैं—आरम्भ में हमारी भी यही धारणा थी, किन्तु इसमें अधिक सार नहीं है। अभिनवभारती आदि में उद्धृत भट्टनायक के मन्तव्य के विश्लेषण तथा अभिनव द्वारा उसके खण्डन से इस धारणा का निश्चित रूप से निराकरण हो जाता है। उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर भावकत्व और भोजकत्व शब्दार्थ के व्यापार हैं; भावकत्व से एक ओर विभावादि का साधारणीकरण होता है, दूसरी ओर सहृदय का चित्त व्यक्ति-संसर्गो से मुक्त—विशद हो जाता है और इन दोनों के फलस्वरूप स्थायी भाव भावित होकर रस में परिणत हो जाता है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि शब्दार्थ भोग का विषय नहीं है; शब्दार्थ के भावकत्व और भोजकत्व व्यापार रस का भावन और भोग कराने वाले हैं, अतः शब्दार्थ तो हेतु ही हो सकता है। दूसरा यह कि भोग का विषय रस है और रस का अर्थ है भावित स्थायी भाव, क्योंकि भट्टनायक के अनुसार स्थायी भाव ही तो भावित होकर रस बन जाता है; अतः स्थायी भाव ही अन्ततः भोग का विषय या रस है। स्थायी भाव की सत्ता व्यक्ति में ही हो सकती है शब्दार्थ में नहीं—शब्दार्थ तो माध्यम या प्रतीक मात्र है, आधार नहीं है; अव्यक्तिगत या सामान्य स्थायी भाव का आधार भी कवि होता है शब्दार्थ नहीं, क्योंकि कवि ही लोकानुभव के आधार पर, अपनी वासना के बल पर, उसका अनुभव कर शब्दार्थ के माध्यम से उसे व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में रस का आधार भी शब्दार्थ या काव्य नहीं हो सकता; काव्य में रस की स्थिति केवल उपचार से ही सिद्ध हो सकती है। अब यह प्रश्न उठता है कि स्थायी भाव से भट्टनायक का क्या अभि-

प्राय है—किसका स्थायी भाव ? भरत, लोल्लट और शंकुक के प्रसंगों में हम देख चुके हैं कि स्थायी भाव की कल्पना अब तक प्रायः विषयगत ही रही है। भरत का अभिप्रेत स्थायी भाव लोक का स्थायी भाव है, लोल्लट का आशय अनुकार्य के स्थायी भाव से है और शंकुक का अभिप्राय मूलतः अनुकार्यगत और प्रत्यक्षतः नटगत स्थायी से है—स्थायी भाव के ये तीनों रूप सहृदय की दृष्टि से विषयगत हैं; वह [नाट्य में उपस्थित] इनका मज़ा लेता है, अनुभव नहीं करता। भट्टनायक भी स्थायी भाव के भोग की ही बात करते हैं, किन्तु यह स्थायी भाव विषयगत नहीं है—'निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा' में 'निज' शब्द से स्पष्ट है कि सहृदय का चित्त व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त होकर (अपने) स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में आस्वादन करता है। रागद्वेष से मुक्त चित्त द्वारा अपने शुद्ध स्थायी भाव का यह अनुभव या आस्वादन ही रस है—इसी तथ्य को अभिनव ने भट्टनायक के मत का खण्डन करने के लिए प्रयुक्त किया है। उनका तर्क है कि यही रस-भोग भी है, अतः भोजकत्व व्यापार की पृथक् कल्पना अनावश्यक है। इस प्रकार भट्टनायक का अभिप्राय सहृदय के स्थायी भाव से है—सहृदय भावकत्व व्यापार के द्वारा अपने स्थायी भाव का साधारणीकृत रूप में=रस रूप में=अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग करता है—यही भट्टनायक का स्पष्ट अभिप्राय है। अतएव उनके मत से रस का स्थान शब्दार्थ न होकर सहृदय का चित्त ही है; काव्य के भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों की क्रिया-भूमि वही है।

विवेचन : सीमा और शक्ति

सीमा—अभिनव ने भट्टनायक के मत के विरुद्ध अनेक आक्षेप किये हैं। पहले तो, रस तथा रस-भोग का अन्तर ही अभिनवगुप्त को अस्वीकार्य है। भावित स्थायी भाव ही रस है, इसमें उनको आपत्ति नहीं है, वे भी मानते हैं कि 'सर्वथा रसनात्मक तथा वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है'—किन्तु यह भाव अन्ततः आस्वाद रूप ही हो जाता है अतः आस्वाद्य और आस्वाद या रस और रस-भोग का जो अन्तर भट्टनायक ने कल्पित किया है, वह असंगत है।

दूसरा आक्षेप यह है कि प्रतीति और भुक्ति का भेद मिथ्या है; भुक्ति भी प्रतीति ही है, क्योंकि प्रतीति के बिना किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं है।[1] अतः रस-प्रतीति का खण्डन कर रस-भुक्ति की स्थापना संगत नहीं है।

तीसरा आक्षेप यह है कि भट्टनायक द्वारा प्रस्तुत 'भोग' के स्वरूप की व्याख्या तात्त्विक नहीं है। उनके अनुसार भोग का अर्थ है—सत्त्वोद्रेक की अवस्था में चित्त की आत्मा में विश्रान्ति जो प्रकाशानन्दमयी तो होती है किन्तु रजस् और तमस् के अनुबन्ध के कारण उस स्थिति में भी चित्त में द्रुति, विकास और विस्तार की प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। रस-भोग में चित्त की इन तीन दशाओं की स्थिति अभिनव को अमान्य है। उनका तर्क है कि जितने रस होते हैं उतनी रस-प्रतीतियाँ हो सकती हैं—इतना ही नहीं, सत्त्व आदि

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६५

गुणों के अनुपात-भेद से प्रत्येक भाव की अनुभूति में चित्त की भिन्न दशा हो सकती है, अतः रसास्वादन में द्रुति, विस्तार और विकास—चित्त की ये तीन दशाएँ ही क्यों मानी जाएँ ? इस उद्धरण में 'का त्रित्वेनेयत्ता'[१] का अर्थ आचार्य विश्वेश्वर ने किया है—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—ये तीन व्यापार ही क्यों माने जाएँ ? किन्तु यह ठीक नहीं है : त्रित्व से अभिप्राय यहाँ (जैसा कि डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने माना है) द्रुति आदि तीन दशाओं का ही हो सकता है; अभिधा, भावकत्व आदि तीन व्यापारों की चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

चौथा आक्षेप यह है कि रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर उसे या तो नित्य माना जाएगा अथवा असत्,[२] क्योंकि जो नित्य है उसकी ही उत्पत्ति नहीं होती और जो असत् है उसी की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस तर्क को यों भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिसकी न उत्पत्ति होती हो न अभिव्यक्ति—यदि वह सत् है तो उसकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए और यदि असत् है तो उत्पत्ति होनी चाहिए। संसार में जितने तत्त्व हैं उनकी सत्ता की कल्पना उपर्युक्त दोनों पद्धतियों में से किसी एक के द्वारा अवश्य होनी चाहिए : दर्शन के सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद सिद्धान्तों की उद्भावना इन्हीं की सिद्धि के लिए हुई है। अतः रस की अभिव्यक्ति और उत्पत्ति दोनों का ही निषेध कर देने से उसकी सत्ता ही असिद्ध हो जाती है।

और, अन्त में, भावकत्व एवं भोजकत्व की कल्पना के लिए शास्त्र का कोई प्रमाण भी नहीं है। इन दोनों का कार्य प्रमाण-सिद्ध व्यंजना से ही चल जाता है।[3]

शक्ति—रस-सिद्धान्त के विकास में भट्टनायक का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनकी सीमाएँ जहाँ प्रायः तर्कशास्त्र की युक्तियाँ मात्र हैं, वहाँ उनकी उद्भावनाओं का व्यावहारिक महत्त्व भारतीय काव्यशास्त्र में आज भी अक्षुण्ण है।

रसास्वाद के स्वरूप की तात्त्विक व्याख्या का श्रेय सर्वप्रथम भट्टनायक को ही प्राप्त है। उनसे पहले काव्यास्वाद के प्रसंग में हर्ष (भरत), प्रीति (भामह-वामन), आह्लाद (आनन्दवर्धन), चमत्कार (लोल्लट), आनन्द (धनंजय)—आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से चल रहा था; रसास्वाद या रस-भोग के लिए भी इनका प्रयोग होता था। किन्तु रसास्वाद के स्वरूप का विश्लेषण अब तक किसी ने नहीं किया था। भट्टनायक ने पहली बार इस दिशा में सफल प्रयत्न किया। रसास्वाद या काव्यानन्द चित्त की आत्मा में विश्रान्ति का नाम है। यह विश्रान्ति सत्त्व गुण के उद्रेक की अवस्था में होती है जब रजस् और तमस् का शमन तो हो जाता है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता; अतः यह विशुद्ध आत्मविश्रान्ति से हीनतर है अर्थात् ब्रह्मास्वादसविध है, ब्रह्मास्वाद नहीं। इस प्रकार आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द से उसका साम्य-वैषम्य स्पष्ट करते हुए काव्यास्वाद या रसास्वाद का स्वरूप-निर्णय भट्टनायक ने ही सबसे पहले किया। यह मत अन्त तक यथावत् मान्य रहा।

---

१ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६६

२ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६३

३ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६७

रस की आनन्दरूपता का निर्भ्रान्त विवेचन सबसे पहले भट्टनायक ने ही किया; आत्मविश्रान्ति तथा—साधारणीकरण के सिद्धान्तों द्वारा उन्होंने करुणादि की आनन्दरूपता को अत्यंत प्रामाणिक रीति से सिद्ध किया।

भट्टनायक की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है साधारणीकरण सिद्धान्त। काव्यास्वादन का मौलिक प्रश्न यह है कि काव्य में अभिव्यक्त व्यक्ति के भाव— कवि के या कवि-निबद्ध पात्र के—सहृदय के आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं, एक सहृदय के ही नहीं समस्त सहृदय-समाज के ? इसका समाधान सर्वप्रथम भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना द्वारा किया। यह प्रश्न वास्तव में साहित्यालोचन का मूल आधार है और भट्टनायक ने इसका समाधान प्रस्तुत कर आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अभूतपूर्व सिद्धि प्राप्त की। मेरी धारणा है कि विश्व के आलोचनाशास्त्र में भट्टनायक से पूर्व इस मूल प्रश्न का ऐसा प्रामाणिक समाधान किसी आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया।

अभिनवगुप्त का मत

इस प्रकार पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के मतों का परीक्षण करने के उपरान्त अभिनवगुप्त अपने मत की प्रस्थापना करते हैं। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने उपर्युक्त आलोचना के लिए खण्डन शब्द का निषेध करते हुए संशोधन शब्द का ही व्यवहार किया है—उनका कथन है कि हमने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का परीक्षण करने के उपरान्त संशोधन मात्र किया है—खण्डन नहीं, क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की भली प्रकार संगति लगा देने में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का-सा ही फल मिलता है : **'पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति।'** उनका यह वक्तव्य काव्यशास्त्र के आचार्यों का मूल्यांकन करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—शास्त्र या काव्यशास्त्र के वे ही आचार्य उद्भावक आचार्य नहीं हैं जिन्होंने नवीन सिद्धान्तों का आविष्कार किया है—आख्यान और पुनराख्यान करने वाले गंभीरचेता आचार्य भी उसी कोटि में आते हैं। स्वयं अभिनव के विषय में भी यही सत्य है। अभिनव के रसनिष्पत्ति-विषयक विचार अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन दोनों में ही प्राप्त होते हैं। वास्तव में प्रस्तुत प्रसंग का विवेचन 'लोचन' में और भी अधिक स्पष्ट है, क्योंकि ध्वनि (व्यंजना) के संदर्भ में उसे निखरने का अवसर अधिक मिला है।

अभिनवभारती—

तत्काव्यार्थो रसः। × × × काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः। अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' इति (शाकु० १), 'उमापि नीलालक' इति (कुमार० ३-६२), 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमार० ३-६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितं, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं

निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्तं तिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखितः। एवं परोऽपि।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरिव वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वेन परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसारणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः। × × × सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। [हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४७०-४७३]

—अर्थात् वही काव्यार्थ रस है। × × × काव्यात्मक वाक्य से भी [काव्य से] अधिकारी सहृदय व्यक्ति को [सामान्य वाक्यार्थ-ज्ञान मात्र से] अधिक ही [रसात्मक व्यंग्यार्थ की] प्रतीति होती है।

यहाँ निर्मल प्रतिभाशाली हृदय वाला (सहृदय) पुरुष [काव्यार्थ ज्ञान का] 'अधिकारी' है। और उसको [कालिदास के शकुन्तला नाटक में आये हुए] 'ग्रीवाभंगाभिरामम्', [कुमारसम्भव में आये हुए] 'उमापि नीलालकं' इत्यादि, तथा 'हरस्तु किंचित्' इत्यादि श्लोक वाक्यों से वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उस-उस वाक्य में गृहीत कालादि के विभाग की उपेक्षा (साधारणीकरण) करने वाली, मानसी एवं साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है।

और उस प्रतीति में जो मृग-शावक आदि विषय रूप से भासता है उसके [साधारणीकरण हो जाने से] विशेष रूप न होने से [मृगपोत) विषयक 'वह भीत है', यह ज्ञान, तथा [भय के कारण] त्रासक [दुष्यन्तादि] के वास्तविक न होने [अर्थात् कल्पित होने] से, भय ही, देश काल आदि से बिल्कुल असम्बद्ध [रूप में भासता है], इसीलिए मैं भीत हूँ, अथवा यह भीत है, अथवा यह शत्रु, मित्र या मध्यस्थ है इत्यादि सुख-दुःख आदि को देने वाले अन्य ज्ञानों को नियम से उत्पन्न करने वाले, अतएव विघ्नबहुल ज्ञानों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति से [ग्राह्य भय रूप स्थायिभाव ही] साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, आँखों के सामने घूमता हुआ-सा, 'भयानक रस' होता है। उस प्रकार के भय में [सामाजिक का] आत्मा न अत्यन्त उपेक्षित होता है, और न विशेष रूप से उल्लिखित होता है। इसी प्रकार अन्य [रस] भी होते हैं।

इसलिए उन विभावादि का उसी देश-काल में परिमित रूप से ही साधारणीकरण नहीं होता है, अपितु धूम और अग्नि के व्याप्तिग्रह में, अथवा भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह के समान अत्यन्त विस्तृत रूप में [साधारणीकरण] होता है। और इसमें साक्षात्कारात्मक रूप से परिपोषिका नटादि सामग्री होती है। जिसमें वास्तव में विद्यमान और काव्य में वर्णित देश, काल, प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के [नियम के] बन्धन से अत्यन्त अलग कर देने पर वह साधारणीकरण

व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकों को एक रूप से ही प्रतीति होती है जो रस के लिए अत्यन्त परिपोषक हो जाती है। अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सारे सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण [सबको एक जैसी ही रस-प्रतीति होती है]। और वह विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति 'चमत्कार' कहलाती है। × × × × प्रत्येक दशा में [सर्वथा] आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य 'भाव' ही रस है। उसमें आने वाले विघ्नों के अपसारक विभावादि होते हैं।

ध्वन्यालोकलोचन—

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—"तासामनादित्वं आशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्" इति। तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यंक्तः' इत्यत्र। तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। तच्चेदं भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति। सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य। व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा रामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे। तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति।" [ध्वन्यालोक-चौखम्बा सं० सी० १९९७; पृष्ठ १८७-१९०]

—अर्थात् 'अतः पूर्वपक्ष अनुत्थान रूप में ही उपहृत हो गया [यही तो महान् साहस है कि राम इत्यादि का चरित्र सबके हृदय से मेल नहीं खाता। क्योंकि चित्त में विचित्र प्रकार की वासनाओं की विशिष्टता होती है। जैसा कहा है—उनका अनादित्व होता है क्योंकि आकांक्षाएँ नित्य होती हैं। जाति, देश और काल से व्यवहितों का भी आनन्तर्य होता है क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप होते हैं।' इससे रस की प्रतीति तो सिद्ध हो गयी: वह प्रतीति आस्वादन रूप में उत्पन्न होती है। वाच्य-वाचक का तो वहाँ पर अभिधा से पृथक्भूत व्यंजनात्मक ध्वनन व्यापार ही होता है। काव्य का भोगकरण व्यापार रस-विषयक ध्वन्यात्मक ही होता है;

और कुछ नहीं। भावकत्व भी समुचित गुणालंकारपरिग्रहात्मक [ही होता है जिसको] हम ही विस्तृत करके कहेंगे। यह अपूर्व क्या है ? जो यह कहा जाता है कि काव्य रसों के प्रति भावक होता है उससे आपने ही भावन के कारण उत्पत्ति पक्ष को ही प्रत्युज्जीवित कर दिया। केवल काव्य-शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता। क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता ही नहीं। केवल अर्थों का भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता। दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा—'जहाँ अर्थ और शब्द उस अर्थ को व्यक्त करते हैं।' यहाँ पर। अतएव व्यंजकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलंकार के औचित्य वाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्य रसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशों वाली भावना में करण अंश में ध्वनन ही आ जाता है। भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता, अपितु 'घने मोह रूपी अन्ध संकट से निवृत्ति के द्वारा आस्वाद' इस दूसरे नाम वाले अलौकिक द्रुति, विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में ध्वनन व्यापार भी मूर्धाभिषिक्त होता है। और वह यह भोगकृत्व रस के ध्वननीय सिद्ध होने पर दैवसिद्ध हो जाता है। क्योंकि भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नहीं होता। सत्त्व इत्यादि के अंगांगिभाव-वैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रुति इत्यादि के रूप में आस्वाद की गणना उचित नहीं है। इस रसास्वादन का परब्रह्मास्वाद सादृश्य हो जाए। शास्त्र और इतिहास से उत्पन्न शासन और प्रतिपादन से [रस का] व्युत्पादन विलक्षण होता है। जैसे राम वैसा मैं हूँ—इस उपमान से अतिरिक्त रसास्वाद के उपाय अपनी प्रतिभा के विजृम्भण रूप व्युत्पत्ति को अन्त में कर देता है; इसके लिए हम किसको उपालम्भ दें। इससे यह स्थित है—रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादगोचर होते हैं।"

(ध्वन्यालोक : भाष्यकार–डॉ० रामसागर त्रिपाठी—'तारावती' व्याख्या, पृ० ३९५-३९८)

अभिनव के मत का सारांश

१. सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है। अर्थात् नाटक अथवा काव्य के उपकरणों द्वारा साधारणीकृत होकर—देशकाल, स्व-पर, व्यक्तिगत रागद्वेष आदि की चेतना से मुक्त होकर, रत्यादि भाव आस्वाद्य अथवा सुखमय प्रतीति के विषय बन जाते हैं। यह आस्वाद्य भाव और उसकी सुखमय प्रतीति ही रस है। अभिनव के मत से—शुद्ध अद्वैत भावना की दृष्टि से—सुखमय प्रतीति ही वास्तव में रस है, परन्तु इस सुखमय प्रतीति के विषय—साधारणीकृत भाव—को भी रस कहा जा सकता है।

२. रसास्वादन में सहृदय की आत्मा न सर्वथा उपेक्षित होती है और न विशेष रूप से उल्लिखित—अर्थात् रस की प्रतीति तो सहृदय की आत्मा ही करती है, परन्तु यह प्रतीति व्यक्तिगत नहीं होती।

३. यह साधारणीकरण व्यष्टि के धरातल पर ही न होकर समष्टि के धरातल पर भी होता है : काव्य और नाट्य के उपकरणों के चमत्कार से आत्म-तत्त्व की अद्वैतता के कारण

सभी सामाजिक भाव की समान रूप से प्रतीति करते हैं। इससे साधारणीकरण व्यापार अत्यन्त पुष्ट हो जाता है और प्रतीति सर्वथा निर्विघ्न हो जाती है, अर्थात् व्यक्तिगत संसर्ग का एकान्त अभाव हो जाने से आस्वादन पूर्णतः आनन्दमय हो जाता है। अद्वैतवादी अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ तंत्रालोक में इस समष्टिगत रसानुभूति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। [देखिए 'रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' डा० प्रेमस्वरूप गुप्त; पृष्ठ १७५।]

४. स्थायी भाव प्रत्येक सहृदय के चित्त में संस्कार रूप से विद्यमान रहते हैं, संस्कार रूप होने के कारण वे समान भी होते हैं—क्योंकि अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले सभी सामाजिकों की एक जैसी वासना होती है।

५. काव्यात्मक शब्द से (वाक्य से) सहृदय व्यक्ति को सामान्य अर्थ-बोध (वाच्यार्थ-ज्ञान) से अधिक प्रतीति होती है। सामान्य अर्थ-बोध में और इसमें भेद यह है कि यह प्रतीति वाक्य में गृहीत कालादि विभाग से मुक्त—साधारणीकृत होती है और साक्षात्कारात्मिका होती है, अर्थात् इससे मन की आँखों के सामने (कल्पना में) चित्र-सा अंकित हो जाता है। आधुनिक शब्दावली में अर्थ-बोध धारणा-रूप होता है और यह प्रतीति बिम्ब-रूप होती है।

६. इस वैशिष्ट्य का आधार है शब्दार्थ में गुणालंकार का उचित समावेश। भट्टनायक ने इसे भावकत्व व्यापार का अंग माना है। प्रत्येक व्यापार के तीन अंग होते हैं: करण, फल, और इन दोनों की मध्यवर्तिनी इतिकर्तव्यता। अभिनव के मत से प्रस्तुत व्यापार में फल है साधारणीकरण, इतिकर्तव्यता है उचित गुणालंकार का समावेश और करण है ध्वनन अर्थात् शब्दार्थ की व्यंजना शक्ति। इस प्रकार जब भावकत्व व्यापार का भी प्राण ध्वनन या व्यंजना ही है तो इस नवीन कल्पना की क्या आवश्यकता?

७. भोजकत्व की शक्ति तो शब्दार्थ में मानी ही नहीं जा सकती; वह तो चित्त की क्रिया है—वस्तुतः रसास्वाद और भोग दोनों की स्थिति अभिन्न है। शब्दार्थ इस क्रिया का प्रेरक मात्र है और यह शक्ति भी उसे व्यंजना से ही प्राप्त होती है। इसी के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से सहृदय का चित्त 'निजमोहसंकट' से मुक्त होकर भाव के भोग में समर्थ होता है—अतः इस अलौकिक कर्तव्य में भी ध्वनन व्यापार ही मूर्धाभिषिक्त है, अर्थात् व्यंजना ही प्रधान कारण है। इस प्रकार भोजकत्व काव्य का कोई पृथक् व्यापार नहीं है। रस को ध्वननीय मान लेने पर भोजकत्व दैवसिद्ध हो जाता है—उसकी पृथक् कल्पना अनावश्यक हो जाती है।

८. रस ब्रह्मास्वाद के समान है, यह अभिनव को भी स्वीकार्य है।

९. रस की अभिव्यक्ति ही होती है, यह निर्विवाद है। आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य स्थायी भाव ही रस है और स्थायी भाव अनादिवासना के रूप में प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहता है। नाट्य तथा काव्य में प्रस्तुत विभावादि का सम्पर्क होने से वह अभिव्यक्त होकर रसनीय बन जाता है या रस में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विभावादि व्यंजक हैं और [रस रूप में परिणत] स्थायी भाव व्यंग्य है—दूसरे शब्दों में रस भी व्यंग्य है। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ हुआ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध।

१०. अभिनव का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत था—इस विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। वे प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रतिष्ठापकों में अग्रणी हैं।

विवेचन

भारतीय काव्यशास्त्र में अन्ततः अभिनव का मत ही मान्य हुआ—शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनन्दवाद के पुष्ट आधार पर उन्होंने जिस आत्मास्वाद-रूप रस की प्रकल्पना की थी उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतया आवेष्टित कर लिया। परिणाम यह हुआ कि भरत का मूल सिद्धान्त भी उससे आच्छन्न हो गया और परवर्ती आचार्य भरत को भूल कर—या भरत के नाम से, अभिनव के ही मत को उद्धृत करते रहे। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनव का विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ एवं पुष्ट है, परन्तु शक्ति के साथ उसकी अपनी सीमाएँ भी हैं।

शक्ति—अभिनव के मत की सबसे बड़ी शक्ति तो यही है कि पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के सिद्धान्तों की अपेक्षा उसका दार्शनिक आधार अत्यधिक गम्भीर एवं प्रामाणिक है। जिस प्रकार अधिकांश दार्शनिक मतवादों का पर्यवसान अद्वैत में हो गया, इसी प्रकार रस-विषयक सभी मान्यताएँ भी आत्मास्वाद की कल्पना में अन्तर्लीन हो गयीं।

अभिनव ने ही सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृदय-निष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। भट्टनायक के मत में भी रस भोज्य ही बना रहा अर्थात् उसकी वस्तुपरक सत्ता का तिरोभाव नहीं हुआ—परन्तु अभिनव ने उसकी आस्वादरूपता का निर्भ्रान्त शब्दों में पहली बार प्रतिपादन किया।

रसास्वाद आनन्दमय ही होता है—इस तथ्य की स्थापना का श्रेय तो भट्टनायक को ही है, किन्तु अभिनव ने उसे शैव आनन्दवाद का दृढ़ आधार प्रदान कर सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया। परिणामतः निरानन्दवादी जैनादि आचार्यों ने जितने भी विकल्प प्रस्तुत किये वे सभी व्यर्थ हो गये।

अद्वैत सिद्धान्त के आत्मानन्द के साथ आनन्दवर्धन के व्यंजना-वाद का सहज समन्वय कर अभिनव ने रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किया। वास्तव में अद्वैत और व्यंजना का अनिवार्य सम्बन्ध है : जब केवल एक तत्त्व की ही सत्ता है तो यह सम्पूर्ण-विश्वप्रपंच उसकी कृति न होकर अभिव्यक्ति ही हो सकता है। अभिनव की तत्त्वदर्शिनी प्रज्ञा ने इस तथ्य का अनायास साक्षात्कार कर दोनों के समन्वय द्वारा रस-सिद्धान्त के अन्तरंग और बहिरंग को दृढ़ आधार प्रदान किया।

अभिनव के रस-विवेचन की एक प्रमुख सिद्धि है समष्टिगत रस की प्रकल्पना। अभिनव का दर्शन मूलतः व्यक्तिवादी है, किन्तु उन्होंने रस-चक्र की पूर्णता अन्ततः सामूहिक रस-चेतना में ही सिद्ध की है। जिस सामाजिक कलानुभूति की स्थापना आधुनिक युग में साम्यवाद अथवा समाजवाद के प्रभाव के द्वारा हुई है, अभिनव ने अपने ढंग से उसका अपूर्व व्याख्यान किया है। उसको स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम [डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त के ग्रन्थ से] तंत्रालोक के उद्धरणों को उद्धृत करने का लोभ संवृत नहीं कर सकते :

१—तथा ह्येकाप्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥

तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने ।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥

तन्त्रालोक १०. ५. ८५

—अर्थात् वह इस प्रकार—निस्सन्देह एकाग्र मन वाले सभी सामाजिक व्यक्ति नृत्त (आंगिक अभिनय) और गीत को अमृत के सागर के रूप में समझने लगते हैं। इसीलिए मल्लयुद्ध-प्रेक्षण तथा नटों के अभिनय-प्रेक्षण के प्रसंग में सभी प्रमाताओं के तादात्म्य को ही पूर्ण रूप में [रस का] अनुभावक कहा जाता है।

२—संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या सकुंचिता तु सा ।
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा ॥
उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बतः ।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः ॥
अतएव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि ।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो नत्वेकैकस्य सः ॥
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्यक्षं स तथैकताम् ।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ॥

—जो चेतना सर्वात्मक होती है; [किन्तु] देह-भेद से संकुचित हुई रहती है वह [बहुतों के] सम्मेलन [या मेल] में एक-दूसरे के संघट्ट रूप प्रतिबिम्ब के कारण विकसित हो जाती है। [उस सर्वात्मक चेतना की] उछलती हुई अपनी किरणों का समूह संवेदनाओं में प्रतिबिम्बित होकर बहुत से दर्पणों [में प्रतिबिम्बित सूर्य के प्रकाश] के समान बिना ही प्रयत्न के सर्वायित [अर्थात् सर्वात्मक रूप में परिणत] भी हो सकता है। इसीलिए बहुतों की सभा में नृत्त, गीत इत्यादि में सभी की तन्मयता के रूप में जो आनन्द [उपलब्ध] होता है वह एक-एक का पृथक्-पृथक् नहीं होता। [अर्थात् जितना आनन्द सामूहिक रूप में समा बँध जाने पर अधिगत हो सकता है उतना आनन्द एक-एक व्यक्ति के पृथक्-पृथक् आस्वादन में नहीं होता।] इस प्रकार आनन्द-निर्भर चेतना नृत्त इत्यादि विषय में प्रत्यक्ष रूप में एकता को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्द-रूपता का आस्वादन करती है।

सीमा—परममाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य का भारतीय काव्यशास्त्र पर एकच्छत्र साम्राज्य रहा है, अतः उनका गौरव तो सर्वविदित एवं सर्वमान्य ही है,—किन्तु उनके सिद्धान्त की सीमाएँ भी अनुल्लेखनीय नहीं हैं।

एक स्पष्ट दोष तो उनका यही है कि उन्होंने भरत के मत को अपने विचार में इतना अधिक रंग दिया कि परवर्ती काव्यशास्त्र में उसका वास्तविक रूप ही छिप गया। इस विषय में दो विकल्प हो सकते हैं—एक तो यह कि अभिनव ने अपने सिद्धान्त के पूर्व-ग्रह के कारण भरत के विचारों को उनके सही रूप में पेश नहीं किया; दूसरा यह कि उन्होंने अपने ढंग से भरत के मत का पुनराख्यान प्रस्तुत किया—जिस प्रकार अद्वैतवादी सांख्यादि की वस्तुपरक स्थापनाओं का पुनराख्यान करता है। इनमें दूसरा विकल्प ही अधिक

मान्य प्रतीत होता है—फिर भी मूल को आत्मसात् कर उसका रूप ही बदल देना वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से अधिक काम्य नहीं है।

भरत के व्याख्याताओं के साथ भी यही व्यवहार किया गया है—वास्तव में उनकी स्थिति और भी दयनीय हो गयी है। जैसा कि हमने लोल्लट के प्रसंग में स्पष्ट किया है, अत्यन्त विरल उद्धरणों के आधार पर भी यह मानना कठिन नहीं है कि लोल्लट का मत भरत-मत के अत्यन्त सन्निकट था—पर अभिनव ने उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह सर्वथा अग्राह्य बन गया है। श्री शंकुक के विवेचन में भी कला-सम्बन्धी अनेक मूल्यवान् संकेत हैं, परन्तु अभिनव ने भट्टतोत की सहायता से दर्शन के अखाड़े में उन्हें ऐसा पछाड़ा है कि उनके गुण भी मिट्टी में मिल गये हैं। भट्टनायक के सिद्धान्तों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वे अत्यन्त पुष्ट-गम्भीर आधारभूमि पर स्थित हैं; काव्य-चिंतन के विकास में उनका योगदान अभूतपूर्व है; स्वयं अभिनव ने उनके आधारभूत सिद्धान्तों को यथावत् स्वीकार कर लिया है—फिर भी उन्हें इस बुरी तरह रगड़ा गया कि एक हजार वर्ष तक भट्टनायक का महत्त्व प्रायः नगण्य ही बना रहा।

दूसरा दोष इस सिद्धान्त का यह है कि इसमें काव्यास्वाद आत्मास्वाद से प्रायः अभिन्न हो जाता है जो कम से कम बुद्धि को ग्राह्य नहीं है। इसी के कारण काव्यास्वाद या रस पर अलौकिकता का ऐसा गहरा रंग चढ़ा कि आधुनिक युग के विचारक काफ़ी समय तक रस-सिद्धान्त की ही अवहेलना करते रहे।

रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक मान लेने पर पूरा बल सहृदयता पर पड़ जाता है और काव्य की सत्ता गौण हो जाती है। वास्तव में अभिनव ने कवि के आत्म-तत्त्व के आधार पर काव्य की भी आत्मपरक व्याख्या की है, परन्तु वह आगे चलकर प्रायः उपेक्षित हो गयी जिससे सन्तुलन बिगड़ गया। आत्यन्तिक रूप में रस की सत्ता व्यक्तिनिष्ठ तो माननी ही पड़ेगी, किन्तु व्यक्ति में कवि को भी अन्तर्भूत करना होगा, केवल सहृदय को प्रमाण मान लेने पर काव्य के मूल्यांकन की पद्धति ही अस्तव्यस्त हो जाएगी।

अभिनव की प्रतिभा जैसी प्रखर एवं पारदर्शिनी है, उसकी अपेक्षा में उनकी शैली अत्यन्त निबिड़ है और प्रायः वागाडम्बर से आक्रान्त हो जाती है। आनन्दवर्द्धन, वामन आदि से तुलना करने पर यह वैषम्य बड़ा स्पष्ट हो जाता है। ध्वन्यालोक की वृत्ति का जब अभिनवगुप्त भाष्य करते हैं तो एक ओर जहाँ उनकी मेधा दार्शनिक तथ्यों का सूक्ष्म-गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है, वहाँ दूसरी ओर शैली की निबिड़ता कभी-कभी सामान्य तथ्यों को भी उलझा देती है। कुन्तक के विषय में भी यही सत्य है। परन्तु, पण्डितराज इसका अपवाद हैं—गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक तथ्यों के विवेचन में भी उनकी शैली में निबिड़ता नहीं आती। कहीं-कहीं जो दुरूहता प्रतीत होती भी है, वह न्याय की सूक्ष्मताओं की ही है, अभिव्यक्ति की नहीं।

परवर्ती आचार्य

बाद में चलकर अभिनव का मत ही प्रायः सर्वमान्य हो गया; परवर्ती आचार्यों ने मूल तत्त्व को तो यथावत् स्वीकार कर लिया है—किसी-किसी ने बस एकाध स्थान पर

थोड़ा-बहुत शास्त्रीय भेद उपस्थित कर दिया है। उदाहरण के लिए धनंजय और धनिक ने रस की स्थिति सहृदयगत ही मानी है और यह स्वीकार किया है कि सहृदयगत स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है :

(१) **क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः।**
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतॄणामर्जुनादिभिः॥ दशरूपक ४।४१-४२

—मिट्टी के हाथी आदि से खेलने वाले बालकों की तरह, सामाजिक अर्जुनादि का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर अपने ही उत्साहादि स्थायी भावों का आस्वादन करता है।

(२) **विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।**
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ दशरूपक ४।१

—अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है।

किन्तु वे व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते—अतः वे काव्य अथवा उसमें वर्णित विभावादि के साथ रस का अभिनव के समान व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध न मान कर भट्टनायक की भाँति भाव्य-भावक सम्बन्ध ही मानते हैं: **अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः, किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः।** [दशरूपकावलोकः पृ० १५८।] परिणामतः उनके मतानुसार संयोग का अर्थ होता है भाव्य-भावक सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ होता है भावित होना या भाविति—जो भट्टनायक का भी वास्तविक मत है।

महिमभट्ट ने रस को काव्य की आत्मा माना : **काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः** [व्यक्तिविवेक—चौखम्बा सं० सी० पृ० १०५]। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि उसकी स्थिति सहृदय में होती है। सहृदय ही स्थायी भावों का रसरूप में आस्वादन करता है; किन्तु ये स्थायी भाव वास्तविक और चित्त में वासना रूप से विद्यमान नहीं होते वरन् रंगमंच पर नट द्वारा प्रदर्शित स्थायी भावों के प्रतिबिम्बकल्प होते हैं :

तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुपयन्तः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। (व्य० वि० पृ० ७६)

—इसका भावार्थ यह है : रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता में नहीं होती, वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित या काव्य में वर्णित स्थायी भावों के प्रतिबिम्ब होते हैं। कवि कृत्रिम कारण रूप विभावादि के द्वारा इन्हें प्रमाता की प्रतीति का विषय बनाता है और तब उसकी सहृदयता के कारण आस्वाद्य होकर ये [वस्तुतः अविद्यमान, प्रतिबिम्बकल्प] स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु, इस प्रक्रिया का आधार व्यंजना नहीं है, रस अनुमान से ही सिद्ध हो जाता है; विभावादि गमक हैं और रत्यादि भाव, जो अन्ततः रस रूप हो जाते हैं, गम्य हैं :

त एव हि लौकिका विभावादयो हेतुकार्यसहकारिरूपा गमकाः। त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः। (व्य० वि० पृ० ६६)

अत: महिमभट्ट के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति और संयोग का अर्थ हुआ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध। इस प्रकार रस के स्वरूप के विषय में महिमभट्ट का मत जहाँ अभिनव के अनुकूल है, वहाँ प्रक्रिया के विषय में वे शंकुक से ही सहमत हैं।

मम्मट ने इन तर्कों का उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त के मत की ही पुनः प्रतिष्ठा की। मम्मट का स्पष्ट उद्देश्य काव्यशास्त्र की रचना करना था, अत: उनकी दृष्टि काव्य के विवेचन पर ही केन्द्रित रही है—दर्शन का उपयोग भी उन्होंने यथास्थान किया है किन्तु उसकी सूक्ष्मताओं में वे कहीं नहीं उलझे। फलत: उनके ग्रन्थ में कोई विशेष मौलिक स्थापना नहीं है—उन्होंने अपने ढंग से, स्वच्छता के साथ किन्तु संक्षेप में—दार्शनिक जटिलताओं को बचाकर—अभिनव के मत के प्रकाश में रस-निष्पत्ति का आख्यान मात्र कर दिया है: संयोग का अर्थ वही व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति। मम्मट और अभिनव में भेद यही है कि मम्मट ने लोल्लट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को भी सहृदयपरक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है।

मम्मट का ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि अभिनव के मूल सिद्धान्तों को भी उसने आच्छादित कर लिया और रस-प्रसंग क्रमश: अपने आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत से विच्छिन्न होता गया। उधर भारत में शांकर वेदान्त का प्रचार और प्रसार बढ़ रहा था जिसका प्रभाव साहित्य तथा साहित्यशास्त्र पर भी पड़ रहा था। फलत: रस-सिद्धान्त पर शैवाद्वैत का प्रभाव कम और शांकराद्वैत का रंग गहरा होने लगा। इस परिवर्तन के संकेत थोड़े-बहुत विश्वनाथ में भी मिल जाते हैं, यद्यपि विश्वनाथ दार्शनिक की अपेक्षा साहित्य-रसिक ही अधिक थे; किन्तु, चरम परिणति मिलती है पण्डितराज जगन्नाथ में जिन्होंने अभिनव के रस-सिद्धान्त को नव्यन्याय से परिपुष्ट शांकर वेदान्त में सर्वथा निमज्जित कर दिया। विश्वनाथ ने अभिनव के स्वर में ही कहा:

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥

—अर्थात् सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित, वासनारूप, रति आदि स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं। (साहित्यदर्पण, वि० टी०, पृ० ४६-४७)

किन्तु 'व्यक्त' का अर्थ उन्होंने किया—"दूध से दही आदि की तरह दूसरे रूप में परिणत होना। 'व्यक्त' पद का अर्थ—यह नहीं है कि जैसे दीपक से घट प्रकाशित होता है, इसी प्रकार पहले से स्थित रस व्यक्त होता हो।" पृ० ४७। कहने का अभिप्राय यह है कि निष्पत्ति का वास्तविक अर्थ विश्वनाथ 'परिणति' ही मानते हैं, यद्यपि व्यक्ति या अभिव्यक्ति शब्द का प्रयोग वे बराबर करते हैं और अभिनव के उद्धरण से ही अपने मन्तव्य की पुष्टि करते हैं: **तदुक्तं लोचनकारैः 'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः।' इति।**

—अर्थात् यही बात अभिनवगुप्त ने लोचन में कही है: रस प्रतीत होते हैं यह व्यवहार तो इस प्रकार का है जैसे कहते हैं कि भात पकाते हैं।

(सा० द०, वि० टी०, पृ० ४७)

आगे चलकर विश्वनाथ रस का स्वरूप-वर्णन करते हैं :

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

(सा० द०, वि० टी०, पृ० ४८-४९)

—इस रस का, जो अखण्ड, स्वयंप्रकाशरूप, आनन्दमय, चिन्मय, अन्य ज्ञान के स्पर्श से शून्य एवं ब्रह्मास्वाद के अत्यन्त समकक्ष है और लोकोत्तर चमत्कार जिसका सार है, कोई (पुण्यवान्) वासनारूप संस्कार से युक्त सहृदय व्यक्ति अपने स्वरूप की भाँति, अभिन्नतः, आस्वादन करते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मूलतः भट्टनायक की ही शब्दावली है—

सत्त्वोद्रेकस्वप्रकाशानन्दमय······परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति, जिसमें अभिनव के सिद्धान्त के प्रकाश में संशोधन कर दिये गये हैं। ये संशोधन 'सत्त्वोद्रेक' की व्याख्या में तथा 'स्वाकारवत्' एवं 'अभिन्नत्वेन' पदों के प्रयोग में निहित हैं। भट्टनायक जहाँ रस की स्थिति में रजोगुण और तमोगुण का अनुबन्ध भी स्वीकार करते हैं, वहाँ विश्वनाथ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः' को अनिवार्य मानते हैं। इसी प्रकार रस का आस्वादन आत्मा के निज रूप के आस्वादन से अभिन्न है—अर्थात् रसास्वाद आत्मास्वाद का ही रूप है। अतः ये दोनों संशोधन अभिनव के मतानुसार ही किये गये हैं, इसमें संदेह नहीं। एक स्पष्ट भेद और भी है—'चमत्कार' का अर्थ विश्वनाथ ने 'विस्मय' किया है जो अनभिकृत है और पूर्वग्रह का परिणाम मात्र है। विश्वनाथ ने अभिनव की शैव शब्दावली को एकदम छोड़ दिया है (कदाचित् उसके साथ, जैसा डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त ने लिखा है, उनका सीधा परिचय भी न रहा हो) और सामान्य वेदान्ती शब्दावली का ही प्रयोग किया है।

रस-प्रसंग में अन्तिम प्रसिद्ध नाम पण्डितराज जगन्नाथ का है। पण्डितराज ने रस-गंगाधर के प्रथम आनन में रस-विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख एवं विवेचन किया है। उनकी विवेचना से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के मत में उनकी पूर्ण आस्था है। अभिनव का रस-सिद्धान्त अद्वैत पर आश्रित है, परन्तु यह प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रतिपादित शैवाद्वैत है जो आत्मतत्त्व के साथ-साथ उसकी आभासरूप प्रकृति को भी सत्य एवं आनन्दमय मानता है। पण्डितराज ने अभिनव के अद्वैत और उसके परिणामी आनन्द-सिद्धान्त को तो यथावत् ग्रहण किया है, किन्तु उसे रंग दिया है शांकर वेदांत के रंग में। इस अन्तर को स्वयं उन्होंने ही बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :

इत्थं चाभिनवगुप्त मम्मटभट्टादिग्रंथस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।

—अर्थात् इस प्रकार अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से युक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव रस है' यह स्थिर हुआ। [किन्तु 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति के अनुरोध से] वास्तव में रति आदि स्थायी भाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही रस कहना चाहिए न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को।

[रसगंगाधर प्र० आ० पृ० ८८]

जहाँ तक रस के स्वरूप का सम्बन्ध है, दोनों में कोई मूल अन्तर नहीं है। दोनों ही मतों में रस की नित्यता और स्वप्रकाश्यता सिद्ध है। अन्तर केवल इतना ही है कि अभिनव के मत में चैतन्य विशेषण और स्थायी भाव विशेष्य है जबकि पण्डितराज के मत में स्थायी भाव विशेषण और चैतन्य विशेष्य है। और, यही शैवाद्वैत तथा शांकराद्वैत में भेद है—शैवाद्वैत में प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायी भावों में भी, चैतन्य के प्रतिभास होने के कारण आनन्द की स्थिति मान्य है; किन्तु शुद्ध (शांकर) अद्वैत सिद्धान्त केवल चैतन्य को ही आनन्दरूप मानता है। इस प्रकार, पण्डितराज ने अभिनव के मत को तत्त्व रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु उसकी व्याख्या में वेदांत के अनुसार संशोधन कर दिया है।

अभिनव के मत के अतिरिक्त दो और मत हैं—'नव्य मत', जिनके प्रति पण्डितराज की आस्था स्पष्ट है। यद्यपि उन्होंने कहीं इस प्रकार का संकेत नहीं दिया, फिर भी जिस आग्रह के साथ उन्होंने इनका मण्डन किया है उससे विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि ये नवीन मत—विशेषकर इनमें से प्रथम मत पण्डितराज का ही अपना मत है। यह मत इस प्रकार है :

काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वाच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।

—अर्थात् श्रव्य काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को प्रकाशित करता है, दृश्य काव्य में नट अभिनयों के द्वारा उनको प्रकाशित करता है, हम (सामाजिकों) को श्रव्य काव्य के पठन और दृश्य के अवलोकन से उन विभावादिकों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यंजना वृत्ति से दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं, अर्थात् व्यंजनावृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—**दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्**—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था। इसके बाद हमारी सहृदयता हम में एक प्रकार की भावना पैदा करती है, अर्थात् हम सहृदय होने के नाते दुष्यन्त आदि के विषय में पुनः-पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं, और वह भावना—पुनः-पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में अनुसन्धान—एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस भावनारूप दोष के चलते हम

अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढंक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हम में शकुन्तलादि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी-आत्मा उनका भान करा देती है। इस तरह वे दोनों [हम में भासित होने वाली शकुन्तलादि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चाँदीपन] अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् उनको कल्पित होने के कारण सत् नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने के कारण असत् भी नहीं मान सकते, अतः वे सत्-असत् इन शब्दों से नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं। बस, उक्त भावना-दोष से 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तला-विषयक रति आदि स्थायी भाव ही 'रस' है।

(हिन्दी रसगंगाधर—चौखम्बा वि० मं०, प्रथम आनन—पृ० १०१-१०२)

सारांश यह है कि—

(१) स्थायी भाव ही रस रूप में आस्वादित होता है।

(२) व्यंजना व्यापार की सहायता से ही सहृदय को विभावादि के द्वारा स्थायी भाव की अवगति होती है।

ये दोनों तथ्य अभिनव के मत के अनुकूल ही हैं।

(३) एक ओर काव्य के गुणों और दूसरी ओर उसके अपने हृदय के गुणों के कारण प्रमाता के चित्त में एक विशेष भावना-रूप दोष का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसके प्रभाववश उसकी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् आश्रय के साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। यहाँ दो नवीन तथ्य सामने आते हैं—(क) भावना-रूप दोष की कल्पना और (ख) आश्रय के साथ तादात्म्य की कल्पना।

(क) भावना-रूप दोष की कल्पना का आधार है नव्यन्याय द्वारा पुष्ट वेदांत। अपने को दुष्यन्त समझने की भावना वस्तुतः यथार्थ नहीं है, इसीलिए इसे दोष कहा गया है। यह भावना वास्तव में आधुनिक आलोचनाशास्त्र की 'समानुभूति (एम्पैथी)' के निकट है जिसमें कल्पना और अनुभूति दोनों का संयोग रहता है—इसे केवल कल्पना कहना पर्याप्त नहीं होगा क्योंकि इसका आधार भाव है। मनोविज्ञान के अनुसार यह यथार्थ है, भ्रम नहीं है। किन्तु मायावादी शांकर वेदांत तो केवल आत्मानुभूति को ही सत्य मानता है—वस्तुतः आत्मन् को ही सत्य मानता है, अनुभूति को भी नहीं। उसके अनुसार जब प्रत्यक्ष जागतिक अनुभूति भी पारमार्थिक दृष्टि से भ्रम है, तो कल्पित रत्यादि की अनुभूति की अयथार्थता में तो सन्देह ही क्या हो सकता है? इस नव्य मत के अनुसार काव्य का अनुभव कल्पित

भाव का अनुभव है जो विद्यमान न होने से असत् और अनुभूयमान होने से सत्—अतः अनिर्वचनीय है और स्वप्रामाण्य से सुखमय है। वास्तविक अनुभूति और काव्यानुभूति दोनों ही, इस दर्शन के अनुसार, अज्ञान-रूप हैं। भेद केवल मात्रा का है क्योंकि दूसरे में अज्ञान का आवरण अंशतः हट जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन सभी विद्याओं का आधार है और दर्शनों में भी शांकर वेदांत सर्वाधिक सूक्ष्म-गहन एवं बुद्धि-सम्मत है। किन्तु केवल बुद्धि का आँचल पकड़े रहने से साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की क्या दुर्गति हो सकती है, इसका प्रमाण है पण्डितराज जैसे रसज्ञ का यह 'दार्शनिक रस-विवेचन' जो कम-से-कम 'सहृदय' का परितोष नहीं कर सकता।

उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं के आधार पर निष्पत्ति के दो अर्थ सामने आते हैं। पहला अर्थ है अभिनव अथवा मम्मट द्वारा प्रतिपादित अभिव्यक्ति या व्यक्ति। व्यक्ति का अर्थ पण्डितराज के अनुसार व्यंजना नहीं है; व्यक्ति का अर्थ है आवरण से मुक्त चैतन्य का प्रकाशन : **व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्**, पृ० ८३। जब स्थायी भाव इसी शुद्ध चैतन्य का विषय बन जाता है तो रस निष्पन्न हो जाता है। इस प्रकार निष्पत्ति का अर्थ हुआ आवरण-मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषय होना—और भी तात्त्विक शब्दावली में, पण्डितराज के वेदान्ती मन्तव्य के अनुसार—'भाव के माध्यम से शुद्ध चैतन्य का प्रकाशन।'—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अर्थ सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थों से भिन्न, शुद्ध दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। नवीन मत के आधार पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के दो अंग हैं : एक तो व्यंजना व्यापार के द्वारा विभावादि से आलम्बन के प्रति आश्रय के स्थायी भाव का ज्ञान 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान् अर्थात् दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करता था' और दूसरा भावना-दोष के उदय से कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित सहृदय की आत्मा द्वारा, जो काव्यगुण आदि के कारण अंशतः आवरणमुक्त हो जाती है, शकुन्तला-विषयक रति का आस्वादन। इस प्रकार व्यंजना द्वारा पहले तो आश्रयगत स्थायी भाव प्रकट होता है और फिर तदात्मभूत सहृदय की आत्मा द्वारा आस्वादित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ भी निष्पत्ति के मौलिक अर्थ में कोई भेद नहीं है—यहाँ भी वह व्यक्ति की ही वाचक है जिसका अर्थ है चित् शक्ति का विषय होना, केवल प्रक्रिया की दार्शनिक व्याख्या में ही भेद हो गया है।

पण्डितराज के बाद मौलिक चिंतन प्रायः निश्शेष हो गया। उत्तर भारत में रस-विवेचन की परम्परा हिन्दी के रीति-आचार्यों के हाथ में पड़ गयी जो शताब्दियों तक मूल की अपेक्षा शाखा-प्रशाखाओं के वर्णन-विवेचन में संलग्न रहे। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की भाषाओं में संस्कृत के प्रायः अनुवाद ही होते रहे और वे भी संख्या में बहुत कम। आधुनिक युग में आकर विशेषकर वर्तमान शताब्दी के द्वितीय चरण में सन् १९२५ से अब तक—मराठी और हिन्दी में विशेषतः—शास्त्रीय परम्परा का पुनरुत्थान हुआ, प्राचीन सिद्धान्तों के विशद आख्यान-पुनराख्यान प्रस्तुत किये गये तथा रस-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों—रस-स्वरूप, रस-निष्पत्ति आदि पर प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्ञान के प्रकाश में गम्भीर विचार-विनिमय हुआ और हो रहा है।

रस-निष्पत्ति के सार-चित्र

१. परम्परागत

आचार्य	आधारभूत दर्शन	निष्पत्ति का अर्थ	संयोग का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसा	उत्पत्ति	उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध
श्रीशंकुक	न्याय	अनुमिति	अनुमाप्य-अनुमापक ,,
भट्टनायक	सांख्य	भुक्ति	भोज्य-भोजक ,,
अभिनवगुप्त	वेदान्त	अभिव्यक्ति	व्यंग्य-व्यंजक ,,

२. संशोधित

आचार्य	आधारभूत दर्शन	निष्पत्ति का अर्थ	संयोग का अर्थ
भट्टलोल्लट		उपचिति	उपचेय-उपचायक ,,
श्रीशंकुक	न्याय (बौद्ध)	अनुकृति	अनुकार्य-अनुकारक ,,
		सहृदय की दृष्टि से	
		अनुमिति	अनुमाप्य-अनुमापक ,,
भट्टनायक	शैव-द्वैतवाद, मीमांसा	भाविति	भाव्य-भावक ,,
अभिनवगुप्त	शैवाद्वैतवाद	अभिव्यक्ति	व्यंग्य-व्यंजक ,,

(ख) रस का स्थान

रस के स्थान का निर्णय रस-निष्पत्ति के विवेचन का ही अंग है और प्रत्येक आचार्य के मत की व्याख्या के अन्तर्गत इस प्रसंग का उल्लेख यथास्थान होता भी रहा है, फिर भी पृथक् विवेचन से स्थिति कदाचित् अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

भरत के अनुसार रस का स्थान नाट्य है : रंगमंच पर जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के साथ स्थायी का संयोग हो जाता है—अथवा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से संयुक्त स्थायी भाव का सफल प्रदर्शन या उपस्थापन होता है तो रस की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् भरत के अनुसार रस नाट्य-उपकरणों द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत एक भावमूलक कलात्मक स्थिति है। इसका अर्थ यह हुआ कि रस की सत्ता विषयगत है और उसका स्थान नाट्य है—सीधे शब्दों में रंगमंच है, जहाँ यह स्थिति घटित होती है। रस आस्वाद्य है, आस्वाद नहीं। उसका स्थान सहृदय का चित्त नहीं है, वह तो उसका आस्वादन कर हर्षादि का अनुभव करता है। अतः भरत के मत से रस का स्थान है नाट्य या रंगमंच और तज्जन्य हर्षादि का स्थान है सहृदय का चित्त।

भरत के उपरान्त संस्कृत के आचार्यों का ध्यान नाट्य से हटकर काव्य पर केन्द्रित होने लगा। अलंकारवादियों ने रस का अन्तर्भाव अलंकार में कर दिया। रस की परिभाषा अब भी वही रही—अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट स्थायी भाव को ही रस की संज्ञा दी गयी; पर उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं रही, वह रसवद् अलंकार का पोषक तत्त्व बन गया। रसवद् अलंकार का अर्थ है वह अलंकार जो रस से युक्त हो। इस मत के अनुसार रस की स्थिति अलंकार विशेष में है और अलंकार मूलतः शब्द-अर्थ के धर्म का नाम है। अतः रस की स्थिति भी शब्द-अर्थ में ही हुई और यह शब्द-अर्थ ही काव्य है : शब्दार्थौ काव्यम्। इस प्रकार भामह, दण्डी आदि अलंकारवादियों के अनुसार काव्य ही रस का स्थान सिद्ध होता है। सहृदय इस रस का आस्वादन कर प्रीति या आनन्द-लाभ करता है : प्रीतिं करोति कीर्तिं च। अर्थात् रस का स्थान है काव्य और प्रीति (आनन्द) का स्थान है सहृदय का चित्त।

उधर रसवादी धारा भी निरन्तर बहती रही और लोल्लट, शंकुक आदि भरत की परम्परा का विकास करते रहे। लोल्लट ने रस का स्थान माना अनुकार्य। यद्यपि अनुकार्य के वास्तविक अर्थ के विषय में थोड़ा सन्देह हो सकता है, फिर भी पूर्वापर-प्रसंग आदि का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लोल्लट का अभिप्राय कवि-निबद्ध पात्र से नहीं वरन् मूल पात्र से है। उनका मत है कि रस के आस्वादयिता रामादि मूलपात्र ही हैं, गौण रूप से नट भी अपने में रामादि का अभिमान कर उसका आस्वाद कर लेता है। सहृदय इस रस का अनुभव नहीं करता—इससे चमत्कृत होता है अर्थात् इस प्रकार की रसात्मक स्थिति का साक्षात्कार कर चमत्कार का अनुभव करता है। अतः रस का वास्तविक

स्थान है (या था) मूल (ऐतिहासिक) पात्र का चित्त और गौण रूप से, आरोप के कारण, नट का चित्त—तज्जन्य चमत्कार अर्थात् कलात्मक प्रतीति का स्थान है सहृदय का चित्त।

श्री शंकुक् ने भट्टलोल्लट की इस अव्यावहारिक स्थापना का खण्डन किया। रामादि मूल पात्रों का जब अस्तित्व ही नहीं रहा तो उनके द्वारा अनुभूत रस की सत्ता वर्तमान में कैसे हो सकती है ? अतः यह कल्पना निराधार है कि रस का स्थान मूल पात्र का चित्त है। शंकुक के अनुसार अनुकृत स्थायी भाव ही रस है : जब नट अपने कौशल और अभ्यास से स्थायी भाव का अनुकरण करने में सफल हो जाता है, अर्थात् उसके अभिनय को देख कर सहृदय अनुकार्य के स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है तो रस सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार नट स्थायी भाव का अनुकर्ता और रस का कर्ता है, आस्वादयिता या अनुभवकर्ता नहीं है। अतः रस का स्थान नट अवश्य है—परन्तु नट का चित्त नहीं; नट का कार्य अर्थात् अभिनय ही रस का स्थान है। इस दृष्टि से शंकुक लोल्लट को बीच से हटा कर फिर भरत तक लौट जाते हैं क्योंकि भरत ने भी तो रस का स्थान प्रकारान्तर से नाट्य ही माना है। भरत में और शंकुक में भेद बलाबल का है। शंकुक की स्थापना में अभिनय पर बल अधिक है, जबकि भरत सम्पूर्ण प्रक्रिया अर्थात् कवि-कर्म और नट-कर्म दोनों की समन्वित प्रक्रिया को ही रस का आधार मानते हुए अभिनय को उसका एक अंग मात्र मानते हैं। सहृदय अपने रागात्मक संस्कार और नट की कला के द्वारा इस रस का अनुमान करता है। रस यहाँ भी आस्वाद्य एवं विषयगत ही है, किन्तु 'अनुमान' शब्द इस तथ्य का व्यंजक है कि सहृदय रस का केवल पदार्थ के रूप में भोग नहीं करता—अनुमान का विषय होने से रस की सत्ता विषयिगत होने लगती है। निष्कर्ष यह निकला कि श्री शंकुक के मतानुसार रस का स्थान है नट अर्थात् नट का अभिनय। सहृदय का चित्त रस के अनुमान और तज्जन्य प्रतिक्रिया का—रागात्मक एवं कलात्मक प्रतीतियों का—ही स्थान है।

भट्टनायक के अनुसार साधारणीकृत विभावादि के द्वारा भावित होकर सहृदय का स्थायी भाव रस बन जाता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि रस का स्थान सहृदय का चित्त ही है। किन्तु, भट्टनायक ने रस और रस के भोग में भेद किया है। परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि भट्टनायक के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति है, परन्तु यह धारणा अशुद्ध है। काव्य के भावकत्व व्यापार द्वारा व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर सहृदय के चित्त में रजोगुण और तमोगुण अत्यन्त मन्द पड़ जाते हैं और सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है : ऐसी स्थिति में उसका स्थायी भाव सामान्य ऐन्द्रिय विकारों से मुक्त हो कर रस में परिणत हो जाता है। इस प्रक्रिया का परिणाम होता है आनन्दमयी आत्मविश्रान्ति, जिसे भट्टनायक ने काव्य की भोजकत्व शक्ति द्वारा सिद्ध 'भोग' कहा है। इस प्रकार प्रस्तुत मत से रस का स्थान है सहृदय का चित्त और यदि सूक्ष्म भेद किया जाय तो रस-भोग या रसास्वाद का स्थान है सहृदय का चित्।

अन्त में रह जाता है अभिनव का मत, जिसके अनुसार रस आस्वाद्य न होकर आस्वाद रूप है : आस्वाद्य उसे केवल व्यवहार की दृष्टि से कहा जाता है। यहाँ रस का अर्थ है आत्मानन्द—शुद्ध आत्मानन्द नहीं, रत्यादि से विशिष्ट अर्थात् सोपाधिक आत्मानन्द

और उसका स्थान निश्चय ही सहृदय का चित् या आत्मा है। अभिनव की भरत के प्रति अगाध श्रद्धा है—विरोधी मत का खण्डन करने के लिए अनेक तर्कों के उपरान्त वे अन्तिम तर्क यही देते हैं कि अमुक स्थापना मुनि-मत के विरुद्ध होने से स्वतः असिद्ध हो जाती है। किन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने तो भरत के मत को एकदम उलट दिया है। इस वैषम्य का समाधान यह है कि भरत का रस-विवेचन व्यावहारिक है और अभिनव का तात्त्विक। व्यवहारगत तथ्यों अथवा पदार्थों का आख्यान अद्वैत दर्शन इसी प्रकार करता है जिस प्रकार अभिनव भरत के मत का आख्यान करते हैं। अतः अभिनव की श्रद्धा में सन्देह करना व्यर्थ है—उन्होंने भरत के मत का विरोध न कर केवल तात्त्विक आख्यान किया है। वेदान्ती पण्डितराज एक पग और भी आगे बढ़ जाते हैं : शांकर वेदान्त में विषय की सत्ता एकदम अग्राह्य है। अतः उन्हें 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः'—अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषयगत रत्यादि स्थायी भाव ही रस है[1] भी स्वीकार्य नहीं है। उनका निभ्रान्त मत है कि आनन्द का पर्याय रस तत्त्वतः स्थायिभाव-रूप नहीं हो सकता, वह तो शुद्ध आत्म-रूप ही होता है इसीलिए उन्होंने अभिनव के मत में संशोधन कर दिया—रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः—अर्थात् रति आदि स्थायी भाव से विशिष्ट आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य ही रस है।[2] श्रुति के प्रमाण 'रसो वै सः' की सिद्धि इसी प्रकार हो सकती है, अन्यथा नहीं।

भारतीय रस-शास्त्र का यह विवेचन निश्चय ही अतल-गम्भीर है और तत्त्व दृष्टि से कदाचित् सर्वांगपूर्ण भी। परन्तु, दर्शन की सूक्ष्म प्रतिपत्तियों में उलझ कर आधुनिक काव्य-मर्मज्ञ अथवा काव्यशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह दुर्बोध हो गया है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर, वर्तमान आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में, भारतीय काव्यशास्त्र की रसविषयक धारणाओं का सारांश यह है :

आचार्य	रस का स्वरूप	रस का स्थान	सहृदय का अनुभव
भरत	नाट्यकलागत भाव-सौन्दर्य	नाट्य	हर्ष, विस्मय आदि
दण्डी आदि अलंकारवादी	काव्यकलागत भाव-सौन्दर्य	काव्य (शब्द-अर्थ)	प्रीति (आह्लाद)
लोल्लट	मूलपात्रों का भावास्वाद —अर्थात् काव्यवस्तुगत भाव-सौन्दर्य	मूलपात्र= काव्य-वस्तु	चमत्कार
शंकुक	अभिनयगत भाव-सौन्दर्य	नट= अभिनय	रस का अनुमान और तज्जन्य रागात्मक-कलात्मक प्रतीतियाँ
भट्टनायक	(सहृदय द्वारा) भाव-सौन्दर्य की अनुभूति	सहृदय का चित्त	रस और रस का भोग= रसजन्य आनन्द
अभिनव	(सहृदय द्वारा) भाव-सौन्दर्य का आनन्द	सहृदय का चित्त	रस=आनन्द

[illegible]

वस्तुस्थिति क्या है ? क्या रस की सत्ता एकान्त रूप से विषयिगत है—क्या काव्य में उसकी स्थिति सर्वथा अमान्य है ?

दर्शन और मनोविज्ञान की प्राविधिक शब्दावली का त्याग कर, सामान्य शब्दावली में हम यह कह सकते हैं कि शब्दार्थ के माध्यम से भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति काव्य है और उसका आनन्दमय आस्वाद रस है, अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त भाव के आनन्दमय आस्वाद का नाम रस है। निश्चय ही यह आस्वाद विषयगत न होकर विषयिगत है क्योंकि यह तो आस्वादयिता की ही अनुभूति है। किन्तु समस्या इतनी सरल नहीं है। यदि ऐसा है तो 'रसात्मक वाक्य का नाम काव्य है' अथवा 'रस ही काव्य का सार है' —रसवादियों के इन अत्यन्त प्रचलित सूत्रों का क्या अर्थ होगा ? क्या काव्य के सार की स्थिति काव्य के कलेवर—शब्दार्थ से बाहर सहृदय के चित्त या चैतन्य में मानी जाय ? वस्तुवादी दृष्टि से रस पदार्थ विशेष है जो काव्य के शरीर—शब्दार्थ में—सार या आत्मा के रूप में विद्यमान रहता है। अद्वैतवादी या व्यक्तिवादी दृष्टि से यह रस शब्द का व्यावहारिक प्रयोग मात्र है—इसका वास्तविक अर्थ है काव्य का वह गुण या शक्ति जो सहृदय के आस्वाद का निमित्त होता है। रसमय वाक्य का अर्थ है शब्दार्थ का ऐसा प्रयोग जो सहृदय के चित्त को व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त कर रत्यादि स्थायी भावों के माध्यम से आत्मानन्द प्रदान करता है—आधुनिक शब्दावली में इसका अर्थ हुआ : शब्दार्थ का ऐसा प्रयोग जो सहृदय को रागात्मक-कलात्मक आनन्द प्रदान करता है। अर्थात् अद्वैतवादी या व्यक्तिवादी दृष्टि से रस पदार्थ नहीं है, आस्वाद ही है और काव्यगत रस से तात्पर्य किसी पदार्थ विशेष का नहीं है वरन् ऐसे गुण विशेष का है जो सहृदय के आस्वादन का निमित्त बन जाता है। किन्तु, इतने से भी व्याख्या पूर्ण नहीं होती। अब प्रश्न यह उठता है कि शब्दार्थ में यह गुण या शक्ति कहाँ से आती है ? क्योंकि शब्दार्थ तो केवल प्रतीक मात्र है—उसमें तो केवल व्यंजना की ही शक्ति है। प्रमाता के चित्त में भाव और आह्लाद जगाने की शक्ति तो भाव में ही हो सकती है और यह भाव है कवि का, जो शब्दार्थ का प्रयोग करता है। इसलिए रस के आस्वादन में केवल सहृदय की भावुकता ही प्रमाण नहीं है, कवि की भावुकता का भी उतना ही मूल्य है। केवल प्रमाता की सहृदयता को प्रमाण मान लेने से तो काव्य का मूल्यांकन ही असम्भव हो जाएगा।' 'यशोधरा' 'भारत-भारती' से अधिक सरस है—इसका अर्थ यदि यह लिया जाए कि उससे 'भारत-भारती' की अपेक्षा सहृदय का चित्त अधिक चमत्कृत होता है तो फिर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि इसका कारण क्या है ? 'सहृदय का चित्त अधिक चमत्कृत होता है' यह घटना अकारण नहीं है और इसका कारण 'यशोधरा' में ही ढूँढ़ना होगा। अलंकारवादी कह सकता है कि 'यशोधरा' में शब्दार्थ का प्रयोग 'भारत-भारती' की अपेक्षा अधिक चारु और वक्र है, किन्तु रसवादी तो इतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसे तो यह कहना ही होगा कि 'यशोधरा' के शब्दार्थ में भाव-व्यंजना की शक्ति अधिक है। पर इस शक्ति का आधार क्या है ? इसका आधार निश्चय ही कवि है : भरत इस तथ्य से अवगत थे और प्रस्तुत सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रवक्ता अभिनव को भी इसका सम्यक् ज्ञान था कि काव्यगत भाव का मूल आधार है कवि का अन्तर्गत

भाव—कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।। (ना० शा० ७।२) कवि का अन्तर्गत भाव कविगत रस की ओर संकेत करता है जो काव्य रस का मूल है—तदेवं मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१५) और उसका अनुसन्धान कर लेने पर रस की स्थिति की समस्या हल हो जाती है ।

“काव्य के आस्वादन में हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय । आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है, वस्तु तत्त्वतः उसकी अनुभूति है और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है । वस्तु को मैंने तत्त्व-रूप में कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती है । संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में तो, जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गयी है । आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है । उस कथा का महत्त्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नहीं होता, क्योंकि संवेद्य कवि की अनुभूति ही है, कथा का एक अणु भी नहीं । दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहराएगा ? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरशः दुहराते भी हैं तो उसके द्वारा वास्तव में हम अपनी ही बात कहते हैं । हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नहीं । इस प्रकार तत्त्व-रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं है । अतएव वस्तु या विषय में रस योजना अर्थवाद से अधिक नहीं है । वस्तु के अन्तर्गत भट्टलोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं । वे नायक-नायिका भी (चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित) काव्य में कवि से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते । उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक व्याज-मात्र है और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है । देश और काल की सीमा में बँधे हुए शकुन्तला और दुष्यन्त व्यक्तियों की हमारे लिए (नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए) उस समय कम से कम कोई सत्ता नहीं है । इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदलकर चन्द्र-मोहन और जयश्री कर दिये जाएं या हमें इतिहास (महाभारत) का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्ववेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है तो भी ‘शाकुन्तलम्’ पढ़कर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी । मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक हैं, (यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता ।) अब देखिए कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माइकेल मधुसूदनदत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमें रस-दशा तक पहुँचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा ? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की

— [illegible] —

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥

—मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की नहीं। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमें प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे अन्तर्मन पर पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात-मात्र ही है, वह स्वतन्त्र अस्तित्ववान् नहीं है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वे अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें 'रामायण', 'रामचरितमानस', 'साकेत' आदि पढ़कर कदापि नहीं हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है); दूसरे उन्होंने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा। पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगार रस' का नहीं। यह संयोग-मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होंगे अथवा सीता-वियोग में विषण्ण व लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य में पढ़ कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय-सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है, सहृदय द्वारा रस की अनुभूति में तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनवगुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'; क्योंकि जब हम प्रसन्न होते हैं तो अपने सहृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने मन में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हैं। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है, (सु=सुलभ+ख=आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्मा का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मैं हूँ" यही रस का सार तत्त्व है।[1]

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के चित्त में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को इस प्रकार संवेद्य बना पाता है कि उसे ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जाग्रत हो जाती है? इसका उत्तर होगा 'अपने हृदय-रस में डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है और उस संवेदित अनुभूति

---

[1] डॉ० भगवानदास, 'रस-मीमांसा' द्वि० अ० प्र०

को ग्रहण करने में सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में। क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नहीं है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायगा। पहले तथ्य के प्रमाण में रस-सामग्री से सम्पन्न अनेक नीरस छन्द उद्धृत किये जा सकते हैं और दूसरे के प्रमाण में सरस छन्दों से अप्रभावित अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति, जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था या भट्टतोत का यह सिद्धान्त कि नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है[1] या फिर अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित भरत की यह उक्ति कि 'कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि तथा सात्त्विक अभिनय द्वारा आस्वाद-योग्य बनाता है, वह भाव कहलाता है'[2] ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान-रूप में कवि की अनुभूति को संस्कृत साहित्य-शास्त्र में पृथक् ही रखा गया है। भट्टतोत का सिद्धान्त भी उपेक्षित-सा ही रहा।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य में नट-नटी की सत्ता और माननी पड़ेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है? रस की स्थिति उनके हृदय में भी माननी पड़ेगी। नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिए अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नहीं बन सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने में सफल हो सकेंगे। इसलिए उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गये संस्कृत-आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित हैं।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है: इसमें सन्देह नहीं कि काव्य पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं अपनी अस्मिता का रस ले सका हो, नाटक में नट-नटी के विषय में भी यह सत्य मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए।

डांडी-यात्रा पर जाते हुए गांधी जी का प्रसंग है। यह अतर्क्य है कि गांधी जी ने उस समय एक सात्त्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा, सहानुभूति के द्वारा मुझमें भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप में उस भाव को ग्रहण किया, फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' में महामानव गांधी का यह सात्त्विक उत्साह शब्दबद्ध कर दिया। मैंने उसे पढ़ा और एक सात्त्विक आनन्द का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव हैं: एक अनुभव

---

[1] नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

[2] वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७। २

स्वयं गांधी जी का, दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गांधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने में प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गांधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इनमें रस-संज्ञा किसको दी जा सकती है? गांधी जी के अनुभव को? नहीं। वह तो भाव (इमोशन) मात्र है जो इस प्रसंग में मधुर है अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गांधी जी की खीझ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गांधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद में प्रत्यक्ष न रहकर संस्कार-मात्र रह गयी थी, काव्य-रूप देने का अर्थात् बिंब-रूप में उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य-रूप देने में वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्त्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस में काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और, यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरम्भ में रचना के समय कवि और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासना-रूप में स्थित स्थायी भावों को जागृत कर रस-दशा तक पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय में यह लोकपरिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी, पूर्णतः सत्य है।"[1]

कविगत रस की सिद्धि हो जाने पर अब काव्यशास्त्र का एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है: रस का संप्रेषण[2] (संचार) होता है या अभिव्यक्ति? संप्रेषण का अर्थ यह है कि रस मूलतः कविगत अनुभूति ही होता है, काव्यगत शब्दार्थ के माध्यम से उसका सामाजिक के हृदय में संप्रेषण या संचार हो जाता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसके विषय में दो मत हैं। प्राचीन मत यह है कि सभी मनुष्यों में एक ही चैतन्य तत्त्व अनुस्यूत है, अतः प्रत्येक परिस्थिति या घटना की सभी के हृदयों में एक ही प्रतिक्रिया होती है। यह धारणा वस्तुतः एकात्मवाद पर आश्रित है: पश्चिम के ब्लेक आदि रहस्यवादी चिन्तकों का यही

---

[1] रीतिकाव्य की भूमिका पृ० नं० ५९-५५

[2] कम्यूनिकेशन

विश्वास था। आधुनिक मनोविज्ञान भी संप्रेषण-सिद्धान्त में विश्वास करता है किन्तु आध्यात्मिक आधार को स्वीकार नहीं करता। अतः उसकी धारणा में थोड़ा अन्तर हो जाता है। आई० ए० रिचर्ड्स के शब्दों में—"संप्रेषण, हम यह कह सकते हैं, उस समय घटित होता है जब एक व्यक्ति का मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार व्यवहार करता है कि दूसरे व्यक्ति का मन उससे प्रभावित हो उठता है और इस दूसरे व्यक्ति के मन में एक ऐसे भाव का उदय हो जाता है जो पहले व्यक्ति के भाव के समान और अंशतः उसके कारण उद्बुद्ध होता है। (प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म—१७ वां संस्करण, पृ० १७७)। इस धारणा के अनुसार कवि की अनुभूति ही सहृदय के चित्त में संप्रेषित या यथावत् स्थानान्तरित नहीं हो जाती वरन् प्रत्येक सहृदय के चित्त में उसके समान अनुभूति का ही उदय होता है। अनेक सहृदयों की अनुभूतियाँ कवि की अनुभूति के समान होने के कारण परस्पर समान भी होंगी, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस समानता की एक सीमा है—उनमें भेद भी रहेगा, कवि की अनुभूति से भी और एक-दूसरे से भी।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रस के प्रसंग में संप्रेषण के दो अर्थ हुए: (१) कवि का हृदयगत रस अर्थात् आनन्दरूप आस्वाद शब्द-अर्थ के माध्यम से सामाजिक के हृदय में यथावत् स्थानान्तरित हो जाता है, (२) कवि का हृदयगत रस सहृदय के चित्त में समान आनन्दानुभूति का उद्बोध करता है। भारतीय अभिव्यक्तिवाद यह तो मानता है कि एक ही चैतन्य तत्त्व कवि तथा प्रत्येक सहृदय के चित्त से अनुस्यूत है, किन्तु इसके उपर्युक्त निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करता—अर्थात् वह यह नहीं मानता कि इसी कारण से कविगत रस सहृदय के चित्त में यथावत् स्थानान्तरित हो जाता है क्योंकि सहृदय का रस तो चैतन्य अनुभव है और यह उसकी अपनी आवरणमुक्त आत्मा का ही विषय है, कवि द्वारा संप्रेषित अनुभव नहीं है। कवि का रस निमित्त कारण है जो शब्द-अर्थ के माध्यम से सहृदय की रसरूपिणी चित् शक्ति को अभिव्यक्त करता है, स्वयं उसमें प्रविष्ट नहीं हो जाता। यह अनुभूति (१) कवि की ही अनुभूति है या (२) उससे सर्वथा अभिन्न है या (३) उसके समान सहृदय की व्यष्टिगत अनुभूति है—ये तीन विकल्प सामने आते हैं। इनमें से पहली धारणा असम्भव है क्योंकि अनुभूति अपनी ही हो सकती है, दूसरे की नहीं। दूसरे विकल्प का मनोविज्ञान तो स्पष्ट शब्दों में निषेध ही करता है, क्योंकि वह यह नहीं स्वीकार कर सकता कि कवि और पाठक की या दो पाठकों की अनुभूति सर्वथा अभिन्न हो सकती है, परन्तु अद्वैत दर्शन—एकात्मवाद—उसका पोषण करता है क्योंकि रस जब तत्त्व-रूप में आवरण-मुक्त चिद्रूप है तो कविगत रस और सहृदयगत रस में, या दो सहृदयों की रसानुभूति में, भेद कैसे हो सकता है? तीसरा विकल्प मनोविज्ञान की स्थापना है जो यह मानता है कि दो व्यक्तियों की अनुभूतियाँ कभी एक नहीं हो सकतीं—प्रेरक आधार एक होने पर उनमें समानता तो हो सकती है किन्तु एकता सम्भव नहीं है। सहृदय की अनुभूति और कवि की अनुभूति का आधार समान है और वह अंशतः उससे प्रेरित भी है, अतः ये दोनों समान तो होती हैं, किन्तु एक नहीं हो सकतीं। अद्वैत-सिद्धान्त पर आधृत अभिव्यक्तिवाद के साथ इस मत की संगति नहीं बैठती: वह तो रस को अखण्ड मानकर चलता है जबकि उपर्युक्त

मत के अनुसार कविगत रस और सहृदयगत रस में या दो सहृदयों द्वारा अनुभूत रस में प्रकार या मात्रा का भेद हो जाता है। परन्तु इस विकल्प के अनुसार भी रस की अभिव्यक्ति ही होती है, संप्रेषणा नहीं—कवि की अनुभूति से सहृदय की अपनी ही आनन्दमयी अनुभूति उद्बुद्ध हो जाती है। इस प्रकार संप्रेषण या संचार का नवीन अर्थ प्रायः अभिव्यक्ति के निकट ही आ जाता है और वस्तुतः भावों के मूल में वासना या सहजवृत्तियों[1] की सत्ता मान लेने पर, जो भारतीय दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों को ही स्वीकार्य है, भाव की अभिव्यक्ति स्वतःसिद्ध हो जाती है—अनुभव के संप्रेषण की, कम से कम उसके वाच्यार्थ में, सम्भावना नहीं रह जाती। अतः रस संप्रेष्य नहीं है, व्यंग्य ही है।

[1] इन्स्टिंक्ट्स

(ग) साधारणीकरण

रस-निष्पत्ति के साथ साधारणीकरण का प्रसंग भी सम्बद्ध है। काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम से कम **'सहृदय-साधारण'** के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं ?—काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यवान् उपकरण है : वह सहस्राब्दियों से संस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत् के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरम्भ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध ? जब देश और काल का विराट् व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं ? इस प्रश्न का सब से प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण-सिद्धान्त जिसके बीज तो नाट्यशास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं—यथा 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है (नाट्यशास्त्र, का० मा० पृ० १०६); परन्तु निश्चित उल्लेख भट्टनायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अंश इस प्रकार है :

विभावादिसाधारणीकरणात्मना × × × भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः × × × भोगेन परं भुज्यत इति।

> —अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायिभाव रूप रस × × × भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।

इसका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। भाव्यमान को काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'साधारणीकृत' का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत कर देती है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है; उनके उद्धरण इस प्रकार हैं :

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्।

—अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय रूप से भासता है, उसके विशेष रूप न होने से, 'यह भीत है' यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि **आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।**

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं :

तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादि-कृतबुद्धचन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं × × × भयानको रसः।

—इसीलिए 'मैं भीत हूँ,' 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत है', इत्यादि सुख-दुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न प्रतीति-रूप में ग्राह्य [भय स्थायी भाव ही] भयानक रस बन जाता है।

अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्ति-संसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः **इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति।**

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है :

तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् × × × अतएव सर्वसामाजिका-नामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः × × × सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात्।

—इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिकजन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधा-सागर के समान प्रतीत होते हैं :

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु। नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥

इन उद्धरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, उसी प्रकार विभावादि का साधारणी-करण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधारणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन, व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है; केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता—वरन् समस्त सामाजिक एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

उपर्युक्त संशोधन के प्रकाश में काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्ट-नायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है:

भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (काव्यप्रकाश, निर्णयसागर प्रेस, पृ० ६६)

—अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।[1]

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी की भी व्यंजना स्पष्ट ही है)—सभी का साधारणीकरण होता है। उदाहरण से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी:

---

[1] इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। (देखिए रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन, पृ० २५४-२५८)। विषय के निर्भ्रान्त ज्ञान के लिए उनका समाधान कर लेना चाहिए। एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की आत्मा या मूल तत्त्व है, पर्याय नहीं है। इसके समर्थन में दो तर्क दिये गये हैं—(१) भट्टनायक ने '**साधारणीकरणकरणात्मना**' पद का प्रयोग किया है, 'साधारणीकरणरूपेण' का नहीं; (२) भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण मात्र नहीं है, निजमोहसंकटता का निवारण भी है। हमारा विचार है कि इनका बखान करने से मूल सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है। पहला तर्क शाब्दिक अधिक है, दोनों पदों के मूल अर्थ में विशेष भेद नहीं है, दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसंकटता का निवारण भी तो साधारणीकरण क्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आगे चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्न प्रतीति रूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है। दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गयी है जो उपर्युक्त व्याख्याओं के विरोधी प्रतीत होते हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं:

न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्।

अर्थात् वह प्रतीति मान्य नहीं है। वास्तविक सीतादि के विभावरूप में उपस्थित न होने से। अपनी स्त्री आदि की स्मृति अभिनय-काल में न होने से। देवतादि (सीता, पार्वती आदि पूजनीया देवियों के साधारणीकरण के अयोग्य होने से। समुद्रलंघन आदि के असाधारण होने से। (हि० अ० भा०, पृ० ४६२-६३) इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण मान्य नहीं है। किन्तु स्थिति बिल्कुल विपरीत है: भट्टनायक तो उसे मानकर ही चलते हैं और, चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसीलिए रस की [प्रत्यक्ष] प्रतीति असिद्ध हो जाती है। उनका तर्क यह है: यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाए तो सीतादि देवियों का और समुद्रलंघन आदि देवकार्यों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा, परन्तु चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है इसलिए रस की प्रतीति असिद्ध है।

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई।
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज सम्पति सुररूख लजाए।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल-खग कूजत गुंजत भृंगा।

× × × ×

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।

× × × ×

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुं सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।

× × × ×

सिय सोभा हिअँ बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि॥

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहिं फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारनु जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।

× × × ×

करत बतकही अनुज सन, मनु सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि, करै मधुप इव पान।

(रामचरितमानस, बालकांड, दोहा २२६ से २३१)

यहाँ राम आश्रय है, सीता आलम्बन है, वासन्ती वैभव से समृद्ध जनक-वाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क, मति आदि संचारी हैं। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन-प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि वे राम न रहकर रति-मुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं—उनके देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्ट्य तिरोभूत हो जाते हैं और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभर कर सामने आ जाता है। आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत कुछ ऐसा ही है।—अर्थात् उनका भी देशकालावच्छिन्न वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और सामान्य कामिनी रूप शेष रह जाता है। अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएँ राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ बन जाती हैं। इसी

प्रकार रत्यादि स्थायी भाव और हर्ष, वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम-सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रह जाते—वे वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है, न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय-पात्र के प्रति—यह तो निर्मुक्त रति भाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है। मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकृति के कारण व्यक्ति-चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्त्त भाव-रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देशकाल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्रायः इसी मत की आवृत्ति करते रहे—केवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के विवेचन में वैचित्र्य के कुछ संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने वैसे तो स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है :

> साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
> परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च॥ सा० द०—३.१२॥
> तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते। ३.१३ का पूर्वार्ध॥

—शृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्यादि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं। रसास्वाद के समय विभावादिकों का 'ये [विभावादि] मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं—अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं,' इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता है।

किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है :

> व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः॥३.९॥
> तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः
> प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥३.१०॥
> उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः।
> नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥३.११॥

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। [हनुमान् आदि के साथ] साधारण्याभिमान अर्थात् अभेद-ज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं है।

इसका सारांश यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवादि के साथ भी। उदाहरण के लिए, लौकिक परिस्थिति में सामान्य जन के लिए समुद्रलंघन के उत्साह का अनुभव सम्भव नहीं है, किन्तु काव्य-नाट्यादि में, साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान् आदि के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण, इस प्रकार का

उत्साह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रसंग अभावात्मक रूप में भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप में उसे और भी उभारकर सामने रखा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी नव्यन्याय के आलोक में प्रकारान्तर से आश्रय के साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस संदर्भ में उन्होंने 'दोप' शब्द का प्रयोग अधिक शुद्ध माना है :

काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजत-खण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः।

(हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०१)

—इसका अभिप्राय यह है कि पहले तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यंतादि के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यंतत्व आदि से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यंत समझने लगते हैं—"और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोप के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित-शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोप से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हममें शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।[1]

---

[1] वस्तुतः पण्डितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया :

यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तला-त्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्।

—अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? (हिन्दी रसगंगाधर, प्र० आ०, पृ० १०५)—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहां भी नहीं है।

बात यह भी वही है जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु इस पर दर्शन का वर्म चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं है—यहाँ तो 'भ्रम' है : भावनादोष है। किन्तु दर्शन के आवरण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और समानुभूति की ही बात कर रहे हैं : कवि की भावनारूढ़ कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक-अलौकिक का व्यवधान यहाँ नहीं रहता—दुष्यंत के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह [कल्पित] रति का अनुभव करता है, इसी प्रकार हनुमान् की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही [कल्पित] अनुभव कर लेता है।

पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कविशिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं था। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख[1] 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्लजी का यह लेख भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक अनुसंधान का परिच्छेद या अंग न होकर स्वतन्त्र चिंतन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपने अभिमत 'लोकधर्म सिद्धान्त' के समर्थन में ही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अतः इस लेख में साधारणीकरण-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन नहीं, पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में उसकी स्थापनाओं का मूल्यांकन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्लजी के उद्धरण इस प्रकार हैं :

१. जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।[2]

२. (क) काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।

(ख) साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।[3]

३. कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का

---

१ यह लेख प्रथम बार सन् १९३३ में 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था।

२, ३ चिंतामणि भाग (१) १९५७—पृ० २२७-२३०

आलम्वन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाये जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का होता है।[1]

४. व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सव श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या वहुत होता है।' × × × 'विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं' इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्वन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।'[2]

५. साधारणीकरण में आलम्वन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कतिपय तथ्य प्रकाश में आते हैं :

साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोग मात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।

वे मूलत: आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्वन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय वनता है और फिर समस्त सहृदय-समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आलम्वन के साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही तिरोहित हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति वन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो वना रहता है, पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उसी भाव का विषय वन जाता है—अर्थात् सीता कामिनी मात्र वनकर रह जाती हैं, यह वात नहीं, वरन् वे अपने शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती हैं। आलम्वन का व्यक्तित्व वना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषमता का समाधान करने के लिए शुक्लजी अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुत: आलम्वन-धर्म का होता है, अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती हैं। यहाँ कई वातें उलझ जाती हैं : सीता केवल कामिनी नहीं हैं, व्यक्ति हैं; वे राम की प्रिया हैं, किन्तु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौन्दर्य आदि ऐसे सामान्य गुण हैं जो समस्त सहृदय-समाज में रति-भाव उत्पन्न करते हैं; सीता राम की प्रिया हैं, किन्तु प्रेम का आधार चूंकि सीता के सामान्य गुण ही हैं, अत: वे सहृदय-समाज को भी प्रिय हैं—अर्थात्

१, २ चिन्तामणि, भाग (१) पृ० २२७-२३०

३ रसमीमांसा, पृ० ९९

सहृदय-समाज के प्रेम का विषय सीता व्यक्ति नहीं वरन् उस व्यक्ति के शील-सौन्दर्य आदि गुण हैं। शुक्लजी के सामने वास्तव में अपने दो सिद्धान्तों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गयी है (१) काव्य का विषय (आलम्बन) विशिष्ट होता है, और (२) काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि-बल से इस प्रकार कर लिया है : आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए समर्थ कवि, जिसे लोक-हृदय की पहचान होती है, सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेता है। निदान, सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है परन्तु उसके हृदय में यह भेदभाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलम्बन हैं या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टतोत का भी यही मत है :—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

शुक्लजी के मत का सार कदाचित् यही है—यहाँ हमने उन्हीं के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसके सत्यासत्य का निर्णय बाद में करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है। इसीलिए संस्कृत के शास्त्रविद् पण्डितों ने इस पर आक्षेप किये हैं। पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने शुक्लजी के इस मन्तव्य को 'भ्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है :

साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोक-सामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध हो जाएँगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।[१]

---

[१] साहित्य लोचन, डॉ० श्यामसुन्दर दास (१९४८) पृ० २७४-७५ पर उद्धृत।

केशवजी ने अपना मन्तव्य अन्त में सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियों के साधारणीकरण का ही मानते हैं: सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है, भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर इसी अखण्ड चेतना में साधारणीकरण का अनुसन्धान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की सत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा अर्थात् द्वैत की प्रतिष्ठा और द्वैतवादी रस-कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एवं नैतिक ही रहेगा। इस प्रकार केशवजी आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात में अपूर्ण मानते हैं। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केशवजी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रस-दृष्टि की पूर्णता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है: विभाव बद्ध या सीमित है, भाव मुक्त या असीम; अतः विभाव का साधारणीकरण अपूर्ण एवं सीमित है—वह बौद्धिक एवं नैतिक है *जबकि भाव का साधारणीकरण चित्त की मुक्ति अथवा संविद्विश्रान्ति का* पर्याय है, अतः वह पूर्ण है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की विभावनिष्ठ दृष्टि तथा नैतिक चेतना के सम्बन्ध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अन्ततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथावत् ग्राह्य नहीं हैं। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यों में भट्टनायक के दृष्टिकोण में द्वैत का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और चूँकि उन्होंने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसंग में नैतिक प्रश्न उठाया है, अतः यह भी कल्पना संगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नैतिक आधार लिये हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जो शुक्लजी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान हैं, अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है, यह निष्कर्ष भी अशुद्ध नहीं है। किन्तु भट्टनायक और शुक्लजी के मन्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी हैं—(१) उदाहरण के लिए भट्टनायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नहीं दिया। (२) निजकान्तास्मृति की सत्ता को उन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया में सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, पर शुक्लजी विकल्प रूप में यह भी मान लेते हैं कि 'यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।' (३) भट्ट-नायक करुणादि समस्त रसों की अनुभूति को आनन्दमयी मानते हैं, परन्तु शुक्लजी की रस-कल्पना हृदय की मुक्तावस्था का ही पर्याय है, अर्थात् वह भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार-जन्य 'निजमोहसंकटतानिवारण' पर ही समाप्त हो जाती है 'भोग' तक नहीं पहुँच पाती।

पं० केशवप्रसाद मिश्र के उपरान्त भी यह विवेचन-क्रम चला और डॉ० गुलाबराय तथा पं० रामदहिन मिश्र आदि ने प्रस्तुत प्रसंग पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये, किन्तु इनके विवेचन में विषय की व्याख्या का ही प्राधान्य है—कोई नवीन विचार हमारे सामने उपस्थित नहीं होता।

सारांश

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है :

१. रस के समस्त अवयवों—विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में थोड़ा-सा (असंलक्ष्य) क्रम रहता है—विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी का उसके परिणामस्वरूप बाद में। यह भट्टनायक का मत है और इसमें विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का संतुलन है।

२. मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है जिससे सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त एकतान हो जाती है। परन्तु स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय-चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और इसमें अन्ततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

३. तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है—प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान् की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहाँ हनुमान् (विभाव) का उत्साही पुरुष मात्र के रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, वरन् सम्पूर्ण प्रमातृवर्ग का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हनुमान् के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस रूप में यह भट्टनायक और अभिनव के मत से किंचित् भिन्न है।—यह मत विश्वनाथ का है, जगन्नाथ ने भी दर्शन की शब्दावली में इसे ही प्रस्तुत किया है, उनके विचार से भी (भ्रमवश ही सही) आश्रय के साथ तादात्म्य ही मुख्य किया है।

४. शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है अर्थात् कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुद्ध करता है जैसा कि काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्लजी भी यथावत् स्वीकार करते हैं, किन्तु बल उनका विभाव अर्थात् आलम्बन या आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण पर ही है।

५. साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं : कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। यह भट्टतोत का मत है, आचार्य शुक्ल ने भी इसे यथावत् मान्यता प्रदान की है।

विवेचन

इन विकल्पों में से कौन-सा सत्य है—साधारणीकरण वस्तुतः किसका होता है? मूल प्रश्न यही है जिसका समाधान किये बिना साधारणीकरण का वास्तविक आशय और महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

'मानस' के 'जनक-वाटिका' प्रसंग का अध्ययन करते समय दो सत्ताएँ विद्यमान रहती है—एक वस्तु या विषय की और दूसरी प्रमाता या विषयी की। विषय के अन्तर्गत विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी आते है, विपयी स्वयं सहृदय या प्रमाता है। भट्टनायक के मत से विषय के समस्त अंगों का साधारणीकरण होता है और परिणामतः प्रमाता के स्थायी भाव का भी। यही मौलिक सिद्धान्त है, परन्तु मूल सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व इसके विषय में प्रस्तुत संशोधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा।

आश्रय के साथ तादात्म्य—साधारणीकरण की प्रक्रिया में, जहाँ रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है, आश्रय का साधारणीकरण भी अन्तर्भूत है—अर्थात् जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर है। पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुप बन जाते है और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणों में अपने को राम या हनुमान् समझने लगता है और धनुर्भंग अथवा समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति उसके मन में उत्साह जागृत हो जाता है। एक में राम या हनुमान् का सामान्य मानव-धरातल पर उतरना विवक्षित है और दूसरे में प्रमाता का उठकर विशेप/अलौकिक धरातल पर पहुँचना। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नहीं है कि ये अपने गौरव से वंचित होकर जनसाधारण के स्तर पर उतर आते हैं। ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा। साथ ही उसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य में 'व्यक्ति' का नहीं 'जाति' या वर्ग का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व खोकर वर्गगत या जातिगत गुणों का प्रतीक मात्र रह जाता है क्योंकि इस प्रकार तो काव्य भावना का विषय न रहकर विचार का ही विषय रह जाएगा और उसकी प्रभावी शक्ति ही नष्ट हो जाएगी। इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य—देशकालबद्ध रूप—तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्य उभर कर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के संस्कारों में भी निसर्गतः विद्यमान है। फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य' यह नहीं है क्योंकि तादात्म्य की प्रक्रिया में आश्रय तो बदलता ही नहीं : विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता अपने में हनुमान् का अभिमान करने लगता है—यहाँ तक कि समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति भी उसमें उत्साह जग जाता है। यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है; वास्तव में इसी प्रकार के अलौकिक पात्रों और उनके कार्यो को सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी होती है। इसके अतिरिक्त 'आश्रय' शब्द का अर्थ तो बहुत व्यापक है। यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर के लिए संदेह में पड़ सकते हैं, परन्तु राम और दुष्यन्त या हनुमान् और अंगद ही नहीं रावण और शूर्पणखा भी तो आश्रय हो सकते हैं, अर्थात् आश्रय तो घृणित, क्रूर, भिन्न-लिंगी, नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है, हम उसके साथ कहाँ

तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? यदि प्रेय चरित्रों को ही लें, तब भी तादात्म्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं हो सकता; मृतवत्सा शैव्या के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पण्डितराज के अनुसार, भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय-चेतना के आच्छादन की प्रकल्पना को भी यदि यथावत् स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में आ जाने से वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है पर इस कल्पित शोक की रस में परिणति नहीं हो सकती। पण्डितराज भी काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त इसका कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं दे सके। अतः 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतन्त्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है; साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अंग रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग में ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य होता है : **नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः** (तोत)। इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत-काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्रायः नायक के माध्यम से ही करता था, अर्थात् कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि का उपयोग आज भी होता है और नायक की परम्परागत गरिमा आज भी नष्ट नहीं हुई। किन्तु स्थिति में थोड़ा परिवर्तन तो हो ही गया है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूंजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य पूंजीवाद की मूल चेतना—व्यक्तिवाद—के प्रति घृणा जगाना है। नायक असंदिग्ध रूप से वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उसके साथ तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस तरह 'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।

आलम्बन या आलम्बन-धर्म का साधारणीकरण—आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि काव्य में वर्णित भाव का विषय—व्यक्ति या वस्तु—यद्यपि विशेष रूप में ही प्रत्येक सहृदय के मानस-पटल पर अंकित होता है, फिर भी वह अपने कुछ सामान्य, अर्थात् सभी को प्रायः समान रूप से प्रभावित करने वाले, गुणों के कारण समस्त सहृदय-समाज के चित्त में प्रायः एक-सा ही भाव जगाता है। इस प्रकार साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्ध भाव की जागृति के कारण हैं। सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता, पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभर कर सामने आ जाते हैं जिनके कारण वे केवल राम के ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन

जाती हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल के मत का और अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु क्या यह मान्य है ?

इस विषय में कुछ बातें बिल्कुल साफ़ हैं। एक तो यह कि प्रस्तुत मत भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है, केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है। भट्टनायक और अभिनव दोनों ही आलम्बन आदि के व्यक्तित्व का विगलन मानते हैं---उसके बिना न विभाव का और न भाव का ही साधारणीकरण पूर्ण हो सकता है। इस स्वतःस्पष्ट तथ्य को स्वीकार करने में परेशान होने की ज़रूरत नहीं है---शुक्लजी के युग की अपनी मर्यादाएँ थीं क्योंकि अभिनवगुप्त आदि के ग्रन्थ उस समय सुलभ नहीं थे और साथ ही उनकी चिंतन-पद्धति भी एकान्त रूप से शास्त्रबद्ध नहीं थी। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आलम्बन-धर्म तक पहुँच गये हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्लजी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो *क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। यहाँ आप देखें कि कठिनाई किस* प्रकार बढ़ती जा रही है—आलम्बन, फिर आलम्बन-धर्म, और फिर उसका औचित्य या नैतिक आधार। यह सब इसलिए हो रहा है कि भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग स्वतन्त्र हो गया है। तीसरा आक्षेप यह किया जा सकता है कि इस प्रकार आलम्बन का क्षेत्र सीमित हो जाता है और परम्परा द्वारा निर्धारित आलम्बन ही काव्य में ग्राह्य हो सकते हैं—अर्थात् रामादि सदा प्रीतिकर भावों के और रावणादि अप्रीतिकर भावों के ही आलम्बन बन सकते हैं। अतः यह रस-दृष्टि परम्परागत नैतिक मूल्यों से परिबद्ध है। सामान्यतः परम्परा एवं नैतिक मूल्यों का अनुशासन श्रेयस्कर ही होता है और काव्य-मूल्य उससे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते, फिर भी नैतिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते। इस तरह तो भाव-क्षेत्र का विकास ही रुक ज़ाएगा और 'मेघनाद-वध' जैसे महान् काव्यों की रसवत्ता ही खण्डित हो जाएगी। वास्तव में परम्परा और नीति-संहिता का बड़ा महत्त्व है, परन्तु मानवता उनसे भी बड़ी है। अतएव परम्परा और नीतिविधान के प्रति निष्ठावान् रहते हुए भी काव्य-मूल्यों को तो मानवीय और सार्वभौम ही बनना पड़ेगा। प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है---मानवात्मा की वह दिव्य कान्ति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नहीं आती और केवल माइकेल के साथ ही नहीं सूर और तोलसतोय जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है। किन्तु यह परिणाम है : विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अन्ततः प्रमाता की चेतना भी स्व-पर की भावना से मुक्त---एकतान—हो जाती है। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से

इसी को प्रधानता दी है : "चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1] किन्तु यह धारणा यथावत् मान्य नहीं है— चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वाङ्ग का साधारणीकरण—अन्त में हम घूम-फिरकर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वाङ्ग का ही होता है। उदाहरण के लिए, ऊपर उद्धृत 'जनक-वाटिका प्रसंग' में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टाएँ— अनुभाव, जनकवाटिका का रमणीक वातावरण—उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही, विशिष्ट देशकाल-बद्ध घटना न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति; सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्बुद्ध करता है। काव्य-प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही वह बिम्ब सरल अथवा संश्लिष्ट होता है— प्रायः संश्लिष्ट ही होता है। उपर्युक्त बिम्ब निश्चय ही संश्लिष्ट है, उसमें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना 'आश्रय राम' के रूप में बिम्बित हुई है, सीता-विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन-रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनकवाटिका' के रूप में और राम के मन में उद्भूत भावनाओं की कल्पना 'हर्ष, मति आदि संचारियों' के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे-छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं जो रामसीता-प्रथममिलन-विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द-मूर्त करता है। अतः काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब मात्र है—यह काव्य-प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और, चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान[2] के

---

[1] हिन्दी लोचन—(१९९१ वि०) पृ० ८८५

[2] कुछ परिष्कृत मनोविज्ञान से ही लिये हुए हैं- पर इनमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।

अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के तर्क एवं शंकाएँ व्यक्त की गयी हैं। इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्वग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्लजी के प्रति अतर्क्य विश्वास तथा गुरुद्रोही के प्रति आक्रोश है। ये अबोध तार्किक और उनके मन्त्रदाता दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे है जिनका समाधान विषय के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉक्टर गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आदि) कवि की अनुभूति का प्रतीक मात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तु-स्थिति नहीं है:

यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सब के मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (objectivity) **धारण कर लेती है।** (सिद्धान्त और अध्ययन, द्वि० सं०, पृ० २१३)

वास्तव में बाबूजी के इस मंतव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि अन्ततः वे भी आलम्बन आदि का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते हैं। एक जनकवाटिका-प्रसंग 'प्रसन्नराघव' में है और दूसरा 'रामचरितमानस' में—'वाल्मीकि-रामायण' में वह है ही नहीं। ऐसी दशा में उसकी वस्तुस्थिति क्या रही? बाबूजी कहेंगे कि जनमानस में इस प्रसंग का जो 'साधारण' संस्कार विद्यमान है—वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है—अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है। और फिर, 'मानस' का जनकवाटिका-प्रसंग जनमानस के साधारण संस्कार का बिम्ब मात्र नहीं है—तुलसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द-रूप है। इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय-सत्ता भी अन्ततः विषयिगत ही सिद्ध हो जाती है और उनका मतभेद मूल सिद्धान्त से न रहकर बलाबल मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें ऐसा लगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर 'साधारण' संस्कार की उपेक्षा कर दी हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।

दूसरा आक्षेप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में कठिनाई हो सकती है। जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं

के सर्वथा विपरीत हो सकती हैं, इसी प्रकार कवि की भी। उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यंग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कैसे हो सकता है, अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नये कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है ? साम्प्रदायिक भक्त कवियों के सम्बन्ध में भी यही समस्या सामने आती है। उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है ? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है। ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है। और, जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमर्थ रहता है तब पाठक या पाठक-समाज के चित्त में समान अनुभूति का उद्बोध वह कैसे कर सकता है ? इस प्रकार मूलतः अ-साधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि-अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में उपर्युक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही रह जाती है, काव्यानुभूति बन ही नहीं पाती, क्योंकि कवि अथवा यों कहें कि कवि-कर्म में रत व्यक्ति स्वयं अपने चित्त को एकतान नहीं कर पाया—वह तो अपने व्यक्तिगत (वर्गगत या सम्प्रदायगत)[1] भाव को ही वाणी दे रहा है और व्यक्तिगत भाव की अभिव्यक्ति कविता नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ उसका कवि-कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि 'मेघनाथ वध' में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर लेता है।

"अतएव निष्कर्ष यही निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।' यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारी घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाथ वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए

---

[1] वर्ग-चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति-चेतना का ही प्रक्षेपण मात्र है।

सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छभाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरुष पाठक के सामने 'खण्डिता' का विरह-निवेदन या नारी पाठक के समक्ष खलनायक की मनुहारों का वर्णन है, तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते हैं और न खलनायक से। हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बों द्वारा व्यक्त कवि-भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएंगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित श्रृंगार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमारसंभव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित श्रृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति—अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण, अभिज्ञ होते हुए भी, सर्वथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाए। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश-विदेश के पण्डितों ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१. साधारणीकरण भाषा या काव्यभाषा का धर्म है, २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्य-मय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं: ज्ञान पहला संस्थान है, भाव

दूसरा । कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष, हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं । एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालों के हृदयों में समान भाव उद्‌बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग । भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति ।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।" ('रीतिकाव्य की भूमिका' से उद्धृत)।

अध्याय ४

(क) भाव का विवेचन
(ख) रस-संख्या

(क) भाव का विवेचन

भाव का भी सर्वप्रथम विवेचन भरत ने ही किया है, नाट्यशास्त्र का सप्तम अध्याय भाव की ही व्याख्या करता है :

भावा इति कस्मात् । किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः ।

(ना० शा० १०४)

—भाव की व्युत्पत्ति किस प्रकार की जाए ? जो होते हैं वे भाव हैं अथवा जो भावित करते हैं वे भाव हैं ।

पहले में व्युत्पत्ति होती है भू धातु से 'होने' के अर्थ में—आशय होता है स्थिति—सत्ता; दूसरे में व्युत्पत्ति होती है भू धातु से ही 'करने' के अर्थ में और आशय होता है व्याप्त करने वाला । भरत ने काव्यशास्त्र के प्रसंग में इस दूसरे अर्थ को ही ग्रहण किया है :

भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम् । लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति । तच्च व्याप्त्यर्थम् ।

—अर्थात् भू धातु का यहाँ करणार्थक प्रयोग हुआ है, भावित का अर्थ है वासित । लोक में भी ऐसा व्यवहार होता है कि अमुक गन्ध या रस से समस्त वातावरण भावित या वासित हो गया । भावन का अर्थ यहाँ है व्याप्ति ।

(ना० शा०, पृ० १०४-१०५)

अपने आशय के स्पष्टीकरण के लिए भरत ने तीन आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये हैं :

विभावैराहृतो योऽर्थो अनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ।।१।।
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।२।।
नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।३।।

इनके अनुसार भाव के तीन विभिन्न अर्थ सामने आते हैं :

(१) भाव वह अर्थ है जो विभावों के द्वारा निष्पन्न होता है (अस्तित्व या स्थिति प्राप्त करता है) और वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय रूप अनुभावों के द्वारा गम्य अर्थात् प्रतीतियोग्य बनता है । यहाँ भाव से अभिप्राय है 'काव्यार्थ' ।

(२) भाव वह है जो चतुर्विध अभिनय के द्वारा कवि के हृद्गत भाव को भावित करता है—अर्थात् सहृदय-समाज के चित्त में व्याप्त करता है । भाव का अर्थ यहाँ है 'कवि के भाव को सहृदय के चित्त में व्याप्त करने वाला तत्त्व' ।

(३) चूंकि ये नानाविध अभिनयों से सम्बद्ध रसों—काव्यार्थों को भावित अर्थात् सहृदय-समाज के चित्त में व्याप्त करते हैं, अतः नाट्यकर्ता इन्हें भाव संज्ञा से अभिहित

करते हैं। यहाँ भावों से आशय है उन तत्त्वों का जो काव्यार्थ को सहृदय के चित्त में व्याप्त करते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या का सार यह है : नाट्यशास्त्र में 'भाव' की सत्ता वस्तुगत ही मानी गयी है। वह या तो (१) 'काव्यार्थ' का वाचक है अर्थात् उस अर्थ का वाचक है जो सहृदय की चेतना में काव्यवस्तु एवं नाट्यकौशल द्वारा व्याप्त होता है, या उस तत्त्व अथवा उन तत्त्वों का वाचक है जो नाट्य-उपकरणों के माध्यम से कविगत अनुभव को सहृदय की चेतना में व्याप्त कर देते हैं अर्थात् (२) रस की सामग्री—विभाव, अनुभाव और स्थायी—का वाचक है या फिर उन तत्त्वों का वाचक है जिनके द्वारा चतुर्विध अभिनय द्वारा व्यक्त काव्यार्थ सहृदय की चेतना में व्याप्त हो जाते हैं—यहाँ भी (३) विभावादि सामग्री ही अभिप्रेत है। आधुनिक शब्दावली में प्राचीन आचार्यों के मतानुसार 'भाव' या तो काव्य अथवा नाट्य के 'संवेद्य तत्त्व' का वाचक है या 'संवेदक तत्त्वों' का—'मनोवेग' (मानसिक-शारीरिक अनुभूति) या 'चेतना की मात्रा' का द्योतक नहीं है। भाव का एक अर्थ अनुभूति-परक भी है, जसे कि 'कवेरन्तर्गतं भावम्' में, यद्यपि वहाँ भी वह शुद्ध मानसिक अनुभूति रूप नहीं है—कल्पनात्मक अनुभूति रूप ही है; फिर भी वहाँ उसकी सत्ता वस्तुपरक न होकर अनुभूतिपरक है, इसमें सन्देह नहीं।

भरत के भाव-विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने व्यापक रूप से तीसरा अर्थ ही ग्रहण किया है : जो रस का भावन करें वे भाव हैं—अर्थात् भाव से उनका अभिप्राय रस-व्यंजक सामग्री का ही है जिसके अन्तर्गत स्थायी, संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आ जाते हैं। किन्तु आगे चलकर उन्होंने विभाव और अनुभाव को पृथक् कर दिया है और भावों की संख्या उनचास मानी है : आठ स्थायी भाव, तैंतीस संचारी भाव और आठ सात्त्विक भाव—**एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः** (पृ० १०६)। यहाँ आकर भाव की अर्थ-व्याप्ति मनोवेगों या मानसिक-शारीरिक अनुभूतियों के काव्यगत रूपों तक ही रह जाती है, उनके कारण और कार्य भावों की परिधि से बाहर छूट जाते हैं। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसी मत का अनुसरण किया है; भरत से ही प्रेरणा लेकर केवल एक रूप का विकास और हो गया है—अनुपचित स्थायी या उपचित संचारी भाव के अर्थ में।

इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में भाव का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है : (१) व्यापक रूप से सम्पूर्ण रसव्यंजक सामग्री के अर्थ में जिसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी सभी अन्तर्भूत हैं, (२) काव्यगत स्थायी, संचारी और सात्त्विक भावों अर्थात् मानसिक-शारीरिक अनुभूतियों के अर्थ में, (३) अनुपचित स्थायी या उपचित संचारी भाव के अर्थ में। इनके अतिरिक्त दो प्रयोग और भी मिलते हैं—(४) सामान्य मनोवेग के अर्थ में और (५) कवि की सर्जक अनुभूति (कवेरन्तर्गतं भावम्) के अर्थ में; किन्तु इन अन्तिम दो में से पहला अपारिभाषिक लौकिक प्रयोग है और दूसरा अत्यन्त सीमित। उपर्युक्त पाँच अर्थों में से अन्ततः दूसरा अर्थ ही व्यापक रूप से प्रचलित हुआ है—और उसमें भी सात्त्विक भावों को अनुभावों में अन्तर्भक्त कर दिया गया—

पृथग् भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः (दशरूपक पृ० १२४,४.४)।

इस प्रकार भाव का प्रयोग सामान्यतः स्थायी तथा संचारी के लिए ही होता रहा और आज भी हो रहा है : ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः (दशरूपकावलोक, धनिक, पृ० १२४)।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रसंग में भाव का अर्थ है काव्यगत मनोविकार—ये लौकिक मनोविकारों से निश्चय ही भिन्न होते हैं, किन्तु फिर भी इनका आधार लौकिक मनोविकार ही हैं। इसलिए काव्यशास्त्रीय अथवा काव्यगत भाव की व्याख्या लौकिक भावों के आधार पर ही की जा सकती है।

लौकिक भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन

व्युत्पत्ति के आधार पर भाव का सामान्यतः यह लक्षण किया जा सकता है : जो चेतना को व्याप्त करें वे भाव हैं। भाव को मनोविकार या मनोवेग भी कहा गया है। इस अर्थ का भी समावेश कर लेने पर लक्षण यह हो सकता है : बाह्य जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न मन के विकार जो चेतना को व्याप्त कर लेते हैं, भाव कहलाते हैं—"बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।"

पाश्चात्य मनोविज्ञान में भाव के विषय में बड़ा विवाद है और आज ऐसे भी अनेक मनोवैज्ञानिक हैं जो भाव की स्वतन्त्र सत्ता मानने से इन्कार करते हैं। "जब प्रत्येक पदार्थ के लिए वैज्ञानिक शब्दावली विद्यमान है तो विज्ञान में 'भाव' जैसे अनावश्यक शब्द का समावेश करने से क्या लाभ ? मेरी भविष्यवाणी है : वैज्ञानिक मनःशास्त्र से आज 'इच्छा-शक्ति' का प्रायः बहिष्कार हो चुका है, 'भाव' के साथ भी यही होना है। सन् १९५० में अमरीकी मनोविज्ञानी अतीत की विचित्रताएँ कहकर इन दोनों पर मुस्कराएँगे।" (एम० एफ़० मेयर, साइकोलोजिकल रिव्यू, १९३३, पृ० ३००)। फिर भी विशेषज्ञों की प्रयोगशाला में चाहे कुछ भी हो, सामान्य जीवन में भाव के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता और मनोविज्ञान जगत् में भी कुछ अतिव्यवहारवादी वैज्ञानिकों को छोड़ अधिकांश ने उसे निश्चय ही स्वीकार किया है। हाँ, 'भाव' के स्वरूप के विषय में अब भी तीव्र मतभेद है—कतिपय विद्वान् उसे केवल अनुभाव या सहचारी मनःस्थिति या अनुभव की विधि मात्र मानते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो उसे केवल 'वेग' या 'ऊर्जा' रूप मानते हैं, कुछ का मत है कि भाव संवेदनों की संहति मात्र है जबकि अन्य वैज्ञानिक केवल विसंहति के रूप में उसकी व्याख्या करते हैं। (देखिए 'इमोशन'—ले० जेम्स हिलमैन)। किन्तु अनेक मनोविज्ञानी ऐसे भी हैं जो भाव के विशिष्ट रूप और उसके भेद-प्रभेदों को भी स्वीकार करते हैं; शैण्ड, सॉल, स्टाउट, अंशतः मैक्डूगल भी—और इधर जॉर्गेन्सन, विलियम्स, वर्ट आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन वैज्ञानिकों का मन्तव्य सारतः इस प्रकार है—भाव चेतना की व्यवहारशील मात्राएँ हैं— ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके निश्चित आधार और लक्ष्य होते हैं, जिनमें कर्तृत्व की क्षमता होती है। × × × यदि हम उन्हें 'धर्म' रूप मानें तो यह कहा जा सकता है कि वे अन्योन्याश्रित हैं, परन्तु व्यवहार में सभी स्वायत्त हैं। यदि 'तत्त्व' रूप मानें तो यह मानना होगा कि वे स्वतन्त्र एवं स्वतःस्फूर्त हैं और कुछ-एक आधारभूत मात्राओं में उनको परि-

गणित किया जा सकता है। यदि प्रत्यय रूप में उन्हें देखा जाय तो वे 'यथार्थ' की पृष्ठ-भूमिका के रूप में हमारे सामने आते हैं जिनके द्वारा प्रायोगिक विधि से प्राप्त तथ्यों को परखा जा सकता है। सारांश यह है कि प्रत्येक भाव का एक विशिष्ट गुणात्मक आधार होता है जो अनन्य एवं अखण्ड होता है। उनकी एक-दूसरे से भिन्न, विशिष्ट एवं वास्तविक सत्ता है—किन्तु वे पदार्थ रूप नहीं हैं।[१]

भाव की स्वतन्त्र सत्ता मान लेने पर भी, उसका लक्षण करना सरल नहीं है। जेम्स ड्रेवर ने भाव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है : "भाव का वर्णन और विवेचन विभिन्न मनोविज्ञानियों ने विभिन्न रीतियों से किया है। किन्तु इस बात में सभी सहमत हैं कि वह **जैविक विधान** की एक संकर अवस्था है जिसमें शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि श्वास-क्रिया में, नाड़ी में, ग्रन्थियों की रसन-क्रिया में; मानसिक दृष्टि से वह उत्तेजना या उद्वेग की स्थिति है जिसमें प्रबल अनुभूति और सामान्यतः एक निश्चित प्रकार के व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति रहती है। यदि भाव तीव्र होता है तो बुद्धि की क्रियाएँ भी थोड़ी बहुत अस्तव्यस्त हो जाती हैं—कुछ सीमा तक सम्बन्ध-क्रम टूट जाता है और एक क्रमहीन या अस्पष्ट व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसके आगे कुछ और कहने का अर्थ होगा विवाद के क्षेत्र में प्रवेश करना।"[२] यह भाव के स्वरूप का आधुनिक विवेचन है। पूर्ववर्ती लक्षणों में भी अनिश्चय का स्वर विद्यमान है, किन्तु फिर भी वे अधिक स्पष्ट हैं—हो सकता है, इतने वैज्ञानिक न हों। एक सामान्य लक्षण इस प्रकार है : ("स्थूलतः यह कहा जा सकता है कि) विशेष वाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र प्रत्ययों द्वारा उद्बुद्ध मनोदशा ही भाव है, जिसके दो प्रधान गुण हैं, अनुभूति और प्रयत्न।"[3] और स्पष्ट शब्दों में, डा० मैक्डूगल के आधार पर, यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओं में ओज का संचरण होने लगता है। ओज-संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक् नाम दे सकते हैं। यहाँ 'स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना में निहित विशिष्टता' दोनों भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं, और 'स्नायु एवं पेशियों में ओज का संचरण' उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य हैं—

(१) भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी, क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

(२) भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

(३) इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

---

१ इमोशन—ले० जेम्स हिलमैन, पृ० ४२-४३

२ ए डिक्शनरी ऑफ़ साइकोलॉजी (१९६०)—ड्रेवर, पृ० ८०

3 मैलोन एण्ड ड्रमंड—एलीमेंटस ऑफ़ साइकोलॉजी, पष्ठ संस्करण, पृ० २१९

(४) भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन-स्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

(५) किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पाएगी, उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।

मनोविज्ञान के पण्डितों में भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्यक्रम को लेकर बहुत कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है। स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय में यह क्रम नहीं माना जा सकता। उनके मत में प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य है। आधुनिक युग में भाव की प्रकल्पना के अन्तर्गत स्नायविक तत्त्वों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। किन्तु, हम इस विवाद में न पड़कर यही कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में स्टाउट आदि का मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का मनोवैज्ञानिक आधार

संस्कृत काव्यशास्त्र में लौकिक भाव का वर्णन स्वभावतः ही नहीं हुआ। वहाँ तो काव्यगत भाव अर्थात् रसव्यंजक स्थायी-संचारी भाव का ही वर्णन-विवेचन हुआ है : किन्तु यह काव्यगत भाव या रसव्यंजक भाव निश्चय ही चित्तवृत्तिरूप है :

भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। अभिनवभारती, पृ० ३४३

अतः चितवृत्ति के आधार पर—मनोविज्ञान के अनुसार, स्थायी और संचारी का विवेचन किया जा सकता है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक स्थायी और संचारी का विवेचन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है—यहाँ प्रत्येक आचार्य के मत का पृथक् उल्लेख करने की अपेक्षा सभी के विवेचन का सार प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा क्योंकि सभी के मत प्रायः समान ही हैं :

स्थायी भाव वासना रूप से प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहता है। कारण के अनुपस्थित रहने पर भी उसकी सत्ता रहती है, जैसा कि पतंजलि ने लिखा है : चैत्र किसी एक स्त्री के प्रति अनुरक्त है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त है। (अर्थात् उनमें अव्यक्त रूप से राग हो सकता है।)[१] इसके विपरीत संचारी भाव कारण के अभाव में निश्शेष हो जाते हैं। अतः स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है और संचारी अस्थिर।

जीवन की मूल वृत्तियों से सम्बद्ध होने के कारण स्थायिभावों का सम्बन्ध पुरुषार्थचतुष्टय के साथ सहज ही स्थापित हो जाता है, अतः संचारियों की अपेक्षा स्थायिभावों का जीवन के पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के साथ अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।[२] अर्थात् जीवन में स्थायिभावों का महत्त्व संचारी भावों की अपेक्षा अधिक है। स्थायी भाव अधिक

---

१ हिन्दी अभिनवभारती; पृ० ४८०

२ पुनर्योनियोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा व्यक्तामेवोपदेश्यत्वात्। वही; पृ० ६४०

प्रबल होता है—अविरुद्ध और विरुद्ध भाव उसका नाश नहीं कर सकते। परन्तु संचारी क्षण-क्षण आविर्भूत-तिरोभूत होकर स्थायी भाव का पोषण करते रहते हैं।

केवल स्थायी ही रस दशा को प्राप्त करते हैं, संचारी नहीं क्योंकि प्रत्येक सहृदय के चित्त में वासना रूप से विद्यमान रहने के कारण स्थायी का ही साधारणीकरण सम्भव होता है। इस प्रकार स्थायी भाव में संचारी की अपेक्षा 'रंजनाधिक्य' (रंजन करने की अधिक क्षमता होती) है।

मनोविज्ञान में भावों का वर्ग-विभाजन निश्चय ही इस रूप में सम्भव नहीं है। आधुनिक प्रवृत्ति तो वर्गीकरण के ही विरुद्ध है, फिर भी कतिपय अधिकारी मनोवैज्ञानिकों ने स्थूलतः इस दिशा में प्रयास किया है। भावों के सामान्य रूप से तीन भेद किये गये हैं :

(१) मौलिक मनोविकार (प्राइमरी इमोशन) जो स्वतन्त्र, अमिश्र और अखण्ड होता है, जैसे—भय।

(२) व्युत्पन्न मनोविकार (डिराइव्ड इमोशन) जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है, जैसे—आशंका।

(३) मनोवृत्ति (सैन्टिमेंट) जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे—क्लैव्य।

अब आप देखें कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए, निर्वेद या शम एक शुद्ध मनोविकार नहीं है। एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है। अद्भुत रस का स्थायी 'विस्मय' भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि इनमें से सभी व्युत्पन्न नहीं हैं। भय, क्रोध आदि स्पष्टतः ही मौलिक हैं। अब रह जाती है मनोवृत्ति; तो स्थूलतः स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत कुछ समरूप होता हुआ भी अन्ततः उससे भिन्न है।

समता—(१) मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

(२) मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है, जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता—परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है—

(१) मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, मनोवृत्ति स्वयं का नहीं। उदहारण के लिए देशभक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता, उसके आश्रित या संचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है; परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः आस्वाद्य है। क्लैव्य मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है।

(२) मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से वन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विपय में यह सत्य नहीं है; चिन्ता की आवृत्ति करते रहिए, पर वह शोक नहीं वन पाएगी।

(३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थायीभाव (शम को छोड़कर) विचार-मूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप में तो साहित्य-शास्त्र के स्थायि भाव का स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषाओं में पूरी तरह नहीं घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ में शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्गमन की विधि से स्थायी-संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु वाद में आचार्यों ने योग, मीमांसा आदि के वल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को वचाकर इन्हीं की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष वनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापनाएँ आज इस रूप में सामने रखी जा सकती हैं।

१. मानव-हृदय में उठने वाली तरंगों के योग से जो विभिन्न मनोविकार वनते हैं उनकी संख्या वयालीस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के हैं। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली एवं पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य हैं, अतएव इनको विशेप महत्त्व दिया गया है और पारिभाषिक शव्दावली में स्थायी की संज्ञा दे दी गयी है।

२. इस प्रकार के अर्थात् रस में परिणत होने योग्य भाव सामान्यतः नौ ही हैं। अन्य भाव या तो इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं, जैसे दानशीलता, धर्म-प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते हैं (आधुनिक युग की देशभक्ति, राष्ट्र-भावना आदि भी उत्साह के अन्तर्गत ही आ जाती हैं); या फिर रस-दशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण वे स्थायी पद के अधिकारी नहीं वन पाते—उदाहरण के लिए (शास्त्र के अनुसार) वात्सल्य या देवादि-विपयक रति 'भाव' ही हैं, 'स्थायी भाव' नहीं हैं।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—

१. क्या स्थायी और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है?

२. क्या स्थायिभावों की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तैंतीस ही?

पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन में ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ तो दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक (शुद्ध) और व्युत्पन्न मनोविकार का, दूसरा मनोविकार और मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नहीं करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है, जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नहीं करता। परन्तु फिर भी, जीवन में इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही और रहेगा भी। विज्ञान इस पचड़े में नहीं पड़ता क्योंकि यह सव उसकी परिधि से वाहर है, परन्तु जव जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है तो इसका निपेध कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार भावक्षेत्र में भी एक भाव

दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अथवा तीव्र एवं स्थायी है अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करता, परन्तु साहित्य के लिए जिसका सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है, इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा अस्वाभाविक नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य-विधान किया है। वह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिन्ता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा, इसी प्रकार चिन्ता की अपेक्षा शोक में स्थायित्व भी स्पष्टतः अधिक है—शोक में चिन्ता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिन्ता में शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिन्ता की अपेक्षा शोक वास्तव में अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावों के विषय में भी कहा जा सकता है।

यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान में इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, फिर भी इसे हम मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तव में जीवन के उन नैसर्गिक, तीव्र और व्यापक मनोविकारों की है जो मानव-स्वभाव के आधारभूत अंग हैं, जिन्हें साधारणतः मूल मनोवेग (ऐलिमेंटल पैशन्स) कहा गया है। इन मनोवेगों का सीधा सम्बन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण—राग-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहंकार, जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अहं (ईगो) के रूप में निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियाँ हैं राग और द्वेष—जो मानव-जीवन के दो मौलिक अनुभवों—सुख और दुःख के शास्त्रीय पर्याय मात्र हैं—'सुखात् रागः, दुःखात् द्वेषः' आधुनिक मनोविश्लेपण-शास्त्र में इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति (इरोस) और नाश करने की प्रवृत्ति (थैनेटोस) कहा गया है। और गहरे में जाएँ तो फ़ायड का 'काम' मूलतः राग ही है, और ऐडलर का 'हीनभाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत हैं—एक फ़ायड का, जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है; दूसरा ऐडलर का, जो हीन-भाव या क्षति-पूर्ति को लेकर चलता है; और तीसरा युंग का, जो इन दोनों को जीवनेच्छा (या स्वत्व-रक्षा)—हमारे शब्दों में 'अस्मिता' की शाखाएँ मानता हुआ, उसी को मूल मानता है। आज यही तीसरा सिद्धान्त सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष भय, क्रोध तथा घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत् का विस्तार होता है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढंग से प्रदर्शित किया है, संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावों का इन्हीं मूल भावों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं और शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत। शम में इन दोनों का सामंजस्य हो जाता है; उसमें अस्मिता की समरसता की

अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति हैं, दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। शम में दोनों का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विभाजन निर्दोष नहीं है—तत्त्वतः तो कोई भी प्रवृत्ति न शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव में जैसा कि मनोविश्लेषक कहता है, राग और द्वेष (इरोस और थैनेटोस) के संघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन (साइकिक लाइफ़) संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के 'युयुत्सा' रूप में आपको द्वेष का अंश मिले या शोक में राग का, तो चौंकना नहीं चाहिए, यों तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नहीं है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान में भावों का वर्णन

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भावों का वर्णन बहुत कम हुआ है। प्राचीन आचार्यों में केवल अरस्तू ने इस दिशा में थोड़ा-बहुत कार्य किया है। अपने 'काव्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में त्रासदी के तत्त्वों का वर्णन करते हुए 'विचार' के प्रसंग में उन्होंने लिखा है : 'जहाँ तक विचार का प्रश्न है, हम उन्हीं स्थापनाओं को स्वीकार कर सकते हैं जिसे मैं भाषणशास्त्र[१] में प्रस्तुत कर चुका हूँ' (पृ० ३८) और 'भाषणशास्त्र' के भाग २ के अन्तर्गत परिच्छेद २ से ११ तक उन्होंने वक्तृत्व-कला के संदर्भ में 'अनेक मनोवेगों'[२] का क्रम से सूक्ष्म वर्णन किया है। ये मनोवेग हैं—क्रमशः क्रोध और शान्ति (क्रोध-शांति); प्रेयस् (मित्र-स्नेह) और वैर (घृणा); भय और विश्वास; लज्जा, (और निर्लज्जता); अनुग्रह (कृपा और अकृपा); करुणा और मन्यु (अन्याय आदि से उत्पन्न अमर्ष) असूया और स्पर्धा। इस क्रम का आधार एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक है क्योंकि इसमें विपरीत भाव-युग्मों का साथ-साथ वर्णन हुआ है—क्रोध का विपरीत भाव है शान्ति, स्नेह का है वैर, भय का विश्वास और करुणा का मन्यु। इन भावों का वर्णन, जैसा कि मैंने अभी संकेत किया है, वक्तृत्व-कला के संदर्भ में किया गया है जो कि अरस्तू के समय में यूनान में व्यक्ति का सर्वप्रमुख सामाजिक अलंकार थी। अतः स्वभावतः ये सभी भाव सामाजिक भाव हैं वैयक्तिक नहीं हैं, उदाहरण के लिए व्यक्तिगत 'रति' को छोड़ अरस्तू 'प्रेयस् (मित्र-स्नेह)' का ही वर्णन करते हैं, 'क्रोध' के बाद फिर सामाजिक भावना के कारण 'मन्यु' का पृथक् रूप से उल्लेख करते हैं, 'असूया' के अतिरिक्त 'स्पर्धा' का पृथक् वर्णन करते हैं, व्यक्तिगत 'शोक' के स्थान पर सामाजिक भावों 'लज्जा' और 'करुणा' को प्राथमिकता देते हैं। फिर भी, इनमें से क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), प्रेयस् (प्रेम), करुणा (शोक) भारतीय रसशास्त्र के भावों के अत्यन्त समान ही हैं, 'शान्ति' का वृत्त यद्यपि क्रोध तक सीमित हो जाने से संकीर्ण हो गया है, फिर भी 'शम' के बीज उसमें विद्यमान हैं, इसी प्रकार 'अनुग्रह' और 'स्पर्धा' में उत्साह के बीज स्पष्ट हैं। केवल 'विस्मय' और 'हास' का उल्लेख नहीं हुआ—कदाचित् इसलिए कि अरस्तू का ध्यान ऐसे सामाजिक भावों पर केन्द्रित है जो व्यक्तित्व का उत्कर्ष करते हैं, वैसे उपर्युक्त भावों के विवेचन के अन्तर्गत 'हास' और 'विस्मय' की भी प्रसंगतः चर्चा आ गयी है। किन्तु स्वतन्त्र विवेचन कारणवश नहीं किया गया है।

---

१ र्‌हेटरिक

२ ऑफ़ दी सैवरल पैशन्स इन ऑर्डर

अरस्तू-कृत मनोवेगों का विवेचन भी व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है और उसमें प्रायः अनुगम विधि का अवलम्बन किया गया है। सबसे पहले मनोवेगों की परिभाषा इस प्रकार की गयी है: 'मनोवेगों से अभिप्राय ऐसे भावों का है जिनसे मनुष्य के निर्णय पर प्रभाव पड़ता है और जिनकी अनुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक होती है। ये मनोवेग हैं—क्रोध, करुणा, भय आदि और उनके विपरीत भाव।'[1] प्रत्येक मनोवेग का वर्णन करने के लिए तीन बातों का ज्ञान आवश्यक है: १. उस मनोवेग-विशेष के अनुभव के समय अनुभवकर्ता के मन की स्थिति, २. उसका उद्रेक किन व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों के प्रति होता है? ३. किन कारणों से इस प्रकार का भावाद्रेक होता है?[2] इनमें से १ का सम्बन्ध मनोवेग के स्वरूप से है और २ और ३ का आलम्बन तथा उद्दीपन अर्थात् विभाव से। आगे चलकर जहाँ इन मनोवेगों का प्रत्यक्ष वर्णन है वहाँ प्रायः आश्रय का और कहीं-कहीं अनुभावों का विवरण भी मिल जाता है।[3] इस प्रसंग में भारतीय आचार्यों तथा अरस्तू द्वारा प्रस्तुत कतिपय प्रमुख मनोवेगों के विवरण तुलनात्मक दृष्टि से रोचक हो सकते हैं:

क्रोध

१. भरत—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्यों के आश्रित, युद्धजन्य क्रोधरूप स्थायि-भावात्मक रौद्र रस होता है।

अभिनव—(रौद्ररस के लक्षण में) आत्मपद के ग्रहण का यह आशय है कि अन्याय-कारिता प्रधान रूप से क्रोध का विषय होती है। और उस प्रकार के (अन्यायकारी) पुरुष के विषय में सब लोग उग्र भावना रखते हैं...।

भरत—और वह क्रोध आधर्षण (स्त्रियों आदि का तिरस्कार), अधिक्षेप (देश, जाति, कुल आदि की निन्दा), अनृत भाषण, उपघात (भृत्य आदि का पीड़न), वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होता है।

भरत—और इस (रौद्र रस) के व्यभिचारी भाव असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, खेद, कम्पन, रोमांच और गद्गद स्वर आदि होते हैं।

(हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५८२-८६)

२. अरस्तू—अपने या अपने मित्रों के प्रति अन्यायपूर्ण घोर अपमान का प्रतिशोध करने की आवेगमयी प्रवृत्ति का नाम क्रोध है जिसमें दुःख का मिश्रण रहता है।

क्रोध के समय मनःस्थिति क्लेशमयी होती है। उस मनःस्थिति में मनुष्य निरन्तर कुछ न कुछ लक्ष्य बाँधता रहता है।

क्रोध के आलम्बन वे व्यक्ति होते हैं जो हमारा उपहास या अपमान करते हैं ××। ऐसे व्यक्ति भी जो दर्प के कारण हमारा अहित करते हैं—और वे भी जो उन विषयों के सन्दर्भ में हमारी निन्दा या अवमानना करते हैं जिनके प्रति हमारे मन में बड़ा आग्रह है ×××। (र्हैटरिक—बेसिक वर्क्स ऑफ़ अरिस्टोटिल, पृ० १३८०, १३८२)

---

[1] र्हेटरिक—बेसिक वर्क्स ऑफ़ अरिस्टोटिल (रिचर्ड मैकेओन), पृ० १३८०

[2] वही, पृ० १३८०

[3] देखिए: वही, पृ० १३८०-१४०३

उपर्युक्त लक्षणों का भेदाभेद स्पष्ट है। भरत द्वारा निरूपित क्रोध मुख्यत: अभिनयात्मक है जबकि अरस्तू का निरूपण मुख्यत: मनोवैज्ञानिक है—उसमें मन:स्थितियों का प्राधान्य है। किन्तु दोनों के मूल रूप में अधिक भेद नहीं है। दोनों ही एक स्वर से कहते हैं कि क्रोध में क्लेश, आवेग, उग्रता, अतिशय जागर्ति (असम्मोह—निरन्तर लक्ष्य बाँधने की प्रवृत्ति) आदि की भावनाएँ रहती हैं। क्रोध के कारण (विभाव) के प्रसंग में अपमान, अहित, अन्याय, अधिक्षेप (अर्थात् देश, जाति, कुल आदि ऐसे विषयों की निन्दा जिनके प्रति मन में आग्रह है) मात्सर्य आदि की चर्चा दोनों में समान है।

भय

१. विश्वनाथ—रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्
अर्थात् रौद्र व्यक्ति, पशु आदि की शक्ति से उत्पन्न चित्त के वैक्लव्य का नाम भय है। (सा० द० ३.१७८)

२. अरस्तू—किसी भावी अनिष्ट—ध्वंसक या दु:खद—की तात्कालिक आशंका से उत्पन्न क्लेश या उद्वेग का नाम भय है। (र्‌हैटरिक, पृ० १३८६)

भरत ने भय का विवरण इस प्रकार दिया है: वह (भय) विकृत शब्द से (अट्ट-हासादि से), पिशाच आदि के देखने से, शृगाल, उलूक आदि से, दूसरों के भय और उद्वेग से, शून्य आगार, अरण्य आदि में जाने से, स्वजनों के वध-बंधनादि के देखने, सुनने या चर्चा आदि कारणों से उत्पन्न होता है।

× × ×

"स्तम्भ, स्वेद, गद्‌गद, रोमांच, कम्पन, स्वरभंग, मुख का रंग उड़ जाना, शंका, मोह, दीनता, आवेग, चपलता, त्रास, मिरगी, मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।"

(हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५९७ स्वतन्त्र अनुवाद)

भय स्त्रियों तथा नीच प्रकृति के व्यक्तियों में पाया जाता है। यह गुरु और राजा के प्रति अपराध, हिंस्र पशु, शून्य आगार, अटवी, पर्वत कन्दरादि, गज और सर्प के दर्शन, भर्त्सना, वन, दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन), रात्रि, अंधकार, उलूक, पिशाच आदि का शब्द सुनने तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उत्पन्न होता है। हाथ-पैर के कम्पन, हृदय-कम्पन, स्तम्भ, मुख-शोष, जीभ चाटना, स्वेद, शरीर-कम्प, त्रास, परित्राण-अन्वेषण, भागना, चीत्कार आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

(नाट्यशास्त्र, का० मा०, पृ० ११०)

यह विवरण अरस्तू के भय-विषयक विवरण से भिन्न है—वस्तुत: अरस्तू का दृष्टि-कोण यहाँ भी सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक ही रहा है, और भरत का लक्ष्य है अभिनय। किन्तु भरत का भय-वर्णन मनोविज्ञान के आधुनिक ग्रन्थों के निरूपण से बहुत कुछ मिल जाता है। तुलना के लिए फ़्लैचर का भय-वर्णन देखिए—[1]

---

[1] इन्स्टिंक्ट इन मैन—दि कन्टैम्पोरेरी थियरी ऑफ़ इन्स्टिंक्ट्स, पृ० ३१०

शरीरवैज्ञानिक आधार	मूल भाव	मानसिक अनुभव	मानसिक प्रवृत्ति	उद्दीपक कारण (चिह्न)	परिणामी शारीरिक प्रवृत्ति
श्वास-वेग में वृद्धि, स्वेद; पाचन क्रिया की मन्दता; अधिवृक्क ग्रन्थियों की सक्रियता; बृहत्तर पेशियों में रक्त का अधिक प्रवाह।	भय	स्तम्भ; उद्वेग; निरन्तर मानसिक तनाव (स्थिति के उग्र न होने पर); (स्थिति के उग्र एवं भीषण हो जाने पर) घोर त्रास; स्थिति का सामना करने के लिए उत्कट प्रयत्न; अत्यन्त श्रम तथा अवधान।	एकान्त में अंधकार से पलायन; अपरिचित तथा एकान्त स्थानों से बचना; परिचित स्थानों और व्यक्तियों की खोज; परस्पर सहायता आदि की स्पृहा।	अंधकार; अंधकार में होने वाले शब्द, गति आदि, विशेषत: अपरिचित एवं अप्रत्याशित शब्द और गति आदि। सहसा घटने वाली या चौंकानेवाली घटना—अपरिचित अनाख्येय घटनाएँ।	जड़ता, श्वासरोध, प्रतीक्षा का भाव; नितान्त कण्ठरोध; क्रिया में सावधानता; साहसिकता के साथ शब्द या कार्य करना; त्रासपूर्वक पलायन, शायद चीत्कार भी; स्थिति से जूझना; प्राणपण से आयास करना या पूर्ण पराजय की स्थिति में हाथों या बाहों से मुँह और आँखों को ढाँपना, आदि।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भरत का वर्णन कितना मनोवैज्ञानिक है। विभाव के अन्तर्गत शून्य स्थान, अंधकार, विकृत शब्द, अपरिचित आकृतियों आदि का और उधर व्यभिचारी भावों तथा अनुभावों के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, गद्‌गद, स्वरभंग, हृदय-कम्प, शरीर-कम्प, परित्राण-अन्वेषण, त्रासपूर्वक पलायन, जड़ता, त्रास आवेग (उद्वेग), चपलता आदि का, दोनों ने साग्रह उल्लेख किया है।

भावों की संख्या

अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। यह मान लेने पर कि स्थायी भावों की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों की स्थिति से अभिन्न है और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार

भी है ही जो अमनोवैज्ञानिक नहीं है, एक और प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही हैं अर्थात् क्या मनोभावों की संख्या नौ ही है, कम-अधिक नहीं ? यह प्रश्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अनेक बार उठा है। स्थायी भावों को बढ़ाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है—उन सभी को केवल एक मूल स्थायी भाव में अन्तर्भूत करने की चेष्टा की गयी है, परन्तु अन्त में परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावों की संख्या स्थूलतः नौ ही है और नौ ही होनी चाहिए।

भरत ने मूलतः आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने हैं; उनमें भी रति, उत्साह, क्रोध और जुगुप्सा को प्रधान एवं मौलिक माना है और हास, शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न। भरत के अनुसार रति से हास, उत्साह से विस्मय, क्रोध से शोक और जुगुप्सा से भय की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह मत आगे चलकर अग्राह्य हो गया। बाद में शम[1] की वृद्धि हुई और स्थायी भावों की प्रामाणिक संख्या नौ स्थिर हो गयी। फिर भी शोधन-क्रम चलता रहा और अनेक नवीन स्थायी भावों की उद्भावना हुई : रुद्रट ने स्नेह[2] की, भोज ने मति[3] (उदात्त रस का स्थायी) और गर्व (उद्धत रस का स्थायी) और हर्ष (आनन्द रस का स्थायी) की, विश्वनाथ ने वत्सल भाव[4] (वात्सल्य रस का स्थायी) की, भानुदत्त ने मिथ्याज्ञान[5] (माया रस का स्थायी) और स्पृहा[6] (कार्पण्य रस का स्थायी) की तथा रूपगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति या भगवद्रति स्थायी की उद्भावना की। इनके अतिरिक्त और भी अनेक स्थायी भावों का उल्लेख संस्कृत काव्यशास्त्र में मिलता है—उदाहरण के लिए, अभिनवगुप्त ने किसी पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत गर्ध अर्थात् अयुक्तविषया तृष्णा (लौल्य रस का स्थायी भाव) का उल्लेख किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने आसक्ति (व्यसन रस), अरति (दुःख रस), सन्तोष (सुख रस) का, डा० राघवन ने जैनों के अनुयोगद्वारसूत्र में उल्लिखित व्रीडा (व्रीडनक रस का स्थायी) का संकेत किया है[7]—आदि, आदि। वास्तव में संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में प्रारम्भ से ही स्थायी भावों की संख्या के विषय में मतभेद चला आ रहा था। अभिनव के संकेतों से स्पष्ट है कि लोल्लट आदि कुछ विद्वान् स्थायिभावों की इयत्ता—कम से कम नौ की सीमा—के कायल नहीं थे—

---

१ शम के विषय में मतभेद है—कुछ विद्वानों का मत है कि कदाचित् उद्भट ने शान्त रस और शम स्थायी भाव की उद्भावना की थी क्योंकि सर्वप्रथम नवरस का प्रामाणिक उल्लेख उनके ग्रन्थ में ही मिलता है : नव नाट्ये रसाः स्मृताः (काव्यालंकारसारसंग्रह, वर्ग ४.४) देखिए शंकरन की 'थिअरीज़ ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि, पृष्ठ ३२। उधर अभिनवगुप्त का दृढ़ मत है कि भरत ने ही शान्त को भी यथावत् स्वीकार किया है। किन्तु सब मिलाकर यही ठीक लगता है कि शम की उद्भावना बाद में हुई।

२ काव्यालंकार १२.३; १५.१७ स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्।

३ सरस्वतीकण्ठाभरण प० ५, पृ० ५९९।

४ **स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्नेह**······। सा० द० ३.२५१

५ **प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना माया रसः।** (रसतरंगिणी, पृ० १६२)।

६ **स्थायी भावोऽत्र संप्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः** (भक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिणविभाग ५.२)।

७ देखिए डा० राघवन की पुस्तक—दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० ११६ और १४१।

तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया एतावतां प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेनापरामृश्य इत्यलम् ।

—अर्थात् लोल्लट आदि ने जो यह कहा है कि [रसों के] अनन्त होने पर भी नटों में प्रसिद्ध होने के कारण [नाटक में] इतनों का [आठ रसों का] ही प्रयोग करना चाहिए सो [उन्होंने] अभिमानवश बिना विचारे कह दिया है; इसलिए उसका खण्डन करने की आवश्यकता नहीं है। (हि० अ० भा०, पृ० ५२६)।

अन्ततः बहुमत भरत के पक्ष में ही रहा और इन तथाकथित उद्भावनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। इस विषय में भी—अन्य प्रसंगों की भाँति अभिनवगुप्त का मत ही प्रायः मान्य रहा जिन्होंने कि स्थायी भावों की इयत्ता निश्चित करते हुए स्पष्ट लिख दिया था :

स्थायी भाव तो इतने ही होते हैं क्योंकि उत्पन्न हुआ प्राणी इतनी ही वासनाओं से युक्त उत्पन्न होता है। जैसे कि—'दुःख के सम्पर्क से द्वेष करने वाला तथा सुखास्वाद में तत्पर होता है' इस नियम से, १. प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर उत्कर्ष को प्राप्त रमण करने की इच्छा से युक्त होता है (इससे रति का स्थायिभावत्व सूचित होता है), २. रमणेच्छा के कारण दूसरे का उपहास करता है (इससे हास का), ३ प्रिय वस्तु के वियोग से दुःखी होता है (इससे शोक का), ४. उस [वियोग] के कारणों के प्रति क्रोध करता है (इससे क्रोध का), ५. शक्ति न होने पर उनसे डरता है (इससे भय का), ६. किसी को प्राप्त करने की इच्छा करता है (इससे उत्साह का), ७. कभी अनुचित वस्तु रूप विषय के प्रति घृणा से भर जाता है, किसी को अनभीष्ट-सा मानता है, (इससे जुगुप्सा का), ८. अपने तथा दूसरों के उस-उस प्रकार के (आश्चर्यजनक) कार्यों को देखकर विस्मित होता है (इससे विस्मय का), और ९. किसी को त्याग करने की भी इच्छा करता है (इससे निर्वेद का स्थायिभावत्व सूचित किया है)।

(हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ४७९)।

अपने मन्तव्य को और भी स्पष्ट करते हुए अभिनव ने आगे चलकर फिर कहा :

आर्द्रता रूप स्थायिभाव से युक्त स्नेह (नामक दशम) रस होता है, यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है। वह सब ही प्रकार का आकर्षण या स्नेह रति या उत्साहादि में ही समा जाता है। गर्ध-रूप स्थायिभाव वाले लौल्य रस के खण्डन में यही पद्धति समझनी चाहिए। इसी प्रकार भक्ति रस के विषय में भी समझना चाहिए (अर्थात् भक्ति रस अलग नहीं है। उसका भी रति में अथवा भाव में अन्तर्भाव हो सकता है। (हिन्दी अभिनवभारती, पृष्ठ ६४१)

कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में सामान्यतः नौ स्थायिभावों की ही मान्यता रही—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इनके अतिरिक्त केवल दो ही भाव ऐसे थे जो स्थायित्व के, कुछ सीमा तक, अधिकारी बन पाये—वत्सल भाव और भगवद्रति, शेष या तो इन्हीं में अन्तर्भूत कर दिये गये या संचारी की कोटि में गृहीत हुए।

मनोविज्ञान में सामान्यतः तो मनोवेगों की संख्या का प्रश्न नहीं उठता; किन्तु सहज वृत्तियों के सम्बन्ध से, जिनके वर्गीकरण का प्रयत्न समय-समय पर किया गया है, मनोवेगों

की गणना भी हुई है। अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने यह माना है कि जीव में स्वभावतः कुछ मूलवृत्तियाँ होती हैं। इनके अनुसार मूलवृत्ति वह प्राकृत शक्ति है जिसके कारण प्राणी किसी विशेष कार्य में अनायास ही प्रवृत्त होता है और इस प्रक्रिया में एक विशेष प्रकार के मनः-संवेग का अनुभव करता है—मैक्डूगल के शब्दों में "मूलवृत्ति वह आनुवंशिक या सहज मानसिक-शारीरिक प्रवृत्ति है जिसकी प्रेरणा से प्राणी किसी विशेष पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है—उसके प्रति ध्यान देता है, उसकी उपस्थिति में एक विशेष प्रकार के मनःसंवेग का अनुभव करता है और एक विशेष रीति से उसके सम्बन्ध में क्रियाशील होता है या कम-से-कम इस प्रकार क्रियाशील होने के लिए आवेग का अनुभव करता है।"[1] मनोविज्ञान के विकास-क्रम में मैक्डूगल की स्थिति प्रायः मध्यवर्ती है, उनके विचार न जेम्स, शैंड आदि की भाँति प्राचीन हैं और न अत्याधुनिक अमरीकी मनोवैज्ञानिकों की भाँति सर्वथा नवीन। अतः उनको आधार मानकर चलना मध्यम मार्ग का अवलम्बन होगा। मैक्डूगल के विचारों में भी परिवर्तन हुआ है और वे अपनी प्रारम्भिक धारणाओं में समय-समय पर संशोधन करते रहे हैं। उन्होंने मूलवृत्तियों और उनके सहवर्ती मनोवेगों का इस प्रकार वर्णन किया है :

मूलवृत्ति	वृत्तिगत भाव या मनःसंवेग
१. भोजनोपार्जन (भोजन अर्जन करने की प्रवृत्ति)	क्षुधा
२. विकर्षण (किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति)	घृणा (जुगुप्सा)
३. काम (प्रेम और यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति)	रति
४. भय (दुःखदायी वस्तु से बचकर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति)	भय
५. जिज्ञासा (नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति)	औत्सुक्य या कुतूहल
६. सामाजिकता (सजातीय व्यक्तियों का साहचर्य-लाभ करने की प्रवृत्ति)	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७. पुत्रैषणा या मातृ-भावना (अपत्य-स्नेह, बच्चों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति)	वात्सल्य
८. आत्म-प्रतिष्ठा (अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने, दूसरे पर रौब जमाने की प्रवृत्ति)	अहंकार
९. प्रणति या अधीनता (अपने से अधिक बलवान् के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति)	दैन्य
१०. युयुत्सा या क्रोध (बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न-भिन्न कर देने की प्रवृत्ति)	क्रोध

[1] सोशल साइकोलॉजी, पृ० २५

११. शरणागति (स्वयं विफल एवं निराश हो जाने पर दूसरों से सहायता माँगने की प्रवृत्ति)	आर्ति या दुःख
१२. निर्माण (आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति)	सर्जनोत्साह
१३. परिग्रह (वांछित वस्तुओं को प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति)	अधिकार-भावना
१४. हास्य (दूसरे के दोषों और विकृतियों पर हँसने की प्रवृत्ति)	हास

पहले मैक्डूगल ने ये १४ ही मूलवृत्तियाँ मानी थीं, बाद में चार और जोड़ दीं :

आराम (कम्फ़र्ट)—ऐसे स्थान की खोज करना, जहाँ शरीर को सुख मिले।

निद्रा —विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति।

भ्रमण —नवीन स्थानों में भ्रमण करने की प्रवृत्ति।

खाँसी, छींक, श्वास-प्रश्वास, मोचन आदि।

परन्तु इनका सम्बन्ध स्पष्टतः शारीरिक क्रियाओं से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मनःस्थिति बहुत स्पष्ट एवं विशिष्ट नहीं होती। निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नहीं हैं। उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तिमूलक मनोविकारों में भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिए, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं हैं। वे स्पष्टतः एक-दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरण के लिए सर्जनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की ही परिधि में आ जाते हैं। दैन्य और आर्ति भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। वास्तव में वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, आर्ति, सहानुभूति (संगेच्छा)। इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायी भावों से प्रायः अभिन्न ही हैं। अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। वात्सल्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, यद्यपि सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात सहानुभूति के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत साहित्यशास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक। क्या आर्ति और सहानुभूति दोनों शोक (करुण) के तत्त्व नहीं माने जा सकते ?

इसमें संदेह नहीं कि आज का मनोविज्ञान मैक्डूगल से बहुत आगे बढ़ गया है और मूलवृत्तियों के वर्गीकरण एवं संख्यान में भी काफ़ी उलट-फेर हो गया है। मैक्डूगल का आधार जहाँ मूलतः जीवविज्ञान था, वहाँ अब अवचेतनशास्त्र और जीवविज्ञान दोनों के आधार पर मूलवृत्ति और मनोवेग आदि का विवेचन किया जाता है। उदाहरण के लिए रोनल्ड फ़्लैचर ने अपने ग्रंथ 'इंस्टिक्ट इन मैन' (१९५७ ई०) में जो तालिका प्रस्तुत की है, उसमें मानसिक वृत्तियों की अपेक्षा शारीरिक वृत्तियों की संख्या ही अधिक है। श्री फ़्लैचर ने पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत मूलवृत्तियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है : शरीरवैज्ञानिक आधार,

मानसिक अनुभव, मानसिक प्रवृत्ति, उद्दीपक कारण (चिह्न) परिणामी (शारीरिक) प्रवृत्ति। इनमें से मानसिक अनुभव प्रायः मनोवेग का पर्याय है, मानसिक प्रवृत्ति आन्तरिक अनुभावों के और शारीरिक प्रवृत्ति वाह्य अनुभावों के निकट है—उद्दीपक कारण विभाव के निकट है। इस तालिका में कुल १० मूलवृत्तियों का उल्लेख है—इन्हें वास्तविक[1] वृत्तियाँ या मूल आवेग कहा गया है; इनके अतिरिक्त तीन सामान्य[2] प्रवृत्तियाँ या अहं-प्रवृत्तियाँ हैं और दो गौण[3] आवेग हैं। पहले वर्ग में अर्थात् दस मूलप्रवृत्तियों में से छह शारीरिक हैं—(१) श्वसन; (२) भोजन; (३) पान; (४) ताप-रक्षण (उपयुक्त तापमान का रक्षण); (५) स्वाप (जागरण); (६) शरीर-सुख की एषणा और (७) उत्सर्जन : केवल तीन मानसिक हैं—(१) भय; (२) सामान्य स्फूर्ति या उत्साह [(क) क्रीड़ा; (ख) कौतूहल; (ग) मृगया]; (२) काम-वृत्ति [(क) कामकेलि; (ख) कामजन्य द्वेष या संघर्ष; (ग) वात्सल्य; (घ) गार्हस्थ्य वृत्ति]। दूसरे वर्ग में अर्थात् अहं-प्रवृत्तियों के तीन भेद हैं—(१) सुख-दुःख; (२) राग-विराग; (३) प्रवृत्ति-निवृत्ति और तीसरे वर्ग में अर्थात् गौण आवेगों के केवल दो भेदों का उल्लेख है—(१) कुण्ठा या निराशा, (२) आशा-आकांक्षा। पृ० ३०९-३१५।

कहने की आवश्यकता नहीं कि बलाबल का यह भेद चेतना की अपेक्षा शरीर के वर्धमान महत्त्व का द्योतक है और हमारी अपनी धारणा है कि यह परिवर्तन संशोधन का पर्याय नहीं है; यह भेद गति का ही द्योतक है, प्रगति का नहीं; अर्थात् मैक्डूगल आदि मध्यवर्ती मनोवैज्ञानिकों की स्थापनाओं की अपेक्षा में ये अत्याधुनिक अनुसंधान अंततः मान्य होंगे, ऐसा कहना कठिन है। फिर भी जहाँ तक मनोवेगों का सम्बन्ध है, उपर्युक्त तालिका की तीन मानसिक मूलवृत्तियों के अन्तर्गत भी अनेक स्थायी भावों की स्थिति यथावत् ग्राह्य है १. भय, २. उत्साह, ३. कौतूहल (विस्मय), ४. रति, ५. वात्सल्य और (सीमित क्षेत्र में ही सही) ६. क्रोध। 'हास' को छोड़ दिया गया है या 'सामान्य स्फूर्ति' के 'क्रीड़ा' भेद में उसका भी अंतर्भाव हो गया है, 'शोक' का ग्रहण दूसरे वर्ग में—अहं-प्रवृत्तियों के अन्तर्गत, 'दुःख' के भीतर किया जा सकता है, इसी प्रकार जुगुप्सा का संकेत भी इसी वर्ग के 'विराग' (एवोइडेंस) में और 'निर्वेद' का 'निवृत्ति' में मिल जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नहीं है। स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है, और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण निर्दोष हो सकता है?

---

[1] इन्स्टिंक्ट्स प्रोपर ऑर प्राइमरी इम्पल्सेज़;
[2] जनरल इन्स्टिंक्टिव टेंडेन्सीज़ ऑर ऐगो टेंडेन्सीज़;
[3] सैकेन्डरी इम्पल्सेज़

संचारी भावों का विवेचन

संचारियों की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है। संस्कृत काव्यशास्त्र में संचारी की परिभाषा इस प्रकार की गयी है :

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥ सा० द० ३.१४०॥

—स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न, निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत-तिरोभूत होने वाले (स्थायिभाव-रूपी जल में तरंगों की भाँति संचरण करने वाले) भाव संचारी कहलाते हैं।

इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है। भरत ने निम्नोक्त क्रम से उनका वर्णन किया है :

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न (सुप्त), विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

भरत के विवरणों से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में उपर्युक्त भावों का अभिनयात्मक रूप ही प्रमुख रहा है, मनोवैज्ञानिक रूप गौण है। अतः उन्होंने संचारी भावों में मन और शरीर की प्रायः ऐसी सभी अवस्थाओं का अंतर्भाव कर लिया है जो आठों रसों में सामान्यतः संचरित होती हैं। संचारियों की वास्तविक स्थिति क्या है, इस विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। आधुनिक विद्वानों[1] ने मनोविज्ञान के स्थूल सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि तैंतीस संचारियों में से—

(क) केवल १४ भाव या मनोविकार हैं :—निर्वेद, शंका, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, व्रीड़ा, आवेग, विषाद, औत्सुक्य।

(ख) ४ मनोवेग न होकर ज्ञानात्मक अनुभव मात्र हैं :—धृति, मति, वितर्क, अवहित्थ।

(ग) ५ शारीरिक संवेदन मात्र हैं :—ग्लानि, श्रम, आलस्य, मद, मोह।

(घ) १० मानसिक अनुभव की कोटि में ही नहीं आते :—स्मृति, स्वप्न, निद्रा, विबोध, जड़ता, चपलता, अपस्मार, व्याधि, उन्माद, मरण।

डा० गुलाबराय[2] ने भी इस प्रसंग में कुछ शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है। पहली शंका तो यह है कि श्रम, स्वप्न, निद्रा, विबोध, अपस्मार, उन्माद, व्याधि का मन से सम्बन्ध नहीं है। इसका समाधान उन्होंने यह दिया है कि इन सब की भौतिक स्थिति अवश्य है, किन्तु साथ ही उसके अनुकूल मानसिक स्थिति भी है। दूसरी शंका यह है कि त्रास, शंका, विषाद और अमर्ष आदि कुछ भावों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है—उनका अन्तर्भाव भय, शोक और क्रोध जैसे स्थायी भावों में हो जाता है। इस प्रश्न का

---

[1] देखिए : साइकोलोजिकल स्टडीज़ इन रस—डा० राकेश गुप्त, पृ० १४५

[2] देखिए : सिद्धान्त और अध्ययन (द्वि० सं०), पृ० १३२-३४

उत्तर उन्होंने यह दिया है कि साम्य होने पर भी शंका और त्रास का भय से, अमर्ष का क्रोध से और विषाद का शोक से स्पष्ट भेद है। तीसरा प्रश्न यह है कि कुछ संचारी भाव जैसे धृति, मति और अवहित्थ ज्ञानमूलक हैं। उत्तर यह है कि इससे उनके भाव होने में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि प्रायः सभी भाव ज्ञानाश्रित होते हैं।

उधर परम्परानिष्ठ अन्य अनुसंधाताओं[1] ने 'रसगंगाधर' के आधार पर डा० राकेश के आक्षेपों का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि तैंतीस के तैंतीस संचारी भाव चित्तवृत्ति-रूप हैं। तथाकथित भौतिक स्थितियों में भी चित्तवृत्ति-रूप भाव की स्थिति अनिवार्यतः विद्यमान रहती है—जैसे 'व्याधि' में मनस्ताप की, 'निद्रा' में चित्त के संमीलन की, 'स्वप्न' में ज्ञान की। इसी प्रकार ज्ञानात्मक अनुभव भी चित्तवृत्ति-रूप ही है क्योंकि भारतीय दर्शन ज्ञान को चित्तवृत्ति से पृथक् नहीं मानता।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संचारियों के औचित्यानौचित्य के विषय में ३ मत प्राप्त होते हैं :

१. संचारी उस अर्थ में 'भाव' नहीं हैं जिस अर्थ में कि स्थायी हैं। भरत ने 'भाव' शब्द का व्यापक रूप से प्रयोग किया है—अतः संचारियों के अन्तर्गत केवल मनोविकारों या मनोवेगों की गणना नहीं की गयी वरन् उन शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं की भी गणना कर ली गयी है जिनका आठ रसों के साथ—विशेषकर उनके अभिनय के साथ प्रत्यक्ष और घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः प्रत्येक संचारी शुद्ध भावरूप या चित्तवृत्ति-रूप नहीं है। भरत के विवरण से और उधर धनंजय के विवरणों से यही धारणा पुष्ट होती है जहाँ व्याधि, उन्माद, अपस्मार, निद्रा, विबोध आदि के शारीरिक रूपों पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण के लिए—

भरत—अपस्मार की उत्पत्ति देव, यक्ष, नाग, ब्रह्मराक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच द्वारा ग्रहण अथवा उसके स्मरण से, उच्छिष्ट भोजन, शून्य भवन आदि के सेवन से, अशुचि काल के प्रभाव से, परिपतन, व्याधि आदि कारणों से होती है। उसका अभिनय फुरहरी, निःश्वास, उत्कम्प, धावन, पतन, स्वेद, स्तम्भ, मुख-फेन, जिह्वा परिलेहन आदि अनुभावों से करना चाहिए।

धनंजय—प्रारब्धवश ग्रहजनित दुःख आदि के कारण जो आवेश आ जाता है, उसे अपस्मार कहते हैं। ज़मीन पर गिर पड़ना, काँपना, पसीना आ जाना, मुँह में लार और फेन का भर जाना आदि अपस्मार के अनुभाव हैं। (दशरूपक, ४।२५)

२. संचारियों के विवेचन के पीछे मनोविज्ञान और तर्क का पुष्ट आधार नहीं है—अतः उसमें सम्यक् व्यवस्था का अभाव है, आधे से भी कम संचारी ऐसे हैं जो वस्तुतः 'भाव' संज्ञा के अधिकारी हैं और इनमें से भी कई ऐसे हैं जिनका अन्तर्भाव कतिपय स्थायिभावों में हो जाता है, कुछ-एक ज्ञानात्मक अनुभव या भौतिक (शारीरिक) संवेदन मात्र हैं और अनेक तो मानसिक अनुभव की कोटि में ही नहीं आते।

---

[1] देखिए : रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन (प्र० सं०)—डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, पृष्ठ २३९-४०

३. यह ठीक है कि समस्त संचारी स्थायिभावों के समान विशुद्ध भाव नहीं हैं, फिर भी, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने सिद्ध किया है, उनमें से किसी की भी चित्तवृत्तिरूपता में सन्देह नहीं किया जा सकता—मरण का अर्थ वास्तविक प्राणान्त नहीं वरन् उसकी पूर्ववर्ती मूर्च्छा ही है। जिनमें शारीरिक या बौद्धिक चेतना का प्राधान्य है, वे भी चेतना या चित्तवृत्ति रूप हैं, अतः यह निर्णय असंगत है कि अनेक संचारी तो केवल बौद्धिक प्रक्रियाएँ या शारीरिक संवेदन या भौतिक अवस्थाएँ हैं क्योंकि इनका भी तो अनुभूत्यात्मक रूप होता ही है। वास्तविक पृष्ठाधार को जाने बिना परम्परा का खण्डन करना अनुचित है।

उपर्युक्त मन्तव्यों में से प्रत्येक में सत्य का अंश निश्चय ही विद्यमान है। भरत के रस-विवेचन का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव शब्द का उन्होंने चित्तवृत्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है और सभी संचारी विशुद्ध चित्त-वृत्ति-रूप नहीं हैं। भरत के मत से नाट्य लोक की अनुकृति है; अतः उन्होंने विभिन्न रसों से सम्बद्ध प्रमुख मानसिक एवं शारीरिक स्थितियों को, जो इन रसों के मूल भावों के संदर्भ में *अस्थायी रूप से सामान्यतः उत्पन्न होती रहती हैं, संचारियों (संचरणशील अवस्थाओं)* के अन्तर्गत परिगणित कर दिया है। उधर पण्डितराज का यह स्पष्टीकरण भी अमान्य नहीं है कि प्रत्येक संचारी का अपना अनुभूत्यात्मक रूप होता है—व्याधि, अपस्मार, मरण आदि का भी जिनमें शारीरिक विकारों का प्राधान्य है या धृति, मति, वितर्क आदि का भी, जिनमें बुद्धि-तत्त्व की प्रमुखता है, अपना-अपना विशिष्ट अनुभव होता है, अतः व्याधिजन्य शारीरिक विकार नहीं, वरन् मनःस्ताप आदि मनोविकार ही, संचारी भावों के अन्तर्गत ग्राह्य हैं। किन्तु इन दोनों तर्कों को स्वीकार कर लेने पर भी तो अनेक शंकाएँ शेष रह जाती हैं :

(१) यह मान लेने पर भी कि संचारियों के अन्तर्गत भरत ने केवल विशुद्ध भावों का परिगणन नहीं किया, अनेक संचारी शारीरिक अथवा बौद्धिक प्रक्रिया रूप भी हैं, प्रश्न उठता है कि ऐसी क्रियाएँ तो और भी अनेक हैं : शारीरिक क्रियाएँ व्याधि, अपस्मार, मद, मोह, ग्लानि, श्रम, जड़ता, आदि तक ही सीमित क्यों मानी जाएँ और बौद्धिक क्रियाओं की इयत्ता धृति, मति, वितर्क, स्मृति आदि तक ही क्यों हो ? अपस्मार भी व्याधि ही है और व्याधियाँ तो अनेक हैं जिनका हम लोक-जीवन में नित्यप्रति अवलोकन या अनुभव करते हैं—फिर सशीत और सदाह ज्वर का ही उल्लेख क्यों ? धृति, मति और वितर्क के अतिरिक्त ऐसी अनेक वैचारिक स्थितियाँ हैं जिनका मनुष्य नित्यप्रति अनुभव करता है—उन विविध एवं विभिन्न स्थितियों का पृथक् उल्लेख न कर इन परस्पर समान स्थितियों का स्वतन्त्र रूप से वर्णन करने में क्या विशेष संगति है ?—हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि **इस वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार नहीं है।** उपर्युक्त तर्क से भरत के मत का स्पष्टीकरण तो हो जाता है, किन्तु शारीरिक अवस्थाओं और बौद्धिक क्रियाओं को 'भावों' की संज्ञा देने का औचित्य फिर भी सिद्ध नहीं होता।

(२) यह तर्क भी सर्वथा निर्णायक नहीं माना जा सकता कि व्याधि, जड़ता और उधर वितर्क, मति आदि का अपना-अपना अनुभूत्यात्मक रूप होता है, इसलिए इन्हें भी चित्तवृत्तियाँ ही मान लेना चाहिए। मनोविज्ञान में भी कम से कम निद्रा, विबोध, विश्राम,

श्रम, ग्लानि आदि का मूलवृत्तियों के मानसिक अनुभवों के रूप में उल्लेख किया गया है। फिर भी यह सिद्ध नहीं होता कि ये 'भाव' हैं। इस प्रकार तो जीवन का प्रत्येक व्यापार चित्तवृत्ति मान लिया जाएगा, क्योंकि ऐसा कोई भी व्यापार नहीं है जिसका अन्ततः मन के द्वारा अनुभव न होता हो। फिर तो घटना और भाव, विषय और अनुभूति का अन्तर ही मिट जाएगा। हो सकता है कि अन्ततः दार्शनिक आधार पर यही सिद्ध हो जाए, किन्तु यहाँ तो हम मूलतत्त्व का विचार न कर व्यावहारिक वर्गीकरण का ही विवेचन कर रहे हैं, जो अभेद-बुद्धि पर आश्रित न होकर भेद-बुद्धि पर ही आश्रित होता है।

(३) तीसरा प्रश्न संख्या का है। किसी भी दृष्टि से विचार करने पर संचारियों की संख्या तैंतीस मात्र सिद्ध करना असम्भव है। यदि संचारियों को विशुद्ध चित्तवृत्ति या मनोविकार रूप माना जाए तब भी उनकी गणना करना सरल नहीं है। मनोविज्ञान—विशेषकर आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार तो इस प्रकार की गणना असम्भव ही है। दर्शन, आचारशास्त्र, काव्य आदि में उल्लिखित भावों के नामों का भी संकलन यदि किया जाए, तो भी उनकी संख्या कई गुनी हो जाती है और इसमें यदि बौद्धिक अनुभूतियों का अन्तर्भाव भी कर लिया जाए तब तो कहना ही क्या ? हमारे नित्यप्रति के अनुभव में ही ऐसे अनेक भाव आते हैं जिनकी स्थिति परिगणित भावों से बाहर पड़ती है। संस्कृत-आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है। भानुदत्त ने दस कामदशाओं का अन्तर्भाव व्यभिचारियों में किया है, भोज आदि ने 'हाव' आदि के भी समावेश का प्रश्न उठाया है, और उधर सात्त्विकों को भी इसी वर्ग में समेटने का प्रयास हुआ है। मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, संशय और धृष्टता आदि भाव भी सामने आये हैं, किन्तु अन्त में उन सभी का परिगणित व्यभिचारियों में ही अन्तर्भाव कर दिया गया है : जैसे मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास में, दंभ का अवहित्था में, ईर्ष्या का अमर्ष में, विवेक और निर्णय का मति में, क्षमा का धृति में, क्लैव्य का दैन्य में, उत्कण्ठा का औत्सुक्य में, विनय का लज्जा में, संशय का तर्क में, कौतूहल और धृष्टता का चपलता में[१]। पर आज तो इससे सन्तोष नहीं हो सकता। इस तरह तो धृति का मति में, विषाद का चिन्ता में अन्तर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे हैं जो इनकी परिधि से बाहर हैं। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अन्तर्भेद या फिर द्वेष पक्ष में—असन्तोष, अवमान, अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डा० भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारों की गणना की है, जिनमें उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्यशास्त्र के तैंतीस या बयालीस संचारियों की परिधि से बाहर पड़ते हैं। वास्तव में जैसा कि प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनका पृथक् रूप में वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है, क्योंकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती

---

[१] हिंदी रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ३३४-३५

है । मन में असंख्य तरंगें उठती हैं जो एक दूसरे से अनेक रूपों में मिलकर न जाने कितने मनोविकारों का आविर्भाव करती हैं । साधारणतः मौलिक मनोविकारों की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र और व्युत्पन्न मनोविकारों का तो अन्त ही कहाँ है ?

अतएव इस निष्कर्ष से बचना कठिन है कि संचारी भावों की स्थिति उतनी पुष्ट नहीं है; और, स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ जैसे परम्परानिष्ठ आचार्य ने भी इस अप्रिय तथ्य का अनुभव किया है—**अथ कथमस्य संख्यानियमः** ? अर्थात् भावों की संख्या तैंतीस या चौंतीस ही है, यह नियम कैसे किया जा सकता है ? लेकिन अन्त में उन्होंने—'**मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृंखलताया अनौचित्यात्**—यह तर्क देकर परम्परा का पालन करना ही उचित समझा है । जब तथाकथित नवीन भावों का, थोड़ा-बहुत भेद रहने पर भी, परिगणित संचारियों में ही अन्तर्भाव करते हुए मुनिवचनों की मर्यादा रखी जा सकती है तब उच्छृंखलता क्यों की जाए ? पण्डितराज के तीन सौ वर्ष बाद आज हम, भरत की परम्परा के प्रति आदर भाव रखते हुए भी, इतना कहने का साहस तो कर ही सकते हैं कि संचारियों का विवेचन, कम से कम यथावत्, स्वीकार्य नहीं माना जा सकता ।

(ख) रस-संख्या

रस-संख्या का प्रश्न भी इसी प्रसंग का अंग है। यद्यपि स्थायिभावों के संदर्भ में इसकी थोड़ी-सी चर्चा हो चुकी है, फिर भी विषय के महत्त्व को देखते हुए स्वतन्त्र विवेचन कदाचित् अधिक उपादेय होगा।

ऐतिहासिक विकास-क्रम—भेद-विस्तार

भरत ने रस-संख्या केवल आठ मानी है :

श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ६.१६

—अर्थात् श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। यह संख्या-निर्धारण भरत ने नहीं किया, वरन् उनसे पूर्व स्वयं ब्रह्मा, अथवा द्रुहिण नाम के कोई प्राचीन महात्मा इस विषय में निर्णय दे चुके थे : (६. १७ पूर्वार्ध)

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।

अर्थात् भरत के समय में रसों की यह संख्या अत्यन्त प्राचीन परम्परा से चली आ रही थी। आगे चलकर भरत के मेधावी व्याख्याकार अभिनव ने अपने मत के अनुकूल नाट्यशास्त्र के किसी अन्य पाठ के आधार पर यह सिद्ध करने का उत्कट प्रयास किया कि भरत ने भी रस-संख्या ९ ही मानी है : "और वे नौ होते हैं। परन्तु नाटक में शान्त रस को न मानने वाले तो ('बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः' के स्थान पर 'बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस रूप में) 'अष्टौ' ऐसा पाठ मानते हैं।" [—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४२९]। किन्तु यह उद्भावना प्रमाणपुष्ट नहीं है। भरत ने उपर्युक्त 'रस-संख्या-वर्णन' प्रसंग में तो दो बार आठ रसों का उल्लेख किया ही है, उसके आगे भी स्थान-स्थान पर आठ रसों का ही स्पष्ट कथन है : जैसे कि उत्पत्ति, वर्ण और अधिदेवता के वर्णन में (नाट्यशास्त्र, ६.४०-४६); भावों के संदर्भ में 'जहाँ ८ स्थायी, ८ सात्त्विक और ३३ संचारी मिलाकर कुल संख्या ४९ मानी गयी है (नाट्यशास्त्र. ७ ६ गद्यभाग, पृ० १०६); आदि। इन प्रसंगों में भी अभिनव ने वैकल्पिक पाठों की ओर संकेत किया है, पर बात बनती नहीं है। अतः यह निश्चित है कि भरत ने रसों की संख्या केवल आठ ही मानी है और यह उनकी अपनी स्थापना नहीं थी वरन् इसके पीछे प्राचीन परम्परा का पुष्ट आधार था।

भरत के बाद दण्डी ने भी काव्यादर्श में केवल आठ रसों का ही उल्लेख किया है : "इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्" (१.२९२)—अर्थात् यहाँ रसवत् अलंकार में तो वाणी का आठ रसों से युक्त होना ही रसवत्ता माना गया है। किन्तु उनके कुछ ही बाद उद्भट ने निर्भ्रान्ति एवं सहज भाव से शान्त को मिलाकर नौ रसों का कथन किया है :

श्रृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ४.४

दण्डी और उद्भट के बीच और कोई विख्यात आचार्य नहीं हुआ, अतः विद्वानों का

यह अनुमान है कि शान्त रस की उद्‌भावना उद्‌भट ने ही की थी। किन्तु जिस प्रकार अनायास ही उद्‌भट ने शान्त रस का उल्लेख किया है, उससे यह अनुमान होता है कि उन्होंने अपने समय में प्रचलित रस-संख्या का ग्रहण मात्र किया है—अर्थात् शान्त रस उद्‌भट के समय तक रसशास्त्रियों में स्वीकृत हो चुका था, उद्‌भट ने केवल परम्परा का पालन किया है। एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि उद्‌भट ने नाट्‌यशास्त्र के भाष्य में, जो आज अनुपलब्ध है, शान्त रस की तर्कपूर्वक स्थापना की हो। ऐसी स्थिति में केवल इतना ही मानना उचित होगा कि शान्त-सहित नवरस का प्रथम उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे पहले उद्‌भट के 'काव्यालंकारसंग्रह' में ही मिलता है। वामन ने न रसों की संख्या का उल्लेख किया है और न सभी रसों के नाम ही दिये हैं। परन्तु रुद्रट ने स्वीकृत संख्या में प्रेयान् रस की वृद्धि कर दी है :

शृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्‌भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥ १२.३

यह प्रेयान् रस जिसका स्थायी भाव स्नेह है शायद रुद्रट की ही अपनी कल्पना थी, परन्तु विद्वन्मण्डली से इसे मान्यता प्राप्त नहीं हुई और इसका प्रमाण यह है कि रुद्रट के प्रायः समसामयिक रुद्रभट्‌ट ने भी अपने 'शृंगार-तिलक' में केवल नवरस का ही वर्णन किया है। वास्तव में रुद्रट भी किसी एकाध रस-भेद की नवीन कल्पना के प्रति विशेष आग्रहशील नहीं थे—वे तो लोल्लट आदि कतिपय प्राचीन क्रान्तिकारी आचार्यों के अनुयायी थे जो रसों की अनन्तता में विश्वास करते थे। उनकी अपनी धारणा यह थी :

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥ १२.४

अर्थात् भरतादि आचार्यों ने स्थायिभावों को इसलिए रस माना है क्योंकि इनमें मधुर, अम्ल आदि रसों की भाँति आस्वाद है। यह आस्वाद्यता तो निर्वेदादि संचारी भावों में भी है, अतः वे भी रसत्व को प्राप्त होते हैं। यह निश्चय ही क्रान्तिकारी कल्पना थी, किन्तु परम्परा के प्रभाववश भोज के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने इसे स्वीकार नहीं किया। इनके उपरान्त आनन्दवर्धन के साथ ध्वनिकाल प्रारम्भ हो जाता है। आनन्दवर्धन की प्रवृत्ति विस्तार की अपेक्षा व्यवस्था की ओर अधिक थी, अतः उनसे रस-संख्या में वृद्धि की आशा करना व्यर्थ है—उन्होंने नौ रसों की ही चर्चा की है। इस युग के दो प्रमुख आचार्यों ने प्रस्तुत प्रसंग पर प्रकाश डाला है—धनंजय ने और अभिनवगुप्त ने; वैसे महिमभट्‌ट, अग्निपुराणकार, मम्मट आदि ने भी रस को अत्यन्त महत्त्व दिया है, परन्तु रस-संख्या के विषय में उन्होंने कोई विशेष बात नहीं कही। धनंजय ने आठ और नौ के विवाद का समाधान करते हुए यह व्यवस्था दी कि नाट्‌य में तो आठ रसों की ही सम्भावना है, कुछ विद्वान् शम स्थायी भाव और उसके परिपाक शान्त रस को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु रूपकों में उसकी पुष्टि नहीं होती : **शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्‌येषु नैतस्य।** (द० रू० ४.३५) इसकी व्यंजना यह हो सकती है कि काव्य में नवरस की स्थिति धनंजय को मान्य है, परन्तु चूंकि उनका विवेच्य विषय रूपक है, अतः उनके लिए शान्त रस

का वर्णन अप्रासंगिक है। धनंजय ने प्रेयान् तथा भक्ति-रसों का भी खण्डन किया है—उनके समय में या उनसे पूर्व एकाध विद्वान् ने मृगया रस तथा अक्ष (द्यूत) रस का भी उल्लेख किया था, किन्तु उन्होंने इन सभी का निराकरण किया है :

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥ दशरूपक, ४.८३

—अर्थात् कुछ लोग प्रीति, भक्ति आदि को स्थायी भाव मानते हैं तथा मृगया, जुआ आदि को रस मानते हैं। इनका समावेश हर्ष, उत्साह आदि स्थायी भावों में हो ही जाता है। अतः इनका पृथक् विवेचन करना ठीक नहीं समझा गया है।

धनंजय के विपरीत अभिनवगुप्त ने अत्यन्त प्रवल शब्दों में सम्पूर्ण बुद्धि-वल से शान्त रस की नाट्य और काव्य दोनों में प्रतिष्ठा की है—उन्होंने इस संदर्भ में नाट्य और काव्य के भेद को भी स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार अभिनव ने निर्भ्रान्त और निश्चित रूप में व्यवस्था दी है कि रस नौ ही होते हैं—**एवं ते नवैव रसाः**[1]—न कम और न ज़्यादा। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कतिपय विद्वान् इन नौ प्रतिष्ठित रसों के अतिरिक्त और भी तीन रसों की स्थिति मानते हैं—जैसे (१) आर्द्रता-स्थायिक स्नेह-रस, (२) गर्वस्थायिक लौल्य-रस, (३) भक्ति-रस। किन्तु इनकी पृथक् सत्ता अन्ततः सिद्ध नहीं होती :

आर्द्रता रूप स्थायिभाव से युक्त स्नेह [नामक दशम] रस होता है, यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार के आकर्षण का नाम है। वह सब [ही प्रकार का आकर्षण या स्नेह] रति या उत्साहादि में ही समा जाता है। जैसे कि वालक का माता, पिता आदि के प्रति, युवकों का मित्रों के प्रति, और लक्ष्मण आदि जैसे भाइयों के प्रति स्नेह का उदय, रति में ही समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार वृद्धजनों का पुत्रादि के प्रति स्नेह [जिसको अन्य रसों के मानने वाले वात्सल्य रस नाम से कहते हैं उस] के विषय में भी समझना चाहिए [अर्थात् उसका भी अन्तर्भाव रति के भीतर ही हो जाता है]। गर्व-रूप स्थायिभाव वाले लौल्य-रस के खण्डन में यही पद्धति समझनी चाहिए। क्योंकि हास में अथवा रति में अथवा अन्य किसी रस में उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्ति-रस के विषय में भी समझना चाहिए, अर्थात् भक्ति-रस अलग नहीं है। उसका भी रति में अथवा भाव में अन्तर्भाव हो सकता है। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६४१)।

रस-संख्या का विस्तार सवसे अधिक भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगार-प्रकाश में मिलता है। भोज की प्रवृत्ति संग्रहशील थी, अतः उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रायः सभी उपलब्ध मतों का संकलन करने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रसिद्ध नवरस के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत रसों का तो स्पष्ट वर्णन किया ही है :

······**प्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः।** स० कण्ठाभरण ५. १६४ ॥

काव्यमाला संस्करण में "शान्तदान्तोद्धता रसाः" पाठ है, परन्तु जैसा कि डा० राघवन

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६४०

ने श्रृंगारप्रकाश का उद्धरण देकर सिद्ध किया है, ये नवीन रस नायक-भेदों के अनुसार उद्भावित किये गये हैं : अर्थात्

प्रेयान्=धीरललित
शान्त=धीरप्रशान्त
उदात्त=धीरोदात्त
उद्धत=धीरोद्धत

अत: 'दान्त' पाठ शुद्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त भोज ने एक ओर स्वातन्त्र्य, आनन्द, प्रशम और पारवश्य और दूसरी ओर साध्वस, विलास, अनुराग तथा संगम रसों का भी उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में उल्लेख किया है (स० क०, पृ० ७१९)। वस्तुत: भोज रसों के आनंत्य में विश्वास करते थे। रुद्रट और उनके टीकाकार नमिसाधु की भाँति वे यह मानते थे कि सभी भाव—स्थायी, संचारी और सात्त्विक भी—रसत्व को प्राप्त हो सकते हैं। (देखिए—डा० राघवन की पुस्तक 'दि नम्बर ऑफ़ रसज़'—पृ० १२४-१२५)।

भोज के उपरान्त हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में अभिनव के ही शब्दों का अनुवाद-सा करते हुए स्नेह, लौल्य तथा भक्ति-रसों का उल्लेख एवं खण्डन किया है :

एक दूसरे से स्वतन्त्र ये नौ ही रस हैं। अत: आर्द्रतास्थायिक स्नेह को रस मानना ठीक नहीं है। उसका रति आदि में अन्तर्भाव हो जाने के कारण। इसी प्रकार युवाओं का मित्रों के प्रति स्नेह रति में, लक्ष्मण आदि का भ्रातृ-स्नेह धर्मवीर में। बालक का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह भय में अंतर्भुक्त हो जाता है। यही वृद्धजन के पुत्रादि-विषयक स्नेह के विषय में समझना चाहिए। ऐसे ही गर्धस्थायिक लौल्यरस का हास या रति में अन्तर्भाव कहा जा सकता है। यही भक्ति के विषय में भी कहा जा सकता है।

[हेमचन्द्र—काव्यानुशासन (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई), पृ० १०६]

उधर हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी प्राय: इसी प्रकार की चर्चा की है, किन्तु उन्होंने तीन अतिरिक्त रसों का भी उल्लेख किया है—व्यसन, दु:ख और सुख :

किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं। जैसे तृष्णा-रूप स्थायिभाव वाला व्यसन, अरति-रूप स्थायिभाव वाला दु:ख और सन्तोष-रूप स्थायिभाव वाला सुख इत्यादि [अन्य रस भी हो सकते हैं]। कुछ लोग इनको रस तो मानते हैं किन्तु इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसों में ही कर लेते हैं।[1] [हिन्दी ना० द०, पृ० ३०६]

कविराज विश्वनाथ ने नवरस को स्वीकार कर लेने के बाद, प्राय: स्पष्ट शब्दों में ही वत्सल रस को भी मान लिया है और उसका नियमित रूप से सांग वर्णन किया है : **स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु:**—प्रकट चमत्कारक होने के कारण वत्सल रस भी माना जाता है। (सा० द० ३.२५१।)

भानुदत्त कुछ और आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने प्रारम्भ में तो रस के दो मौलिक वर्गों

---

[1] अयुक्तविषया तृष्णा।

की कल्पना की है : स च रसो द्विविध: लौकिकोऽलौकिकश्चेति—अर्थात् रस दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक-सन्निकर्ष-जन्य रस लौकिक हैं और अलौकिक-सन्निकर्ष-जन्य रस अलौकिक है। लौकिक रस लौकिक सन्निकर्ष की माध्यम छह इन्द्रियों के अनुसार छह हैं और अलौकिक रस अलौकिक सन्निकर्ष अर्थात् ज्ञान के तीन रूपों के अनुसार तीन हैं (१) स्वाप्निक, (२) मानोरथिक और औपनायिक। इन अलौकिक रसों में—स्वप्न में प्राप्त रस स्वाप्निक है, मनोरथ-जन्य रस मानोरथिक है और ये दोनों ही सुखदु:ख-मय हैं। अलौकिक रस का तीसरा भेद वह है जो काव्य के पद-पदार्थ अर्थात् शब्दार्थ और नाट्य से सिद्ध होता है—अर्थात् अलौकिक-रस-वर्ग के तृतीय भेद का नाम है काव्य (या नाट्य) रस। काव्यरस के अन्तर्गत सामान्यत: परम्परा-सम्मत नवरस को ही स्वीकार करने पर भी भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य एवं भक्ति के अतिरिक्त कार्पण्य तथा माया—इन दो नवीन रसों का और उल्लेख किया है—

मायारस—चित्तवृत्तिर्द्विधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्। न च स रतिरेव स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृंगारस्य, तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि तत्र सत्त्वादत एव न बीभत्सस्यापि × × × नाऽपि शान्तस्य, तद्विरोधित्वात्। न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्ति, शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्ते:। किन्तु विद्युत इव रतिहास-शोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्सा-विस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इव। लक्षणं च प्रबुद्धमिथ्याज्ञान-वासना मायारस:। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभाव:। विभावा: सांसारिकभोगार्जकधर्माधर्मा:। अनुभावा: पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादय:। (रसतरंगिणी, पृ० १६१)।[१]

—इसका सारांश यह है : (१) चित्तवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। निवृत्ति में जिस प्रकार शान्त रस होता है, इसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस की प्रतीति होती है। (२) माया-रस का निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि निवृत्ति में शान्त-रस की कल्पना संगत है तो प्रवृत्ति में माया-रस का निषेध कैसे किया जा सकता है? (३) यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि माया-रस स्वतन्त्र रस न होकर रति अर्थात् अनुरक्ति का ही एक रूप है। इसका उत्तर यह है कि यदि वह स्वतन्त्र स्थायी न होकर केवल व्यभिचारी ही है तो किसका? वास्तव में माया की स्थिति तो परस्पर अनुकूल-प्रतिकूल सभी रसों में समभाव से है। कोई भी व्यभिचारी प्रतिकूल रसों में समभाव से संचरण नहीं कर सकता—अर्थात् ऐसा कोई भी व्यभिचारी नहीं है जो विपरीत रसों में भी संचरण कर सके। अत: यह शंका उचित नहीं है। (४) दूसरी शंका यह हो सकती है कि माया-रस स्वतन्त्र रस न होकर सामान्य रस का ही पर्याय है—और शान्तेतर प्रसिद्ध आठ रस उसी के विशेष रूप या भेद हैं। इसका समाधान यह है कि यदि प्रवृत्तिरूपिणी माया रस का पर्याय है तो उसका विपरीत रूप निवृत्तिमूलक 'शान्त' रस न रहकर रसाभास

---

१ वेंकटेश्वर प्रेस (१९७२ वि०)

बन जाएगा। (५) इसलिए माया स्वतन्त्र रस ही है, व्यभिचारी नहीं—रति, हास, शोक आदि आठों भाव विद्युत् की तरह उसमें उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं अतः वे ही इसके व्यभिचारी हैं। (६) माया-रस का लक्षण इस प्रकार है—मिथ्या-ज्ञान की वासना ही प्रवुद्ध और उपचित होकर माया-रस का रूप धारण कर लेती है। इसका स्थायिभाव है मिथ्याज्ञान, सांसारिक भोगों के उत्पादक धर्माधर्म विभाव हैं और पुत्र, कलत्र, विजय, साम्राज्य आदि अनुभाव हैं।

कार्पण्य रस—रस-प्रसंग के आरम्भ में भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति के साथ एक नवीन रस का और उल्लेख किया है और यह है कार्पण्य जिसका स्थायिभाव है स्पृहा :—**ननु वात्सल्यं, लौल्यं, भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः। आर्द्रताऽभिलाषश्रद्धास्पृहाणां स्थायिभावानां सत्त्वादिति।**[1] किन्तु यह उल्लेख मात्र है; भानुदत्त को वात्सल्य, लौल्य और भक्ति के साथ-साथ कार्पण्य का रसत्व भी अग्राह्य है क्योंकि आर्द्रता, अभिलाषा, श्रद्धा के समान ही स्पृहा भी व्यभिचारी भाव मात्र है, स्वतन्त्र स्थायी नहीं है। वात्सल्य जिस प्रकार करुण रस का व्यभिचारी है और भक्ति शान्त का इसी प्रकार लौल्य के समान कार्पण्य भी हास्य का व्यभिचारी मात्र है।

इस प्रसंग में कदाचित् अन्तिम प्रयास किया वैष्णव आचार्य रूप गोस्वामी ने। उन्होंने काव्यशास्त्रियों के इस निर्णय का घोर विरोध किया कि भक्ति रस न होकर केवल भाव है और पूर्ण व्यवस्था के साथ भक्ति को प्रधान तथा शास्त्रीय रसों को गौण घोषित किया। उनके मतानुसार रस के दो प्रकार हैं :[2]

(१) मुख्य रस

शान्त भक्तिरस	शान्ति स्थायी
प्रीत भक्तिरस	प्रीति स्थायी
प्रेयान् भक्तिरस	सख्य स्थायी
वत्सल भक्तिरस	वात्सल्य स्थायी
मधुर भक्तिरस	मधुरा रति स्थायी

(२) गौण रस

हास्य भक्तिरस	हासरति स्थायी
अद्भुत भक्तिरस	विस्मयरति स्थायी
वीर भक्तिरस	उत्साहरति स्थायी
करुण भक्तिरस	शोकरति स्थायी
रौद्र भक्तिरस	क्रोधरति स्थायी
भयानक भक्तिरस	भयरति स्थायी
बीभत्स भक्तिरस	जुगुप्सारति स्थायी

१ देखिए डा० राघवन का ग्रन्थ दि नम्बर ऑफ़ रसज़, पृ० १४१
२ भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ० ३०६

रस-भेदों का विस्तार प्रायः यहीं पर समाप्त हो जाता है—इनके अतिरिक्त केवल एक नवीन रस 'व्रीडनक रस' का उल्लेख जैनों के अनुयोगद्वारसूत्र के आधार पर डा० राघवन ने किया है।[1] व्रीडनक रस का स्थायी भाव व्रीडा या लज्जा है। उपर्युक्त सूत्र के टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र (बारहवीं शती ई०) ने लिखा है कि कुछ विद्वान् व्रीडनक के स्थान पर भयानक रस की गणना करते हैं किन्तु भयानक तो अपने कारणभूत रस रौद्र का ही अंग है अतः उसकी पृथक् सत्ता नहीं होती। भारतीय काव्यशास्त्र में सूत्रकार और भाष्यकार दोनों का ही कोई स्थान नहीं है, फिर भी केवल नवीनता की दृष्टि से ही व्रीडनक रस का उल्लेख मात्र कर देना असमीचीन नहीं है।

संस्कृत के अन्तिम मेधावी आचार्य हुए पण्डितराज जगन्नाथ जिन्होंने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इस विस्तार-प्रवृत्ति का खण्डन कर परम्परा की पुनः प्रतिष्ठा पर बल दिया :— **रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः।** —अर्थात् भक्ति आदि रसों का समावेश करने से मुनि द्वारा निर्धारित संख्या भंग हो जाएगी, अतः शास्त्र का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। (हि० रस० गं०, पृ० १७६)

मध्ययुगीन और आधुनिक आचार्यों के मत

मध्ययुग में भारतीय भाषाओं के अन्तर्गत काव्यशास्त्र का विकास प्रायः रुद्ध हो गया था—केवल हिन्दी में रीतिकाव्य का व्यापक विकास एवं प्रसार पूरी दो शताब्दियों तक होता रहा। किन्तु यहाँ भी जो कुछ हुआ वह अधिकतर वर्णनात्मक ही था समीक्षात्मक नहीं था। अतः हिन्दी के रीतिकवियों को मुख्यतः यही श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने संस्कृत की समृद्ध रस-परम्परा को भाषा में अवतरित (और पोषित भी) किया। रस-संख्या के प्रसंग में केवल इतना ही उल्लेख्य है कि कुछ-एक विस्तारप्रिय कवियों ने जैसे केशव[2] तथा देव[3] ने शृंगार के 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' भेदों को भी स्वीकार किया; देव ने रस के लौकिक-अलौकिक भेद किये[4] और महाराज रामसिंह ने अपने ग्रन्थ रस-निवास में रस के लौकिक-अलौकिक और प्रत्येक रस के स्वनिष्ठ-परनिष्ठ भेदों का पृथक् वर्णन किया। इनमें नया कुछ नहीं है—प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों का उल्लेख रुद्रट तथा भोज और लौकिक-अलौकिक एवं स्वनिष्ठ-परनिष्ठ का उल्लेख भानुदत्त के आधार पर किया गया है। देव के लौकिक-अलौकिक भेद तो वे ही हैं जो भानुदत्त के, किन्तु उनकी व्याख्या में अन्तर हो गया है। भानुदत्त ने काव्यरसों को अलौकिक रस के तृतीय भेद औपनायिक के उपभेद माना है, किन्तु देव ने इन्हें लौकिक रस के उपभेद ही माना है और अलौकिक रस के तीनों भेदों—स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनायिक में क्रमशः स्वप्न, मनोरथ तथा लीला के माध्यम से हरि-रस की ही स्थापना की है। इस अन्तर का कारण क्या है—भ्रांति अथवा

---

1 देखिए डा० राघवन का ग्रन्थ दि नम्बर ऑफ रसज, पृ० १४१

2 रसिकप्रिया ११२

3 भावविलास (सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी) पृ० ६८-६९

4 हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (षष्ठ भाग) पृ० ४०६

मतभेद ? हमारी धारणा है कि भक्तिरस की व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा के उपरान्त देव ने भानुदत्त के मत में संशोधन कर दिया है।[१]

आधुनिक विद्वानों ने उपभेदों की चिन्ता न कर मूल रस-भेदों पर ही ध्यान केन्द्रित रखा है। हिन्दी में सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'नाटक' में प्राचीन परम्परा के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए भी रस की इयत्ता का प्रबल शब्दों में निषेध किया :

> **"वाह वाह ! रसों का मानना भी वेद के धर्म को मानना है कि जो लिखा है वही माना जाय और इसके अतिरिक्त करे तो पतित होय। रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव-सिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं, यदि अनुभव में आवे मानिए, न आवे न मानिए।"**[२]

उन्होंने स्वीकृत सूची में भक्ति, वात्सल्य और सख्य के अतिरिक्त प्रमोद या आनन्द रस को भी आग्रहपूर्वक जोड़ दिया। यद्यपि इनमें से प्रथम तीन को तो अनेक संस्कृत आचार्यों द्वारा मान्यता प्रदान की जा चुकी थी और चौथा भेद प्रमोद या आनन्द रस भी भारतेन्दु की न होकर मूलतः भोज की ही उद्‌भावना थी, फिर भी भारतेन्दु ने अत्यन्त विश्वास के साथ इन रसों की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की—इसमें सन्देह नहीं। उदाहरण के लिए, सख्य की स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा :

सख्य, इस रस को लोग शृंगार के अन्तर्गत करते हैं। हम उन लोगों से पूछते हैं कि जहाँ कृष्ण और अर्जुन का प्रसंग और इसी भाँति अनेक मित्रों की विपत्ति में मित्रों के संग देने के प्रसंग में शृंगार-रस किस भाँति आवेगा क्योंकि शृंगार को स्थायी रति है और यहाँ मित्रता में रति का क्या कार्य है ? (कविवचन-सुधा)

इस युग में सर्वाधिक समृद्ध रसशास्त्र हिन्दी, मराठी और बंगला का ही माना जा सकता है, इनमें भी मराठी और हिन्दी का स्थान ऊँचा है। इन सभी भाषाओं के शास्त्रों में प्रायः उपर्युक्त बारह रसों की ही खण्डन-मण्डन-सहित चर्चा होती रही है। हिन्दी के हरिऔध और मराठी के डॉ० वाटवे जैसे समर्थ आचार्यों ने वात्सल्य की प्रतिष्ठा की है, भक्ति की प्रतिष्ठा हिन्दी में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि ने और मराठी में चाफेकर तथा वाटवे आदि ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में की है। किन्तु इनके अतिरिक्त समसामयिक काव्य के आधार पर कतिपय नवीन रसों की कल्पना भी अनिवार्य हो गयी है जिनमें प्रमुख हैं—प्रकृति-रस (उदात्त रस), देशभक्ति-रस, क्रांति-रस, उद्वेग-रस और प्रक्षोभ-रस।

प्रकृति-रस—हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में प्रकृति-रस की स्थापना की है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्यक्ष और काव्य-निबद्ध दोनों रूपों के आस्वाद में रस की सत्ता मानी है—**(१) जिस समय दूर तक फैले हरे-भरे टीलों के बीच से घूम-घूम कर बहते हुए स्वच्छ नालों, इधर-उधर उभरी हुई बेडौल चट्टानों और रंग-बिरंगे फूलों से गुछी हुई झाड़ियों की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है, उस समय स्वार्थमय जीवन**

---

[१] भावविलास (सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी) पृ० ६६-६७

[२] भारतेन्दु द्वारा लिखित पत्र, ५.७.१८७२, कविवचन-सुधा, पृ० १७८-१७९

की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है। यह रस-दशा नहीं तो क्या है ?·········

(२) जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं, तब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन-सा रस है ? (रसमीमांसा, पृ० १४३)।

प्रकृति-वर्णन के रसात्मक रूप की स्थापना के लिए तो पर्याप्त आधार भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य में मिल जाता है, परन्तु प्रत्यक्ष प्रकृति-रस की स्थापना शुक्लजी की अपनी मौलिक कल्पना है और अत्यन्त विवादास्पद भी—क्योंकि शास्त्र में प्रत्यक्ष अनुभव को, चाहे वह कितना ही परिष्कृत या उदात्त क्यों न हो, रसानुभूति न मानकर लौकिक भावानुभूति ही माना गया है।

इस प्रकृति-रस का स्थायी भाव है रति—शुक्लजी ने इसे साहचर्य्यजन्य मानते हुए भी वासनागत माना है क्योंकि मानव का अपनी आदिम सहचरी प्रकृति से प्रेम अब एक संस्कार बन गया है। प्रकृति-रस में स्पष्टतः ही प्रकृति आलम्बन है, उद्दीपन नहीं है : उसे उद्दीपन मात्र मानने वालों को शुक्लजी ने आड़े हाथों लिया है। शुक्लजी का तर्क सीधा है—काव्य में प्रकृति-वर्णन पढ़कर हम निश्चय ही भावमय आनन्द से विभोर हो जाते हैं—यह भावमय आनन्द ही रस है, अतः प्रकृति-काव्य निश्चय ही रसात्मक होता है। इसके विरुद्ध यह तर्क असंगत है कि 'आश्रय, आलम्बन आदि सम्पूर्ण रस-सामग्री प्रकृति-काव्य में नहीं मिलती अथवा प्रकृति के प्रति रतिभाव एकांगी है, आलम्बन की प्रतिक्रिया से वह पुष्ट नहीं हो पाता'—क्योंकि केवल आलम्बन-वर्णन भी तो रस-परिपाक के लिए पर्याप्त हो जाता है। मराठी में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, रा० भि० जोशी, तथा वि० वा० भिडे ने उदात्त रस के रूप में प्रकृति-रस की ही स्थापना की है। चिपलूण करने उदात्त रस का शास्त्रीय विवेचन तो नहीं किया, किन्तु कालिदास आदि संस्कृत कवियों के प्रकृति-काव्य का विश्लेषण करते हुए अनेक स्थलों पर इसका स्वतंत्र रूप में उल्लेख किया है। रा० भि० जोशी ने उदात्त रस के अन्तर्गत प्रकृति के केवल चित्ताकर्षक वर्णन को ही स्वीकार किया है : **किसी प्रसंग अथवा पर्वत, अरण्य इत्यादि स्थलों का, वनश्री का अत्यन्त यथावत् और चित्ताकर्षक वर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ उदात्त रस होता है।**[1] किन्तु वि० वा० भिडे ने 'उदात्त' शब्द के अर्थ का भी निर्वाह करते हुए प्रकृति के भव्य रूपों के वर्णन को ही प्रस्तुत रस के अन्तर्गत ग्रहण किया है : **प्रकृति के भव्य दृश्यों अर्थात् आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत, अरण्य इत्यादि की शान्त स्थिति का वर्णन अथवा पंचमहाभूतों के क्षोभ का वर्णन करने अथवा सुनने के लिए अन्तःकरण की जो वृत्ति बनती है, उसे उदात्त रस कहते हैं।**

देशभक्ति-रस—संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से भिन्न दूसरा प्रमुख रस जो आधुनिक भारतीय काव्य में उभरकर आया है, देशभक्ति-रस है। हिन्दी में डा० गुलाबराय और

---

[1] सुलभ अलंकार, पृ० २५

मराठी में श्री शिवराम पंत[१], परांजपे तथा प्रा० जोग ने इस रस को स्वतंत्र मान्यता प्रदान की है। प्रा० जोग के शब्दों में—**देशभक्ति को आज के काव्य में जो स्थान उपलब्ध है, उसे देखते हुए इसे रस-पदवी सहज ही प्राप्य है।**[२] डा० गुलाबराय और प्रा० जोग के अनुसार इसका स्थायी भाव देश-प्रेम है, किन्तु श्री परांजपे ने देश-प्रेम के स्थान पर देशाभिमान को ही मान्यता दी है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी देशभक्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है—जैसे हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने और मराठी में श्री द० के० केलकर तथा श्री० कृ० कोल्हटकर ने; किन्तु इन्होंने प्रेम को व्यापक रूप प्रदान करते हुए देशभक्ति को उसी में अंतर्भुक्त कर लिया है।

अन्य नवीन रस : क्रांति, उद्वेग, प्रक्षोभ—आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों को लक्षित कर मराठी में कतिपय अन्य रसों की भी उद्भावना की गयी है। श्री जावडेकर[३] ने क्रांति-रस की, श्री विद्याधर वामन भिडे आदि ने उद्वेग-रस और श्री आत्माराम रावजी देशपांडे ने प्रक्षोभ-रस की नवकल्पना की है। श्री जावडेकर ने क्रान्ति-रस के अवयवों का विवेचन नहीं किया, कदाचित् उसकी आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि क्रान्ति का अर्थ और स्वरूप आदि स्वतःस्पष्ट हैं। उद्वेग-रस की परिभाषा श्री भिडे ने इस प्रकार की है: **समाज में अथवा समाज के विशिष्ट वर्ग में उपलब्ध अनीति, दुर्व्यसन, हास्यास्पद रीति-रिवाज अथवा विचारों के कारण अनुभूयमान त्रास, दुःख, घृणा, अथवा खेदजन्य अंतःकरण की जो विशिष्ट वृत्ति बनती है उसे उद्वेग कहते हैं।**[४] इसी प्रकार प्रक्षोभ-रस के विषय में श्री देशपाण्डे का मंतव्य संक्षेप में यह है:—स्थायी भाव—सहसंवेदमूलक संवेग; आलम्बन—दलित वर्ग की विपत्तियाँ आदि; उद्दीपन—उसकी संकटावस्था; संचारी—आवेग, अमर्ष, कारुण्य आदि और अनुभाव—सघर्ष की द्योतक अनेक चेष्टाएँ।[५]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन नवीन रसों की प्रकल्पना की प्रेरणा आधुनिक भारतीय साहित्य की विभिन्न नवप्रवृत्तियों से ही प्राप्त हुई है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से तथा नवजागृति के फलस्वरूप भारतीय साहित्य में जिन चेतनाओं का उदय हुआ है, वे अनेक रूपों में परम्परा से भिन्न एवं नवीन हैं—अतः अनुगमात्मक पद्धति से विचार करने पर, उनकी समीक्षा तथा मूल्यांकन करने के लिए, काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और विषयों का भी संशोधन-परिवर्द्धन एवं आख्यान-पुनराख्यान आवश्यक हो गया है। उपर्युक्त नवीन रस-कल्पनाएँ काव्यशास्त्र के इसी अनुगमात्मक पुनर्विचार का परिणाम हैं।

उपभेद-विस्तार

विस्तार की यह प्रवृत्ति रस के भेदों तक ही सीमित नहीं रही—उपभेदों का विस्तार भी कम नहीं हुआ। स्वयं भरत ने ही उपभेदों का पूरा विस्तार किया है।

शृंगार रस के उपभेद—भरत ने शृंगार रस के दो भेद अवस्थाओं के अनुसार

---

१ जीवन आणि साहित्य, पृ० ५५

२ अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० ११५

३,४,५ डा० मनोहर काले—आ० हि० तथा म० में का० शा० अ०, पृ० १७१

किये हैं : (१) संभोग, और (२) विप्रलम्भ। किन्तु इन्हें भरत ने भेद न कहकर 'अधिष्ठान' कहा है और अभिनव ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है :

यहाँ शृंगार रूप से अधिष्ठित होती है, इसलिए अवस्था (अधिष्ठान कहलाती है)। इसलिए जैसे गोत्व के 'शावलेयत्व' (दुरंगापन) और बाहुलेयत्व (बहुरंगापन) के समान ये दोनों (अर्थात् सम्भोग-शृंगार तथा विप्रलम्भ-शृंगार) शृंगार रस के भेद नहीं हैं, अपितु उन दोनों दशाओं में समान रूप से विद्यमान जो आस्वादात्मक रति है उसका आस्वाद्यमान रूप शृंगार रस होता है।[1]

आगे फिर भरत ने शृंगार के दो विभिन्न दृष्टियों से तीन भेद किये हैं : अभिनय की दृष्टि से वचनात्मक, वेपात्मक और क्रियात्मक और पुरुषार्थों की दृष्टि से—धर्म-शृंगार, अर्थ-शृंगार और काम-शृंगार।[2] अभिनय की दृष्टि से किये गये भेदों का काव्य की मूल-चेतना या शृंगार के मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वभावतः ये तीन भेद आगे चलकर प्रायः लुप्त ही हो गये। पुरुपार्थों पर आश्रित भेदों का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं हुआ, केवल नाट्यदर्पण में और भोज के शृंगारप्रकाश में इनका उल्लेख हुआ है। (राघवन, न० ऑ० र० पृ० १४५)।

इस प्रकार प्रथम दो अधिष्ठान ही शृंगार के भेद रूप में प्रचलित हुए। भरत के बाद रुद्रट ने संभोग और विप्रलम्भ को यथावत् स्वीकार करते हुए विप्रलम्भ के चार उपभेदों का कदाचित् पहली बार स्पष्ट उल्लेख किया है—प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने शृंगार के दो और भेद किये है—प्रच्छन्न और प्रकाश, जिनका अनुसरण भोज ने भी किया है। धनञ्जय ने मूल भेदों में थोड़ा-सा परिवर्तन करते हुए दो के स्थान पर तीन भेदों की उद्भावना की—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग अर्थात् पूर्वराग अथवा अयोग को उन्होंने विप्रलम्भ का उपभेद न मानकर स्वतंत्र भेद ही मान लिया। विप्रयोग के अन्तर्गत करुण को भी स्वतंत्र स्थान नहीं दिया गया। जहाँ एक के दिवंगत हो जाने पर दूसरा विलाप करे वहाँ करुण रस ही होगा—जैसे अजविलाप-प्रसंग में, किन्तु जहाँ मरण के बाद दैवी शक्ति से आलम्बन के पुनःजीवित हो जाने का वर्णन हो जैसे कादम्बरी के महाश्वेता-पुण्डरीक प्रसंग में वहाँ (शापज) वियोग-प्रवास ही होगा। इस प्रकार विप्रयोग के केवल दो उपभेद शेप रह जाते हैं—मान और प्रवास जिनके अपने-अपने पृथक् उपभेद हैं : मान के दो (१) ईर्ष्या-मान, और (२) प्रणय-मान और प्रवास के तीन (१) कार्यजन्य (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) (२) सम्भ्रम-जन्य—अर्थात् दैवी अथवा मानुषी विप्लव के कारण और (३) शाप-जन्य।[4] मम्मट की प्रवृत्ति विस्तार की अपेक्षा व्यवस्था की ओर अधिक थी—उन्होंने न रस के भेदों और न उपभेदों के ही विस्तार में विशेष रुचि प्रदर्शित की है। इस प्रसंग में केवल विप्रलम्भ के उपभेदों में ही थोड़ी-सी

---

[1] हिंदी अ० भारती, पृ० ५४३

[2] वही, पृ० ६०६

[3] काव्यालंकार १४।१ और १२ ६

[4] दशरूपक ४.६४-६५-६७

भिन्नता मिलती है। यहाँ चार के स्थान पर उन्होंने पाँच उपभेद माने हैं—अभिलाप-निमित्तक (पूर्वराग), विरह-निमित्तक, ईर्ष्या-निमित्तक (मान), प्रवास-निमित्तक और शाप-निमित्तक, जिनमें केवल 'विरह' ही नया है।[१] हेमचन्द्र ने करुण विप्रलम्भ को 'करुण' ही माना, शृंगार का भेद नहीं;[२] पर उनके शिष्य रामचन्द्र ने मम्मट के पाँचों भेदों को यथावत् स्वीकार कर लिया है।[3] इनकी अपेक्षा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मन में विस्तार के प्रति अधिक आकर्षण था। उन्होंने पूर्वराग के भी तीन उपभेद कर डाले—(१) नीली राग जो बाहरी चमक-दमक तो अधिक न दिखाये पर हृदय से कभी दूर न हो जैसे राम-सीता का, (२) कुसुम्भ राग जो बाहर से अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हो, परन्तु अन्ततः नष्ट हो जाए और (३) मंजिष्ठा राग जो स्थिर भी हो और आकर्षक भी।[४] भानुदत्त ने भी नवीनता-प्रदर्शन का कुछ प्रयत्न किया है, किन्तु बात बनी नहीं है: उनके द्वारा निरूपित विप्रलम्भ के पाँच भेद प्रायः वे ही हैं जो मम्मट ने लिखे हैं—बस 'विरह' के स्थान पर 'गुरु-निदेश' का उल्लेख कर दिया गया है: देशान्तरगमन के कारण (प्रवासजन्य), गुरुनिदेश के कारण, अभिलाषा के कारण (पूर्वराग), ईर्ष्या के कारण (मान), और शाप के कारण।[५] इनके अतिरिक्त भी उन्होंने तीन उपभेदों का उल्लेख किया है: समय-हेतुक, दैव-हेतुक और विड्वरादि-(उपद्रवादि-) हेतुक; किन्तु इनका उल्लेख प्रसंगतः ही हुआ है, नियमतः नहीं।[६]

मानचित्र

धर्मशृंगार, अर्थशृंगार, कामशृंगार—**शृङ्गार**—(वचनात्मक, वेषात्मक और क्रियात्मक)
—प्रच्छन्न और प्रकाश

- सम्भोग
- विप्रलम्भ
  - पूर्वराग
    - नीली
    - कुसुम्भ
    - मंजिष्ठा
  - मान
    - ईर्ष्यामान
    - प्रणयमान
  - प्रवास
    - कार्यज
      - भूत
      - वर्तमान
      - भविष्यत्
    - सम्भ्रमज
    - शापज
  - विरह ? (मम्मट द्वारा उल्लिखित)
  - करुण

---
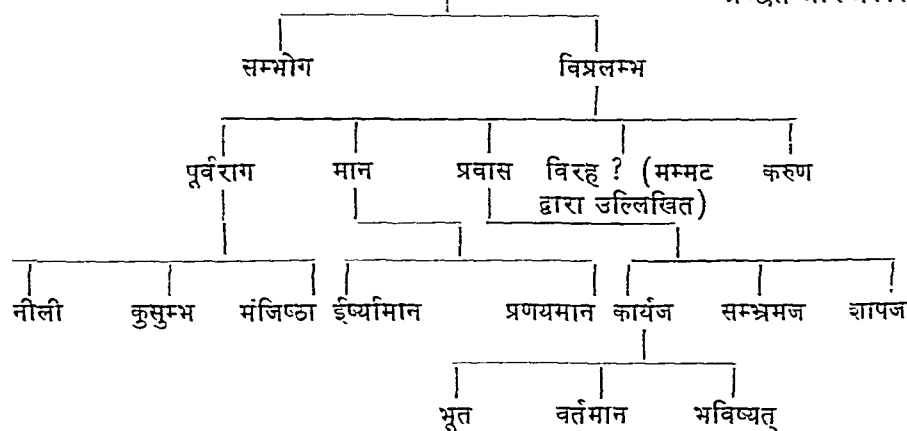
१ काव्यप्रकाश ४.२९ गद्य

२ काव्यानुशासन अ० २ सू० ६

३ हिं० ना० द०, पृ० ३०६

४ साहित्यदर्पण ३.१९५

५ रसतरंगिणी, पृ० १४०

६ वही, पृ० १४१

हास्य के उपभेद—भरत ने हास्य के मूलतः दो उपभेद किये हैं—(१) आत्मस्थ जहाँ विदूषक या पात्र स्वयं हँसता है और (२) परस्थ जहाँ वह दूसरों को हँसाता है।[१] अभिनव के अनुसार आत्मस्थ का अर्थ है ऐसा हास्य जो स्वयं प्रमाता के चित्त में उद्भूत होता है अर्थात् स्वगत हास्य और परस्थ का अर्थ है वह हास्य जो दूसरों को हँसते देखकर उत्पन्न हो जाता है अर्थात् अन्यत्रसंक्रान्त हास्य।[२] डा० राघवन ने 'स्वयं हसति' और 'परं हासयति' का अर्थ क्रमशः किया है—दूसरों के साथ हँसता है और दूसरों पर हँसता है—किन्तु यह पाश्चात्य हास्य-भेदों का आरोपण मात्र है, उपर्युक्त शब्दावली का उचित अर्थ नहीं है।[3] इनके आगे आश्रय के प्रकृति-भेद से फिर छह भेद किये गये हैं—उत्तम प्रकृति में (१) स्मित और (२) हसित, मध्यम प्रकृति में (३) विहसित और (४) उपहसित, अधम प्रकृति में (५) अपहसित और (६) अतिहसित।[४] यद्यपि ये भेद हसन-क्रिया के मात्रा-भेद पर निर्भर करते हैं, फिर भी जैसा कि अभिनव ने स्पष्ट किया है, हास्य भाव अथवा रस के न्यूनाधिक्य से इनका सम्बन्ध नहीं है। (७) ये सभी भेद आत्मस्थ और परस्थ दोनों प्रकार के हस्यरूपों में होते हैं। इस तरह सब मिलाकर हास्य के बारह भेद हुए। किन्तु शृंगार की भाँति हास्य के भी अभिनव की दृष्टि से तीन अतिरिक्त भेद होते हैं—वचनात्मक, वेषात्मक और क्रियात्मक। सौभाग्य से हास्य-भेदों का विस्तार और आगे नहीं हुआ। धनञ्जय और भानुदत्त आदि को छोड़ अधिकांश विद्वानों ने तो आत्मस्थ और परस्थ भेदों का भी उल्लेख नहीं किया—अग्निपुराणकार ने अपहसित और अतिहसित को भी अस्वीकृत कर दिया है।[५]

करुण के उपभेद—करुण के भरत ने तीन भेदों का उल्लेख किया है—(१) धर्मोपघातज—धर्महानि से उत्पन्न (२) अर्थापचयोद्भव—अर्थहानि से उत्पन्न और (३) शोककृत—स्वजनों के मृत्यु-शोक से उत्पन्न। इनमें अग्निपुराणकार ने एक भेद और जोड़ दिया—चित्तग्लानि-जन्य।[६] भानुदत्त ने यहाँ भी स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद कर डाले हैं—अपने अनिष्ट से उत्पन्न स्वनिष्ठ और दूसरे के अनिष्ट से उत्पन्न (दया, सहानुभूति आदि से प्रेरित) परनिष्ठ।

वीर रस के उपभेद—भरत ने वीर रस के केवल ३ उपभेदों की चर्चा की है: (१) दानवीर, (२) धर्मवीर, और (३) युद्धवीर।[७] दशरूपक में धर्मवीर के स्थान पर पहली बार दयावीर का उल्लेख है—प्रसंग के अन्त में यह भी कह दिया गया है कि वीर रस के प्रतापवीर, गुणवीर, आवर्जनवीर आदि और भी भेद कहे गये हैं, पर वे आवश्यक नहीं

---

१ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५७२

२ वही, पृ० ५७३

3 राघवन, दि नं० ऑफ़ रसज़

४ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५७४

५ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (नें० प० हाउस), पृ० ५६

६ वही, पृ० ५७

७ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६०६

हैं।[1] परन्तु साहित्यदर्पण में दयावीर और धर्मवीर को साथ-साथ देकर चार स्पष्ट भेद कर दिये गये हैं।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने सत्यवीर और पाण्डित्यवीर का भी उल्लेख किया है, किन्तु खण्डनात्मक तर्क के रूप में ही—वे तो समस्त उपभेदों का ही निषेध करते हैं।

भयानक रस के उपभेद—भरत के अनुसार भयानक रस के भी तीन भेद होते हैं—(१) व्याज-जन्य अर्थात् कृत्रिम (२) अपराध-जन्य और (३) वित्रासितक अर्थात् खतरे की शंका आदि से उत्पन्न।[3] इनमें कृत्रिम का अर्थ यह है कि उत्तम प्रकृति के व्यक्ति गुरु आदि के प्रति अपराध के कारण जिस भय का प्रदर्शन करते हैं, वह वास्तविक नहीं होता कृतक ही होता है। अपराध का अर्थ अभिनव ने अपराधी—चोर आदि किया है: **अपराध्यन्तीति अपराधाः—चोरादयः**।[4] किन्तु कदाचित् वह भरत का अभीष्ट अर्थ नहीं है, चोर आदि का भय भरत के तृतीय भेद के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रसंग में किसी परवर्ती आचार्य ने भेद-वृद्धि नहीं की। केवल भानुदत्त ने अपने प्रिय स्वनिष्ठ, परनिष्ठ भेदों का आरोपण भयानक पर भी कर दिया है—प्रत्यक्ष भय का स्वयं अनुभव जहाँ हो वहाँ स्वनिष्ठ और दूसरे के भय से जहाँ भय की संक्रामक प्रतीति हो वहाँ परनिष्ठ भयानक रस होता है।[5]

बीभत्स रस के उपभेद—बीभत्स के मूलतः दो भेद ही भरत ने माने हैं: (१) रुधिर आदि से उत्पन्न होने वाला शुद्ध अथवा क्षोभण और (२) विष्ठा, कृमि आदि से उत्पन्न होने वाला अशुद्ध अथवा उद्वेगी।[6] अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भट्टतोत के मत से तो ये दोनों ही अशुद्ध बीभत्स के भेद हैं: शुद्ध बीभत्स तो वह है जो संसार के प्रति जुगुप्सा उत्पन्न करने के कारण मोक्ष-साधक होता है। अतः वास्तव में बीभत्स के भी तीन भेद ही होते हैं:
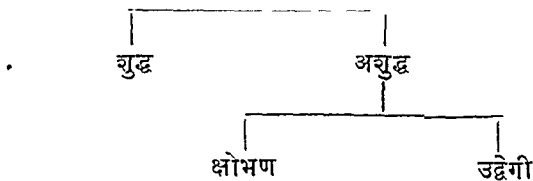
परन्तु शुद्ध बीभत्स के अत्यन्त दुर्लभ होने से कारिका में केवल दो का ही उल्लेख हुआ है।[7] अन्य प्रसंगों की भाँति यहाँ भी अभिनव ने अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण का आरोपण भरत के मत पर कर दिया है—भरत की व्यावहारिक अभिनयपरक दृष्टि के सामने वास्तव में क्षोभण और उद्वेगी—दो ही भेद थे। दशरूपक में, किन्तु, उपर्युक्त तीन उपभेद ही स्वीकृत किये गये हैं: (१) उद्वेगी, (२) क्षोभण, और (३) शुद्ध जो वैराग्य के कारण जघन, स्तन

---

१ दशरूपक ४.७२ वृत्ति

२ सा० द० ३.२३४

३ नाट्यशास्त्र ६.८१

४ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६०७

५ रसतरंगिणी पृ० १५४

६ नाट्यशास्त्र ६.८२

७ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६०८

आदि के प्रति घृणा से उत्पन्न होता है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने वीभत्स के उपभेदों का वर्णन तो नहीं किया है किन्तु उन्होंने विभावों के अन्तर्गत परश्लाघा अर्थात् शत्रु की प्रशंसा का भी वर्णन किया है।[2] यहाँ वीभत्स की उत्पत्ति में केवल दृश्य पदार्थों को ही कारण नहीं माना गया, वरन् घृणित व्यक्ति के मिथ्या गुण-कथन अर्थात् झूठ को भी उद्वेगकारी माना गया है। इस तथ्य का मैंने इसलिए विशेष रूप से उल्लेख किया है कि इसमें वीभत्स के एकान्त ऐन्द्रिय रूप के अतिरिक्त मानसिक रूप की ओर भी (कदाचित् पहली वार) संकेत किया गया है। वीभत्स के प्रसंग में और कोई विशेष संशोधन-परिवर्द्धन नहीं हुआ—केवल भानुदत्त ने स्वनिष्ठ-परनिष्ठ का भेद यहाँ भी कर दिया है।

अद्भुत रस के उपभेद—भरत के अनुसार अद्भुत रस दो[3] प्रकार का होता है—(१) दिव्य अर्थात् दैविक चमत्कार से उत्पन्न, और (२) आनन्दज अर्थात् मनोरथ की सिद्धि करने वाली अप्रत्याशित घटनाओं से उत्पन्न। आनन्दज का अर्थ न भरत ने स्पष्ट किया है और न अभिनव ने—आगे चलकर रामचन्द्र भी **'अभीष्टसिद्धितः'** कहकर मौन हो गये हैं। परन्तु अभीष्ट सिद्धि से अभिप्राय आकस्मिक सिद्धि का ही है जैसा कि नाट्यदर्पण के भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर ने व्यक्त कर दिया है।[4] प्रवन्धकाव्यों की निर्वहण-संधि में प्रायः अद्भुत के इसी 'आकस्मिक-मनोरथ-सिद्धि' रूप का ही प्रयोग होता है। इस रस का भेद-विस्तार नहीं हुआ, वस भानुदत्त ने ही स्वनिष्ठ-परनिष्ठ का आरोपण यहाँ भी कर दिया है।

रौद्र रस के उपभेद—रौद्र रस के ३ उपभेदों का संकेत भरत ने शृंगार के साथ-साथ किया है : **अंगनेपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा स्मृतौ।** ६.७८—अर्थात् शृंगार के समान हास्य और रौद्र के भी तीन उपभेद होते हैं : (१) आंगिक या क्रियात्मक, (२) वेषात्मक और (३) वचनात्मक। इसके आगे रौद्र का और भेद-विस्तार नहीं हुआ।

इस प्रकार आठ रसों के उपभेदों का वर्णन भरत ने और उनके अनुकरण पर अन्य आचार्यों ने किया है। केवल शान्त ही एकमात्र रस है जिसके भेद नहीं किये गये, परन्तु उसकी प्रकल्पना ही भरत के वाद हुई थी। इन उपभेदों की संख्या का अधिकाधिक विस्तार किया गया है : शृंगार के ५२ उपभेद, हास्य के ३६, करुण के ८, वीर के ६, भयानक के ६, वीभत्स के ६, अद्भुत के २, रौद्र के ३=सर्वयोग १२२।

उपभेदों की कल्पना के आधार अनेक हैं : स्वयं भरत के निरूपण में कहीं चित्त-वृत्तियों को आधार माना गया है, कहीं अवस्थाओं या परिस्थितियों को, कहीं विभावों या प्रेरक कारणों को, कहीं केवल अभिनय को—और कहीं-कहीं एकाधिक आधारों का मिश्रण भी हो गया है। उपभेद-विस्तार का सम्वन्ध वर्ण्य विषयों के साथ भी रहा है—जैसे-जैसे काव्य का क्षेत्र विस्तृत होता गया है, आचार्य विभिन्न रसों के अन्तर्गत वर्णित प्रसंगों के अनु-

---

१ दशरूपक, ४.७३

२ हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३१३

३ नाट्यशास्त्र, ६.८३

४ हिन्दी ना० द०, पृ० ३१६

सार उपभेदों का विस्तार करते रहे हैं। आगे चलकर अन्य रसों के उपभेद तो प्रायः विस्मृत हो गये किन्तु नायिकाभेद के प्रसार के साथ शृंगार के भेदों में वृद्धि होती गयी।

विश्लेषण और निष्कर्ष

रस-संख्या से सम्बद्ध उपर्युक्त सामग्री का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं :

(१) सभी प्रकार की उद्भावनाओं को मिलाकर रस-भेदों का सर्वयोग ३२ बैठता है :

प्रायः सर्व-स्वीकृत रस—शृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स और शान्त=९।

एकाधिक आचार्य द्वारा निश्चयपूर्वक स्वीकृत रस—प्रेयान् (सख्य), वात्सल्य, भक्ति, आनन्द (प्रमोद), प्रकृति और देशभक्ति=६।

किसी एक आचार्य द्वारा निश्चयपूर्वक स्वीकृत रस—उदात्त, उद्धत, माया, व्रीडनक, (प्राचीन); क्रान्ति, उद्वेग, प्रक्षोभ (नवीन)=७।

केवल खण्डन के लिए उल्लिखित रस—लौल्य; अक्ष (द्यूत)-रस; मृगया-रस; व्यसन-रस; सुख और दुःख+कार्पण्य=७।

नाम मात्र के लिए उल्लिखित रस—पारवश्य, साध्वस, विलास=३।

= सर्वयोग ३२।

(२) इन नूतन उद्भावनाओं के मुख्यतः तीन आधार हैं :

(क) व्यावहारिक—अर्थात् नाट्यगत एवं काव्यगत वर्ण्य विषयों पर आश्रित : उदात्त, उद्धत, अक्ष, मृगया, व्यसन, देशभक्ति, क्रान्ति, प्रकृति आदि रसों की उद्भावना प्रायः काव्य के वर्ण्य विषयों को देखकर ही की गयी है।

(ख) मनोवैज्ञानिक—आरम्भिक ८ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य, सुख, दुःख, व्रीडनक, आदि की उद्भावना का आधार यही है।

(ग) दार्शनिक—आत्मा की प्रवृत्तियों पर आश्रित,—शान्त, भक्ति, माया आदि रसों की कल्पना का आधार प्रायः दार्शनिक ही है।

(३) विस्तार की प्रवृत्ति प्रायः उन ग्रन्थों में ही अधिक मिलती है जिनका विवेच्य विषय नाट्य है क्योंकि दृश्य की प्रधानता होने के कारण इन ग्रन्थों का दृष्टिकोण स्वभावतः अधिक विषयपरक हो गया है।

(४) बहुमत विस्तार के विरुद्ध रहा है। यह ठीक है कि अनेक विद्वानों को रस-संख्या की इयत्ता के विषय में स्पष्ट शंका हुई है—लोल्लट, रुद्रट आदि ने तो समस्त संचारियों को ही रसत्व का अधिकारी मानकर रसों की कोई सीमा ही नहीं मानी है, किन्तु उचित विकल्प के अभाव में, अर्थात् इस विचार से कि कोई अन्य प्रस्तावित संख्या भी इतनी ही विवादास्पद हो सकती है, उन्होंने परम्परा का अनुसरण ही अधिक निरापद माना है।

(५) प्राचीन आचार्यों में संकोच की ओर प्रवृत्ति प्रायः किसी की नहीं रही—किसी ने मान्य रसों में से एक का भी निषेध नहीं किया और आठ से कम संख्या नहीं मानी। केवल

अनुयोगद्वारसूत्र में भयानक का अंतर्भाव उसके कारणभूत रौद्र रस में करने का प्रयास किया गया है, किन्तु काव्यशास्त्र में वह कोई प्रामाणिक सूत्र नहीं है और न किसी आचार्य ने उसका कोई उल्लेख ही किया है। हिन्दी में भी इसी परम्परा का पालन हुआ है और किसी मान्य रस का निषेध नहीं किया गया। हाँ, मराठी में रौद्र और अद्‌भुत की स्वतंत्र सत्ता तथा बीभत्स की रसात्मकता का निषेध अवश्य हुआ है, परन्तु[1] इस मत को भी कोई विशेष मान्यता नहीं मिली।

एक मूलरस की कल्पना

भारतीय काव्य-चिन्तन का यह वैचित्र्य है कि एक ओर जहाँ रसों की अनन्तता की स्थापना के प्रयत्न हो रहे थे, वहाँ दूसरी ओर सभी रसों का एक रस में समाहार करने के प्रयत्न भी चल रहे थे—और यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि विस्तारप्रिय होने पर भी अंततः भारतीय दृष्टि अद्वैत पर ही जाकर रुकती है—अनेकता में एकता का अनुसंधान ही सदा उसका अभीष्ट रहा है। अतएव रस के क्षेत्र में भी रस के भेद-प्रभेदों के विस्तार के साथ-साथ अनेक रसों का एक रस में समाहार करने का उपक्रम भी निरंतर होता रहा।

एको रसः करुण एव

ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार सबसे पहला प्रयास भवभूति का है। उत्तररामचरित में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में भवभूति ने तमसा के माध्यम से घोषणा की है:

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥

उत्तररामचरित ३.४७

—एक ही करुण रस निमित्त भेद से विभिन्न रूप धारण करता है, जिस प्रकार आवर्त, बुद्‌बुद और तरंग का रूप धारण करने पर भी जल अंततः जल ही रहता है।

प्रस्तुत श्लोक के विषय में निम्नलिखित विकल्प हो सकते हैं:

—यह केवल एक विशेष पात्र तमसा का एक विशेष नाटकीय परिस्थिति में काव्यमय उद्‌गार है। नाटक का वातावरण नितान्त करुणामय हो गया था—सीता, राम, वासंती सभी के हृदय करुणार्द्र थे। उसी परिस्थिति का वाचिक प्रतीक है यह श्लोक। अतः इसे शास्त्र-वाक्य के रूप में ग्रहण करना कदाचित् उचित न होगा।

—यदि इसे पात्र के माध्यम से स्वयं कवि का ही उद्‌गार मान लिया जाए तब भी यह उद्‌गार सम्पूर्ण करुणाप्लावित नाटक का 'भावार्थ' ही है, शास्त्रीय स्थापना नहीं।

—भवभूति कवि की यह सैद्धान्तिक मान्यता है जो उन्होंने नाटकीय शैली में प्रस्तुत की है।

प्रथम दो संभावनाओं को स्वीकार करते हुए भी संस्कृत के विद्वानों ने तीसरे विकल्प को ही प्रायः ग्रहण कर लिया है—(१) उत्तररामचरित के टीकाकार वीरराघव ने स्वयं इसी की पुष्टि की है और भोज-प्रतिपादित शृंगार-सिद्धान्त के विरुद्ध करुण के पक्ष में दो तर्क प्रस्तुत किये हैं:

---

[1] डा० वाटवे—रसविमर्श पृ० २४७; प्रा० जोग—अभिनव काव्यप्रकाश, पृ० ११५

(१) प्राचुर्यात् अर्थात् जीवन में करुणा का प्राचुर्य है और (२) **रागिविरागिसाधारण्यात्**—अर्थात् रागी और विरागी दोनों ही समान रूप से इसका अनुभव करते हैं (जबकि शृङ्गार का अनुभव केवल रागी ही करते हैं)।[1] किन्तु इस व्याख्या के उपरान्त भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि काव्यशास्त्र में करुण रस का स्थायी शोक माना गया है जिसका आधार होता है इष्ट का नाश—इष्ट का वियोग मात्र नहीं, और शास्त्र की कसौटी पर उत्तररामचरित का ही अंगी रस विप्रलम्भ सिद्ध होता है, करुण नहीं। ऐसी स्थिति में क्या यह माना जाए कि देश और काल से खिन्न भवभूति ने परम्परा के प्रति विद्रोह करते हुए एक तो करुण को केवल इष्ट नाश तक ही सीमित नहीं माना—इष्ट के ऐसे विषम वियोग को भी अन्तर्भूत कर लिया है जिसमें पीड़ा की तीव्रता हो और मिलन की आशा प्राय: क्षीण हो गयी हो, और दूसरे अन्त की अपेक्षा अन्तर्व्याप्ति को ही अंगी रस का निर्णायक माना है। इस अर्थ-विस्तार के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भवभूति के करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' न होकर 'करुणा' है जो 'दया' की नहीं वरन् व्यापक अर्थ में 'सहृदयता' की—हृदय-द्रुति की द्योतक है। शंकुक ने करुणा का यही अर्थ ग्रहण किया था :

सदयहृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा। सा लिंगैरनुकर्त्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेश: इति श्रीशंकुक:।

—सदय-हृदयता लोक में 'करुणा' नाम से प्रसिद्ध है। वह (अपने दृश्यमान रोदन, विलपन आदि) लिंगों द्वारा अनुकर्ता (नट) में स्थित शोक का अनुभव करने वाले सामाजिकों में रहती है, इसलिए इस रस का 'करुण' यह (सार्थक) नाम है। यह श्रीशंकुक का मत है। (हिन्दी अभिनवभारती पृ० ५७९)।

इसी तर्क से आनन्दवर्धन ने करुण रस में आर्द्रता या द्रुति की मात्रा शृंगार से भी अधिक मानी है। करुण के अंग्रेज़ी पर्याय 'पैथेटिक' का भी अर्थ-विस्तार इसी प्रकार का है, उसके भी दो परस्पर सम्बद्ध अर्थ हैं—शोकात्मक और रागात्मक [पैथोस (ग्रीक)=शोक, मनोवेग; —पैथेटिक (ग्रीक पैथेटिकोस)=शोकात्मक, मनोवेगात्मक[2]]। अरस्तू ने महाकाव्य के चार भेद माने हैं : (१) सरल, (२) जटिल, (३) नैतिक, और (४) करुण[3] (पैथेटिक)। स्पष्टत: यहाँ करुण (पैथेटिक) का अर्थ भाव-प्रधान ही है, शोकात्मक नहीं है। इस व्यापक अर्थ में ही भवभूति ने करुण को मूलरस माना है क्योंकि चित्तद्रुति अथवा संवेदना ही मूल चेतना के रूप में सभी मनोवेगों में विद्यमान रहती है, या यों कहिए कि सभी मनोवेग 'संवेदना' के ही विभिन्न रूप हैं। इसी व्यापक परिभाषा के अनुसार सुखान्त होने पर भी उत्तररामचरित का अंगी रस करुण माना जा सकता है।[4]

---

१ उत्तररामचरित (संपादक—एम० आर० काले १९२४), पृ० ९७

२ दि कन्साइज़ ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी (चतुर्थ संस्करण), पृ० ८७३

३ अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ० १३७

४ डा० राघवन ने 'सिम्पैथी' के शब्दार्थ के आश्रय से करुण रस की मौलिकता की सिद्धि की है (देखिए दि नम्बर ऑफ़ र० पृ० १९५)। मेरा विचार है कि 'पैथेटिक' के आधार पर यह सिद्धि अधिक सरल एवं ग्राह्य हो जाती है।

भवभूति से पूर्व और उनके पश्चात् भी काव्यशास्त्र के किसी आचार्य ने करुण को मूलरस नहीं माना। भरत ने तो उसे मुख्य रसों में ही न मानकर रौद्र से उद्भूत गौण रस माना है और परवर्ती आचार्यों में भी अधिकांश ने उसे महाकाव्य अथवा नाटक का अंगी रस तक मानने से इन्कार कर दिया है। फिर भवभूति की इस स्थापना का क्या कारण है? कारण कदाचित् दो-तीन हो सकते हैं—एक तो यह कि भवभूति का अपना गम्भीर स्वभाव जो जीवनगत कुण्ठाओं से अत्यधिक संवेदनशील हो गया था स्वभावतः करुण का पक्षपाती था, दूसरे यह कि उनके काव्य का मूल आधार थी राम-कथा जो वस्तुतः करुण कथा है : **पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः**—और तीसरे करुण का करुणास्थायिक व्यापक अर्थ भी भवभूति के युग में प्रसिद्ध था। अतः करुण के प्रति उनका पक्षपात स्वाभाविक था—किन्तु करुणास्थायिक करुण के प्रति ही, शोकस्थायिक करुण के प्रति नहीं।

शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः[1]

—भवभूति के लगभग चार शताब्दी बाद अभिनवगुप्त ने शान्त की मूलरस के रूप में प्रतिष्ठा की। शान्त के प्रति अभिनव का अपना आग्रह तो स्पष्ट है ही, उन्होंने प्रस्तुत प्रसंग में भी नाट्यशास्त्र के किसी प्राचीन संस्करण का हवाला देते हुए भरत को ही प्रमाण माना है, "इसीलिए [भरत नाट्यशास्त्र की] प्राचीन पुस्तकों में स्थायिभावों के रसत्व को प्राप्त करने का वर्णन करेंगे' इसके बाद 'शम रूप स्थायिभावात्मक रस शान्त रस होता है' इस रूप में शान्त रस का लक्षण किया गया है।" (हिन्दी अभिनवभारती पृ० ६३५)। नाट्यशास्त्र के एक संस्करण में, जिसमें कि शान्त का पृथक् विवेचन मिलता है, स्पष्ट लिखा भी है—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।

—रति आदि भाव विकार हैं और शान्त (शम) प्रकृति अर्थात् मूल है। विकार प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न होकर फिर उसी में लीन हो जाते हैं। अपने-अपने अनुकूल (विभावादि) निमित्तों के प्राप्त होने पर शान्त से ही (रत्यादि) भाव उत्पन्न होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर फिर शान्त में ही लीन हो जाते हैं। (नाट्यशास्त्र, ६.८४)।

प्रस्तुत विवेचन (जो सम्भवतः प्रक्षिप्त ही है) निश्चय ही अभिनवगुप्त के पहले का है क्योंकि अभिनव ने उसको अभिनवभारती में अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है।[2] अभिनव ने अपनी ओर से शान्त के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं—(क) शान्त रस का स्थायी भाव है आत्मज्ञान जो परिकल्पित विषयभोग आदि की वासना से मुक्त शुद्ध आनन्दमय है : **तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयभोगरहितोऽत्र स्थायी।**[3] वस्तुतः

---

[1] शान्त ही प्रकृति या मूल है।

[2] हिन्दी अभिनवभारती पृ० ६३७

[3] वही, पृ० ६२३

रस का स्वरूप ही यही है : रति, शोकादि भी इसी आत्मचैतन्य की स्थिति को प्राप्त कर शृंगार, करुणादि रसों में परिणत होते हैं—(उपरागदायी अर्थात्) आत्मा के स्वरूप को आच्छादित करने वाले उत्साह, रति आदि से आच्छादित जो आत्मा का स्वरूप है वही (माला में) दूर-दूर पर पिरोई हुई मणियों के बीच में से चमकते हुए उज्ज्वल सूत्र के समान (कभी-कभी थोड़ी देर के लिए) भासित हो जाने पर रत्यादि रूप सारे उपरंजकों के उस रूप में रहने पर भी ['सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरं' इत्यादि वाक्यों के अनुसार] यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःखों के जाल से रहित और परमानन्द की प्राप्ति के साथ अभिन्न रूप से काव्य तथा नाटक आदि के द्वारा समान रूप से प्रतीत होते हुए अन्तर्मुखी अवस्था-भेद से लोकोत्तर आनन्द का प्रापक हो कर हृदय को भी उस प्रकार का [आनन्दमय] बना देता है। (हिन्दी अभिनवभारती पृ० ६४०)। अतएव जो आत्मास्वाद अन्य रसों के रसत्व का मूल आधार है वही शान्त रस का स्थायी है। (ख) शान्त का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान अन्य समस्त स्थायिभावों का आधार है—स्थाइयों का स्थायी है, अतः यही स्थायितम भाव है। अन्य स्थायी यहाँ व्यभिचारित्व को प्राप्त हो जाते हैं :

तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वा रत्यादिकाः स्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति।

> —अर्थात् तत्त्वज्ञान तो अन्य सब (रत्यादि) भावों का आश्रयभूत, अन्य सब स्थायिभावों की अपेक्षा अधिक स्थायी और रत्यादि सब वृत्तियों को व्यभिचारित्व को प्राप्त कराता हुआ स्वभावतः स्थायिभाव रूप स्वयंसिद्ध है।[1]

वास्तव में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार की चित्तवृत्तियों का समुदाय तत्त्व-ज्ञान रूप स्थायी का व्यभिचारी हो जाता है : **तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति।**[2] यह किस प्रकार होता है, इसका स्पष्टीकरण अभिनवभारती के एक अन्य उद्धरण से हो जाता है :

इसी प्रकार (२) समस्त वस्तुओं के विषय में विकार को देखकर [विकृत-दर्शन-जन्य हास्य रस का स्थायिभाव हास शान्त रस को उत्पन्न करता है]। (३) समस्त संसार को शोचनीय रूप में देखने वाले [साधक] को [करुण रस का स्थायिभाव शोक शान्त रस की अनुभूति में सहायक होता है], (४) सांसारिक वृत्तान्त को [आत्मा के लिए] अपकारी रूप में देखने वाले को [अपकारित्व-जन्य रौद्र रस का क्रोध रूप स्थायिभाव] (५) अत्यन्त ज्ञानप्रधान [वीर्य] उत्साह को स्वीकार करने वाले [साधक] को [वीररस का स्थायिभाव उत्साह], (६) समस्त विषय-समूह से भय का अनुभव करने वाले को [भयानक रस का स्थायिभाव भय], (७) सब लोगों के स्पृहणीय कामिनी आदि से भी घृणा करने वालों को [बीभत्स रस का स्थायिभाव जुगुप्सा], (८) और अपने अपूर्व आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के कारण [अद्भुत रस के स्थायिभाव] विस्मय को प्राप्त [साधक] को मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3]

---

१ हिन्दी अभिनवभारती पृ० ६२४
२ वही, पृ० ६२७
३ वही, पृ० ६२०-६२१

वस्तुतः उपर्युक्त वक्तव्य का अभीष्ट निष्कर्ष तो यह है कि शान्त रस के पृथक् स्थायी की कल्पना अनावश्यक है, आठ प्रसिद्ध भावों में से कोई भी अलौकिक विभाव के संदर्भ में उसका स्थायी हो सकता है।[1] और इसीलिए अभिनव ने इसका खण्डन भी किया है। किन्तु इसका एक दूसरा निष्कर्ष भी हो सकता है और वह यह कि सभी प्रसिद्ध स्थायी भाव शान्त के प्रति उन्मुख हैं अथवा शृंगार, हास्यादि अन्य रस शान्त के रूपान्तर मात्र हैं। प्रस्तुत संदर्भ में हम इसी आशय से इस उद्धरण का उपयोग कर रहे हैं।

शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः[2]

लगभग इसी समय भोज ने इतने ही प्रबल शब्दों में घोषणा की कि प्राचीन आचार्य दश रसों की कल्पना करते आये हैं किन्तु आस्वादनीयता केवल शृंगार में ही है, अतः हम उसी को रस मानते हैं।[3] उनकी स्थापना सार रूप में इस प्रकार है :

हमारा अहंकार ही प्रतिकूल परिस्थितियों के अभाव में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के द्वारा आनन्द रूप में संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहंकार आत्मा का विशिष्ट गुण है, यही अभिमान है, यही शृंगार है और यही रस है। रति-हास आदि भाव इसी शृंगार से उत्पन्न होते हैं। वे भाव ही हैं और स्वयं रसत्व को प्राप्त नहीं होते। वे तो, जिस प्रकार प्रकाश की किरणें अग्नि की शोभा को बढ़ाती हैं, इसी प्रकार, शृंगार की शोभा को बढ़ाते हैं। इसीलिए स्थायी, संचारी आदि का प्रवाद मिथ्या है। शृंगार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है।[4]

अग्निपुराण का शृंगार-सिद्धान्त इसी का रूपान्तर है। अग्निपुराण के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है और यह निर्णय करना आज भी कठिन है कि अग्निपुराण का सिद्धान्त भोज के सिद्धान्त का रूपान्तर है या स्थिति इसके विपरीत है। तथ्य यह है कि दोनों का सार प्रायः एक ही है। दोनों ही यह मानते हैं कि आत्मा का मूल धर्म या विशिष्ट गुण अहंकार है, किन्तु भोज के मत से जहाँ यह अहंकार ही अभिमान है और यही शृंगार

---

१ **रतिहासादीनां विस्मयान्तामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम्।** (हिन्दी अ० भा० पृ० ६२१)

२ रसनीयता के आधार पर हम शृंगार को ही रस मानते हैं।

३, ४ **शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।**
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

× × × ×

अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यः संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः॥
रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जितानि भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥

पाण्डुलिपि (शृंगारप्रकाश खण्ड १, पृ० २-३) (डा० शंकरन् के ग्रंथ से उद्धृत)।

तं चात्मनोऽहङ्कारगुणविशेषं ब्रूमः, स शृङ्गारः, सोऽभिमानः स रसः।

(शृंगारप्रकाश खण्ड २, प० ११, पृ० ३५६)।

रत्यादयः शृङ्गारप्रभवा इति। एकोनपञ्चाशद्भावा वीरादयो मिथ्यारसप्रवादाः शृङ्गार एवैकः चतुवर्गैककारणं, स रस इति।

शृंगारप्रकाश, खण्ड १, पृ० २-३ (डा० शंकरन् के ग्रंथ से उद्धृत)

या रस है, वहाँ अग्निपुराण के अनुसार अहंकार और अभिमान में और फिर अभिमान और रति में पर्याय सम्बन्ध न होकर जनक-जन्य सम्बन्ध है : **ततोऽभिमानः·········। ३.३ । अभिमानाद्रतिः**······३.४ । इसके अतिरिक्त भोज जहाँ रति को शृंगार-प्रभव तथा रस-परिणति में असमर्थ मानते हैं, वहाँ अग्निपुराण की मान्यता है कि व्यभिचारी आदि से पुष्ट रति ही शृंगार का रूप धारण कर लेती है और अन्य रस इसके ही भेद हैं यद्यपि उनके भी अपने-अपने स्वतन्त्र लक्षण एवं स्थायी भाव हैं :

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिघोषस्वलक्षणाः ॥[1] ३.४

वस्तुतः यह कोई मौलिक भेद नहीं है—कथन-भेद मात्र है ।

शृंगार की महिमा का हिन्दी के रीतिकाव्य में और भी विस्तार हुआ है—केशव, चिन्तामणि, देव आदि आचार्य कवियों ने मुक्तकण्ठ से शृंगार को रसराज घोषित किया है । केशव और देव ने प्रधान रस के अतिरिक्त मूल एवं एकमात्र रस के रूप में भी उसकी साग्रह प्रतिष्ठा की है :

(क) **सबको केशवदास हरि नायक है शृङ्गार ।** (केशव, रसिकप्रिया १,१६)
(ख) **भाव-सहित सिंगार में नवरस झलक अजस्र ।**
ज्यों कंकनमणि-कनक को ताही में नवरत्न ॥ (देव, भवानी विलास)

अपने मत के पोषण में इन कवियों ने व्यवहार एवं सिद्धान्त दोनों का उपयोग किया है । व्यावहारिक रूप से इन्होंने सभी रसों का समावेश शृंगार में कर दिया है—हास्यादि मित्र रसों का ही नहीं, रौद्र और वीभत्स आदि अमित्र रसों का भी । सिद्धान्त-प्रतिपादन में केशव ने अर्द्धदार्शनिक अथवा पौराणिक आधार ग्रहण किया है :

श्री वृषभानुकुमारि हेतु 'शृंगार' रूप भय ।
वास 'हास' रस हरे, मात-बंधन 'करुणामय' ॥
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो बत्सासुर ।
'भय' दावानल पान, पियो 'वीभत्स' बकी उर ।
अति 'अद्भुत' वंच विरंचि मति, 'शांत' संतते शोच चित ।
कहि केशव सेवहु रसिक जन नवरस में ब्रज-राज नित ॥ (रसिकप्रिया, १,२)

उपर्युक्त स्तुति-छन्द में कवि ने नौ रसों का कृष्ण के व्यक्तित्व में समावेश कर अपने सिद्धान्त के लिए आधार-भूमि तैयार की है : कृष्ण जिस प्रकार शृंगारमय होते हुए भी नवरस-रूप धारण करते है, उसी प्रकार शृंगार भी नवरस में परिणत हो सकता है अथवा नवरस का शृंगार के साथ तादात्म्य हो सकता है ।

देव की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक शास्त्रीय रही है :

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै द्वै प्रथम विलीन ।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ मैं, दोऊ तेहि आधीन ॥
हास्य भयरु सिंगार संग रौद्र करुन संग वीर ।

---

[1] अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग [अनु० रामलाल वर्मा]

अद्‌भुत अरु बीभत्स संग शान्तहिं बरनत धीर ॥ (भवानी विलास)

और अन्त में

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार ।
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर, शान्त संचार ॥ (भवानी विलास)

—अर्थात् नौ रसों में तीन मुख्य हैं शृंगार, वीर और शान्त । शेष छह रस इन्हीं के आश्रित हैं—हास्य और भय, शृंगार के आश्रित हैं, करुण और रौद्र वीर के और अद्‌भुत तथा बीभत्स शान्त के । और, फिर इन तीनों में भी शृंगार ही मुख्य है, शेष दोनों रस—वीर और शान्त—उसी के अधीन हैं क्योंकि वीर का जन्म शृंगार के उत्साह से और शान्त का शृंगार के निर्वेद से ही होता है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि केशव और देव का यह प्रतिपादन शास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक उतना नहीं है जितना कि काव्यमय है ।

सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः[1]

—अद्‌भुत ही मूल और एकमात्र रस है—यह स्थापना कविराज विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह नारायणपंडित ने की थी । विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के रस-प्रसंग में अपने पूर्ववर्ती विद्वान् धर्मदत्त के आधार पर यह सूचना दी है :

तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः ।
तस्मादद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

—अर्थात् सब रसों में चमत्कार सार रूप से प्रतीत होता है और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्‌भुत रस ही प्रतीत होता है, अतः पंडित नारायण केवल एक अद्‌भुत रस ही मानते हैं । (सा० द०, विमला टीका १९५६, पृ० ४९)

इस सिद्धान्त का आधार है 'चमत्कार' । चमत्कार भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का अत्यन्त मौलिक शब्द है जो रसशास्त्र के अनेक शब्दों की तरह शव दर्शन से आया है । अभिनव के अनुसार चमत्कार का अर्थ इस प्रकार है :

सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः × × स चातृप्तिव्यतिरेकेणाऽव्च्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । —अर्थात् विघ्नों से सर्वथा रहित वह प्रतीति चमत्कार कहलाती है और वह (अविघ्न संवित् रूप चमत्कार) अतृप्ति से भिन्न (अर्थात् पूर्णतृप्ति रूप) भोगावेश कहलाता है । (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४७१-७२) ।

इस प्रकार चमत्कार का अर्थ है निर्विघ्न आत्मप्रतीति—आत्मास्वाद अथवा आनन्द । और, चूंकि काव्य अथवा रस का यह आनन्द विषय-जन्य आनन्द के अन्य रूपों से भिन्न होता है, इसलिए इसके साथ 'अलौकिक' विशेषण का प्रयोग होता रहा है । केवल रस के प्रसंग में

[1] सर्वत्र अद्‌भुत रस ही होता है ।

ही नहीं अलंकार और वक्रोक्ति आदि के प्रसंग में भी 'लोकोत्तर' आदि विशेषणों का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य एवं तज्जन्य आह्लाद के लिए आरम्भ से ही होता आया है। अतः काव्य के आनन्द में 'अलौकिक'—'लोक से कुछ अधिक' अथवा 'असाधारण' तत्त्व का अन्तर्भाव मूलतः ही हो गया है। पाश्चात्य सौन्दर्य-दर्शन में भी सौन्दर्य की अनुभूति में विस्मय-तत्त्व की स्थिति अनिवार्य मानी गयी है, उसमें अनुराग और विस्मय का सामंजस्य रहता है।

स च रसो भगवद्भक्तिमय एव[1]

अन्त में, भारतीय वाङ्मय में भक्तिकाव्य का प्रचुर विकास हो जाने पर वैष्णव आचार्यों ने भक्तिरस की न केवल प्रतिष्ठा ही की वरन् उसे ही मूलरस घोषित किया। वास्तविक रस भक्तिरस ही है, क्योंकि वही पूर्णानन्दमय है; शृंगारादि काव्यरस उसकी अपेक्षा अत्यन्त क्षुद्र हैं; परिपूर्णरसा भगवद्रति में और शृंगारादि रसों में वही अन्तर है जो सूर्य में और खद्योतों में :

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥

(मधुसूदन सरस्वती; भगवद्भक्तिरसायन २.७८)

वास्तव में काव्यरसों की स्थिति तो भक्तिरस में संचारियों के समान है : **हासादीनां व्यभिचारिषु पर्य्यवसानात्।**[2] इसी तर्क से रूपगोस्वामी ने हास आदि को हासरति, विस्मयरति आदि की संज्ञा दी है और उन्हें मूल रति—भगवद्रति के गौण भेद मात्र माना है। अतः मधुसूदन सरस्वती, रूपगोस्वामी आदि आचार्यों के मत से भक्तिरस ही मूलरस है : भक्तिरस के भेदों में भी मधुराभक्तिरस या उज्ज्वल रस ही प्रमुख है—वास्तविक रस—'भक्तिरसराज' वही है।

इस प्रकार मूलरसत्व के लिए पाँच रसों की ओर से दावे दायर हुए हैं। ये रस हैं करुण, शान्त, शृंगार, अद्भुत और भक्ति। इसी क्रम से विवेचन कर अब हम सत्यासत्य के निर्णय का प्रयास करेंगे।

सबसे पहले करुण को लीजिए। जैसा कि हमने इसी प्रसंग में संकेत किया है, रूढ़ काव्यशास्त्रीय अर्थ में शोकस्थायिक करुण में समस्त रसों के समाहार का प्रश्न ही नहीं उठता—स्वयं उत्तररामचरित का ही अंगी रस करुण शोकस्थायिक नहीं है। भवभूति का मत उसी स्थिति में विचारणीय बन पाता है जब हम करुण का स्थायी भाव करुणा या मानव-संवेदना मानें और हृदय-द्रुति को उसके मूल धर्म के रूप में स्वीकार करें। यहाँ पर भी शास्त्र की दृष्टि से यह आक्षेप किया जा सकता है कि उत्साह और क्रोध में तो चित्त द्रवित न होकर स्फीत होता है, फिर भी व्यापक दृष्टि से उत्साह और क्रोध के मूल में, अप्रत्यक्ष रूप से, मानव-संवेदना की प्रेरणा मानी जा सकती है। दूसरे के रागद्वेष से प्रभावित होना काव्य-रस का मूल आधार है—इसी का नाम संवेदना या सहृदयता है। यह करुण के अर्थ का अत्यन्त विस्तार है, जहाँ वस्तुतः करुण का वैशिष्ट्य भी नष्ट हो जाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त भवभूति के अभिमत को सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है।

---

[1] भक्तिरसामृतसिन्धु [दुर्गमसंगमनी], पृ० ७४
[2] वही, पृ० ३०९ [द्वि० सं०]

अभिनव के सिद्धान्त की दार्शनिक भूमिका अधिक पुष्ट है। वास्तव में उनका सिद्धान्त उनके रस-स्वरूप-विवेचन का स्वाभाविक परिणाम है। अभिनव के अनुसार रस का अर्थ है निर्विघ्न आत्म-प्रतीति और यही शम की भी परिभाषा है—अतः प्रत्येक रस का पर्यवसान शान्त में होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों और काव्य-मर्मज्ञों की भी काव्यानुभूति की व्याख्या बहुत कुछ इसी के समान है : आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों ही प्रायः अपने-अपने ढंग से यह स्वीकार करते हैं कि काव्यास्वाद चित्तवृत्तियों के सामंजस्य की ही अवस्था है। काव्य में विभिन्न भावों का प्रबल उद्वेलन रहता है परन्तु यह उद्वेलन प्रक्रिया में ही रहता है; परिणति में तो द्वन्द्व मिट जाता है और चित्तवृत्तियाँ समीकृत हो जाती हैं। —कैसे ? कला के प्रभाव से, क्योंकि बिखरे हुए तत्त्वों को समन्वित करना ही तो कला है; अतः कला की पूर्णानुभूति अनिवार्यतः चित्तवृत्तियों के सामंजस्य के रूप में ही होती है। अभिनव का आनन्दवादी दर्शन आत्मा की इस निर्विघ्न प्रतीति को सहज आनन्दमय मानता है, इतना ही भेद है। वास्तव में अभिनव की रस-परिभाषा को स्वीकार कर लेने के बाद तो इस स्थापना में विप्रतिपत्ति के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता कि—**भावाः विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः**, क्योंकि उसके अनुसार शान्त रस का भेद न होकर रस का पर्याय ही है। किन्तु वास्तविक समस्या तो उनकी आत्मवादी रस-कल्पना को यथावत् ग्रहण करने की ही है।

भोज का 'शृंगार सिद्धान्त' भी प्रायः इसी प्रकार के तर्क पर आश्रित है : आत्मा का प्रथम विकार अहंकार है, यही वास्तव में आत्मा की प्रथम प्रतीति है क्योंकि उससे पूर्व तो आत्मा प्रतीति से परे शुद्ध चैतन्य है। यह अहंकार ही रस है—आत्मा की निज-प्रतीति होने के कारण यह सहज आनन्दमय या रसमय है और आत्मरमण का ही रूप होने के कारण इसका दूसरा नाम शृंगार भी है। इस प्रकार भोज के सिद्धान्त का सार यह है : आत्मा की प्रथम प्रतीति का नाम अहंकार है, आत्मा की यह प्रथम प्रतीति या निजानुभूति आनन्दमय है, अतः यही रस है और इसी का पारिभाषिक नाम शृंगार है। चूँकि रत्यादि समस्त भाव अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं और अहंकार का दूसरा नाम शृंगार है, अतएव शृंगार समस्त भावों का स्रोत एवं मूलरस है जिसे रत्यादि भाव समृद्ध करते हैं। इस प्रकार भोज के मत से भी रस का मूल अर्थ आत्म-प्रतीति ही है और चूँकि शृंगार भी अहंकार या आत्म-प्रतीति का ही अपर नाम है, अतः शृंगार ही रस है। और, इस दृष्टि से अभिनव तथा भोज के सिद्धान्तों में मौलिक भेद नहीं रह जाता क्योंकि आत्म-प्रतीति को ही एक शान्त कहता है, दूसरा शृंगार। अभिनव के मत से रस-प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार है : काव्य में कवि अपने रति आदि भावों को कल्पना के चमत्कार से साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करता है। प्रमाता जब भाव के इस साधारणीकृत रूप का शब्दार्थ के माध्यम से अनुभव करता है तो उसके भी रत्यादि भाव प्रबुद्ध होकर देश-काल, स्व-पर आदि की भावना से मुक्त होकर उसकी भग्नावरणा चेतना के विषय बन जाते हैं—अर्थात् प्रमाता की चेतना आवरणमुक्त होकर उनका भोग करती है अथवा यह कहना चाहिए कि विशुद्ध भाव की भूमिका में प्रमाता की आत्मा अपने सहज आनन्द का भोग करती है। भोज ने

इस रस-प्रक्रिया को थोड़े भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। आत्मा का विशिष्ट धर्म है अहंकार—यह अहंकार ही रति आदि विभिन्न भावों को जन्म देता है। काव्य में इन भावों का वर्णन पढ़कर प्रमाता अपने अहंकार का आस्वादन करता है। भावों के माध्यम से अहंकार का यह आस्वादन ही रस है और आत्म-रमण रूप होने के कारण इसका ही नाम शृंगार है। प्रमाता काव्यगत रत्यादि भावों का आस्वादन नहीं करता, वरन् उनके माध्यम से अहंकार का ही आस्वादन करता है। इस प्रकार दोनों के मत से भावों के माध्यम से आत्मा के आस्वाद का नाम ही अन्ततः रस है। भेद केवल विवरण का है; अभिनव जहाँ अन्य रसों को मूलरस के रूपान्तर मानते हैं, वहाँ भोज उन्हें रस न मानकर मूलरस से उत्पन्न भाव मात्र मानते हैं। उधर अग्निपुराण के रति-सिद्धान्त और भोज के शृंगार-सिद्धान्त में तो केवल शब्दों का ही भेद है।

अद्भुत का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल है। (१) धर्मदत्त के उपर्युक्त उद्धरण में चमत्कार का प्रयोग निर्विघ्न संवित् या आनन्द के रूप में न होकर विस्मय के अर्थ में ही हुआ है, और यही इसका मौलिक दोष है क्योंकि रस का सार विस्मय नहीं वरन् आह्लाद है। यह आह्लाद सामान्य लौकिक आह्लाद से कुछ रूपों में भिन्न है, और इस दृष्टि से अंशतः असाधारण भी है; फिर भी यह अद्भुत रस के स्थायी भाव 'विस्मय' का पर्याय नहीं माना जा सकता। काव्य-सौन्दर्य के आस्वाद में विस्मय स्थायी न होकर संचारी ही होता है। अतः चमत्कार के गौण अर्थ के आधार पर अद्भुत को मूल रस सिद्ध करना तर्कसंगत नहीं है। (२) आगे चलकर भारतीय साहित्य में तथा पाश्चात्य साहित्य में भी 'चमत्कार', 'लोकोत्तर' आदि शब्दों का स्थूल अर्थ में आश्चर्यजनक तत्त्वों के लिए प्रयोग होने लगा और इन शब्दों की अर्थ-विकृति के साथ ही काव्य-मूल्यों में भी विकृति आने लगी, चमत्कार कुतूहल का पर्याय होकर रसवादी काव्य-मर्मज्ञों के लिए क्षोभ का कारण बन गया।

भक्तिरस की स्थापना वैष्णव आचार्यों ने आध्यात्मिक एवं साम्प्रदायिक स्तर पर की है, अतः उनके तर्कों की काव्यशास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक परीक्षा सम्भव नहीं है। वैष्णव भक्तों के लिए जो कृष्ण के मधुर रूप के उपासक हैं, मधुररस निश्चय ही रसराज है और वही मूलरस है। हास्य, वीर, आदि रस जो जीवन की विभिन्न भाव-वृत्तियों पर आश्रित हैं, भक्तिरस के अंग हैं या संचारी भाव हैं क्योंकि जीवन की ये विभिन्न वृत्तियाँ अन्ततः मधुरभाव को ही पुष्ट करती हैं—उसी में इनकी सार्थकता है। किन्तु इस स्थापना की सिद्धि भक्ति के क्षेत्र में, आध्यात्मिक स्तर पर ही, सम्भव है; काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आध्यात्मिक तर्कों का आश्रय लेने से काम नहीं चलेगा।

एक रस की कल्पना का आरम्भ वास्तव में रस के दार्शनिक विवेचन के साथ होता है। भरत की दृष्टि व्यावहारिक एवं वस्तुपरक थी : नाट्य उनके लिए लोक-जीवन के वैविध्य का अनुकरण था, अतः रस का वैविध्य भी उन्हें यथावत् मान्य था। अभिनवगुप्त ने प्रसिद्ध भरत-सूत्र—**'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'** में प्रयुक्त एक वचनान्त रस शब्द के आधार पर जो रस की अद्वैतता सिद्ध की है, वह उनके अपने अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रक्षेपण है। भरत का एकवचन-प्रयोग सामान्य व्याकरणिक प्रयोग है, दार्शनिक प्रतिपत्ति नहीं है। कहने

का अभिप्राय यह है कि भरत को नानारसत्व ही अभीष्ट था, एकरसत्व नहीं—क्योंकि वह उनकी व्यवहार-दृष्टि के विपरीत पड़ता है। किन्तु आगे चलकर जब अभिनव के सर्वव्यापी प्रभाव के फलस्वरूप शैवाद्वैत के आधार पर रस-सिद्धान्त की व्याख्या हुई तो रस की अद्वैतता अनिवार्य हो गयी : रस का अर्थ आत्मास्वाद सिद्ध हो जाने पर तो इसके अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रह गया कि रस को एक, अखण्ड तथा वेद्यान्तरस्पर्शशून्य माना जाए। अभिनव ने बड़े प्रामाणिक शब्दों में अतर्क्य आत्मविश्वास के साथ घोषणा की है : अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते × × × × केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः। —अर्थात् हमारे मत में तो आनन्दमय ज्ञानस्वरूप [आत्मा] का ही आस्वादन (रस रूप) होता है। × × × केवल उस [आनन्दमय विज्ञानस्वरूप] की विचित्रता के सम्पादन के लिए रति, शोक, आदि संस्कारों का [स्थायिभावों] का व्यापार होता है। और उनके उद्बोधन के लिए अभिनयादि का व्यापार होता है। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५०७)। इस आत्मास्वाद रूप रस को जो परमार्थतः एक ही है किस नाम से अभिहित किया जाए ? वीतराग अभिनव ने अपनी प्रकृति के अनुकूल आत्मज्ञान को महत्त्व देते हुए इसे शान्त नाम दिया और रागी भोजराज ने आत्मरति या आत्म-रमण का प्राधान्य स्वीकार करते हुए इसे ही शृंगार कहा। किन्तु यह भेद केवल नाम का है, स्वरूप का नहीं। शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादियों ने शान्त और शृंगार के विवाद को मिटाने के लिए 'आनन्द रस' नाम अधिक व्यापक और उपयुक्त समझा—प्रसाद के मतानुसार "अभिनवगुप्त ने नाट्य रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया है।"[1] वैष्णव आचार्यों ने भी आनन्दवादी अद्वैत सिद्धान्त के अनेक तत्त्वों को यथावत् स्वीकार करते हुए द्वैत की भूमिका पर भक्ति रस को मूल आनन्द रस या शृंगार रस के समकक्ष प्रायः इन्हीं तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित किया है।—इनके अतिरिक्त एकरस की सिद्धि के जो दो अन्य प्रयास किये गये, उनका आधार दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यिक ही अधिक था। भवभूति का दृष्टिकोण रागात्मक था, रस एक रागात्मक अनुभव है और राग का मूलरूप है संवेदना या सहृदयता, अतः मूलरस वह है जो सर्वाधिक संवेदनात्मक हो—अर्थात् करुण। नारायणपण्डित और उनका अनुसरण करने वाले धर्मदत्त ने आलंकारिक दृष्टि से अद्भुत को आधारभूत रस माना है। उन्होंने चमत्कार का आनन्द-वाचक अर्थ ग्रहण न कर वैचित्र्यपरक अर्थ ही ग्रहण किया है और यह वैचित्र्यपरक चमत्कार कल्पना का ही चमत्कार है जो अलंकारवाद का प्राणतत्त्व है। इनके अनुसार चूँकि प्रत्येक रस का परिपाक कल्पना के द्वारा होता है, अतः कल्पना-जन्य वैचित्र्य या चमत्कार ही रस का प्राण है और चूँकि कल्पनाजन्य चमत्कार प्रमाता के मन में विस्मय जगाता है अतः रसास्वाद का मूल आधार विस्मय ही है जो कि अद्भुत रस का स्थायी भाव है—इसलिए अद्भुत ही मूलरस है। इस प्रकार भवभूति और नारायण-पण्डित के अभिमत क्रमशः राग तथा कल्पना को काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार करते वाले

---

[1] काव्यकला तथा अन्य निबन्ध (चतुर्थ संस्करण) पृ० ७२

सिद्धान्तों के ही सहज परिणाम हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि अनेकता में एकता का अनुसन्धान भारतीय चिन्ताधारा की मुख्य प्रवृत्ति रही है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी यह प्रवृत्ति निरन्तर सक्रिय रही; इसके परिणामस्वरूप काव्य की आत्मा का अनुसन्धान करने के विविध प्रयास हुए और विविध काव्य-सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई। रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी यह प्रवृत्ति कार्य करती रही और रस की आत्मा के भी अनुसन्धान के लिए प्रयत्न जारी रहे। दार्शनिकों ने आनन्द को रस का प्राण माना और उसके अनुसार आत्म-ज्ञान रूप शम या आत्मभोग रूप शृंगार को मूलरस घोषित किया; भावुकों ने राग या संवेदना को रस की आत्मा माना जिसके फलस्वरूप करुण की मूलरस रूप में प्रतिष्ठा हुई—और, विदग्धों या आलंकारिकों ने कल्पना-तत्त्व को रस का सार मानते हुए अद्भुत का अभिषेक किया। उपर्युक्त स्थापनाएँ इसी दृष्टिभेद के परिणाम हैं। रस में चूँकि तीनों तत्त्वों का समन्वय है, इसलिए सत्य का अंश कदाचित् तीनों में हो सकता है। परन्तु, चूँकि रस में इन तीनों तत्त्वों अर्थात् आनन्द, राग और कल्पना का अनुपात समान न होकर इसी क्रम से तारतम्यिक है (आनन्द का सर्वाधिक क्योंकि रस अन्ततः आनन्द-रूप ही है, राग का उससे कम क्योंकि राग की परिणति अन्ततः आनन्द में ही हो जाती है और कल्पना का उससे भी कम क्योंकि कल्पना राग का संयोजन करती हुई अन्ततः आनन्द का साधन करती है), इसलिए उपर्युक्त तीनों स्थापनाओं में भी सत्य का अंश इसी क्रम से तारतम्यिक मानना पड़ेगा। —अभिनव और भोज का सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक मान्य हो सकता है, भवभूति का सिद्धान्त भी काफ़ी हद तक ग्राह्य है जबकि नारायणपण्डित के सिद्धान्त की मान्यता आंशिक ही हो सकती है।

विवेचन

रसों की संख्या का निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि रस के स्वरूप और उसके निष्पादक तत्त्वों के विषय में हमारी धारणाएँ स्पष्ट हो जाएँ क्योंकि ये धारणाएं ही अन्ततः रस-निर्णय की कसौटी का काम देंगी। रस के स्वरूप के विषय में दो दृष्टिकोण हैं: एक वस्तुपरक जिसके अनुसार रस भावमूलक कलात्मक स्थिति है और दूसरा आत्मपरक जिसके अनुसार रस भाव की भूमिका में आत्मा का आस्वाद है। पहली परिभाषा के अनुसार रस की निष्पत्ति नाट्य में—रंगमंच पर, होती है। नाट्य लोक-जीवन के अनुकरण का नाम है और लोक-जीवन ऐसे व्यापारों का संघात है जो भाववृत्तियों द्वारा संचालित रहते हैं। अतः नाट्य में भावमूलक स्थितियों का कलात्मक प्रदर्शन किया जाता है—ये ही नाट्यरस हैं। जीवन की ये भावमूलक स्थितियाँ यों तो असंख्य हो सकती हैं; किन्तु प्रमुख या स्थायी भावों के आधार पर, जो मूलतः आठ हैं, इन स्थितियों के भी सामान्यतः आठ वर्ग किये जा सकते हैं—शेष का इन्हीं में अन्तर्भाव हो सकता है। अन्य स्थितियों की भी कल्पना सहज ही की जा सकती है, किन्तु स्थायी भाव चूँकि आठ ही हैं, अतः ये नवीन स्थितियाँ भी किसी न किसी प्रकार इन भावों से सम्बद्ध होने के कारण उपर्युक्त आठ वर्गों में ही अन्तर्भूत की जा सकती हैं, या फिर वे ऐसी स्थितियाँ हो सकती हैं जो सभी को पूर्ण रूप से प्रभावित करने में असमर्थ हों। दूसरी परिभाषा के अनुसार रस भाव की भूमिका में आत्मा का

आस्वाद है; आत्मा का आस्वाद होने के कारण उसका मूल रूप तो अखण्ड और एक है किन्तु भावों की अनेकता के कारण रस के बाह्य रूप भिन्न हो जाते हैं। यहाँ भी रसों की संख्या स्थायी भावों की संख्या पर निर्भर है। अतः यह सिद्ध हुआ कि हम चाहे रस की वस्तुपरक परिभाषा को स्वीकार कर चलें या आत्मपरक परिभाषा को, रस-संख्या का निर्णय स्थायी भावों की संख्या के ही आधार पर किया जा सकता है।

स्थायी भाव के निर्णय की कसौटी चतुर्मुखी है : स्थायित्व, प्रबलता, पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता और साधारणीकृत होने की क्षमता। इनके अतिरिक्त आधुनिक रसवादियों ने—उदाहरण के लिए, मराठी विद्वान् डा० वाटवे ने दो और गुणों की कल्पना की है : मूलवृत्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थात् मौलिकता और औदात्त्य या परिष्कृति। परिणामतः रस के मूल धर्म भी ये ही सिद्ध होते हैं—अर्थात् रस के निर्णायक तत्त्व छह हैं : १. (अपेक्षाकृत) स्थायी प्रभाव, २. सार्वभौम स्वीकृति, ३. रंजनाधिक्य या उत्कट आस्वाद्यमानता, ४. मनुष्य की किसी न किसी मूलवृत्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध, ५. जीवन के परमपुरुषार्थों के प्रति उपयोगिता, और ६. परिष्कृत अनुभूति। इस कसौटी पर कसने से शृंगार, हास्य, वीर, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक और अद्भुत का रसत्व तो बिना विशेष आयास के ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि इन सभी का प्रभाव स्थायी एवं व्यापक होता है, जीवन की मूलवृत्तियों के साथ इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और ये सभी उत्कट रूप से आस्वाद्यमान भी हैं। बीभत्स और रौद्र के सम्बन्ध में मराठी के विद्वानों ने आस्वाद्यमानता के आधार पर आपत्ति की है, किन्तु ये दोनों भी उसी तर्क से आस्वाद्य हैं जिस तर्क से कि करुण और भयानक। राग के समान ही द्वेष भी जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है—घृणा, क्षोभ, उद्वेग आदि का मनुष्य के जीवन-व्यापार में अत्यन्त प्रमुख स्थान है। संसार में इतना कुछ है जो कुरूप है, क्षोभण और उद्वेगकर है कि काव्य या नाट्य, जो जीवन का सजीव चित्र होता है, उससे मुक्त कैसे हो सकता है ? अतः रौद्र को वीर में अन्तर्भुक्त कर और बीभत्स की आस्वाद्यता में सन्देह कर उनके रसत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। भरत-प्रतिपादित आठ रसों के अतिरिक्त नवम रस शान्त भी प्रायः सर्वमान्य ही हो गया है और उपर्युक्त निकष पर उसका रसत्व भी निश्चयपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है। स्थायी प्रभाव, परिष्कृत एवं उदात्त अनुभूति, आस्वाद्यमानता, पुरुषार्थोपयोगिता आदि गुण उसमें अन्य सभी रसों की अपेक्षा अधिक हैं। मौलिक मनोविकार चाहे शम को न माना जाए किन्तु मानव-चेतना की प्रकृतावस्था होने के कारण वह मूलवृत्तियों का भी मूल है। इसी प्रकार यह आक्षेप भी अधिक संगत नहीं है कि वह समस्त भावों की समाहिति मात्र है, स्वतन्त्र भाव नहीं है; क्योंकि चित्त की यह समाहित अवस्था भी तो **स्वतन्त्र रूप में** अनुभव का विषय है; साथ ही यह आपत्ति भी अधिक मान्य नहीं है कि शम का अनुभव केवल वीतराग पुरुष ही कर सकते हैं साधारण, सवासन मनुष्य नहीं, क्योंकि चित्त की प्रकृतावस्था के अनुभव से वंचित कौन हो सकता है, विकृतियों के कारण यह अनुभव विरल हो सकता है, किन्तु इसका अभाव तो नहीं हो सकता।

इनके अतिरिक्त बीस-बाईस नाम और रह जाते हैं। यदि निरसन-पद्धति का अवलम्बन करें तो इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनका सहज ही खण्डन किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए, साध्वस, पारवश्य, विलास का भोज ने नामोल्लेख मात्र किया है, स्थापना नहीं की; लौल्य, कार्पण्य, सुख, दुःख, मृगया, द्यूत और व्यसन का उल्लेख केवल खण्डन करने के लिए किया गया है; व्रीडनक की स्थापना किसी प्रतिष्ठित आचार्य ने नहीं की, केवल एक जैन-सूत्र में उसका उल्लेख है और वैसे भी वह व्रीड़ा 'भाव' के अन्तर्गत ही आ जाता है; उदात्त और उद्धत की उद्भावना नाटक के चार नायक-भेदों के साथ संगति बैठाने के लिए की गयी है जो अपने आप नवीन-रस-कल्पना के लिए पर्याप्त आधार नहीं है क्योंकि औदात्त्य और औद्धत्य चारित्रिक वृत्तियाँ हैं, चित्तवृत्तियाँ नहीं हैं; माया की कल्पना भानुभट्ट ने अभिनवगुप्त के शान्त रस के विपर्याय रूप में उसी तर्क-पद्धति पर की है, वह वास्तव में स्वतन्त्र मनोवेग या चित्तवृत्ति न होकर समस्त वासनाओं एवं भाववृत्तियों या मनोवेगों की मूल प्रेरणा है जिसका पृथक् आस्वाद्य रूप नहीं होता; क्रान्ति चित्तवृत्ति तो है क्योंकि मनुष्य के चित्त में विद्रोह की प्रवृत्ति जन्मजात भी हो सकती है और होती है, किन्तु उसका मनोवेगात्मक रूप उत्साह, क्रोध (और कुंठित अवस्था में) शोक आदि से पृथक् नहीं होता; इसी प्रकार उद्वेग तथा प्रक्षोभ का वर्तमान साहित्य में प्राचुर्य्य होने पर भी वे स्वतन्त्र रसत्व के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि इन दोनों में करुणा, क्रोध, जुगुप्सा के दोनों भेदों में से कोई एक—क्षोभ या उद्वेग या दोनों ही मिले-जुले रहते हैं; अतः कहीं करुणा का प्राधान्य होने से इनका अन्तर्भाव करुण में हो सकता है, कहीं अमर्ष की प्रमुखता के कारण क्रोध में और कहीं क्षोभ आदि के प्राधान्य से यह भावदशा तक ही विकसित माना जा सकता है।

अब कतिपय ऐसे रस रह जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा एकाधिक आचार्यों द्वारा की गयी है : प्राचीन आचार्यों के प्रेयान् (सख्य), वात्सल्य, भक्ति और नवीन आलोचकों के प्रकृति तथा देशभक्ति रस। इनके विषय में एक विकल्प तो यह है कि शृंगार के स्थान पर प्रेम रस की व्यापक कल्पना करते हुए इन सभी को उसके भेद मान लिया जाए। इस स्थापना के पीछे तर्क यह है कि उपर्युक्त रसों के स्वतन्त्र स्थायी भाव नहीं हैं वरन् सभी का स्थायी भाव प्रेम है जो आलम्बन के भेद से विभिन्न रूप धारण कर लेता है : नर-नारी का प्रेम शृंगार, मित्र के प्रति प्रेम प्रेयान् या सख्य, सन्तान या सन्तान-तुल्य व्यक्तियों के प्रति प्रेम वात्सल्य, इष्ट के प्रति प्रेम भक्ति, प्रकृति के प्रति प्रेम प्रकृति-रस और देश के प्रति प्रेम देश-भक्ति बन जाता है। और, चूँकि स्वतन्त्र रस की सिद्धि आलम्बन-भेद से नहीं वरन् स्थायी के भेद से ही हो सकती है, अतः ये सभी स्वतन्त्र रस न होकर प्रेम-रस के भेद मात्र हैं। हिन्दी में आचार्य शुक्ल और मराठी के डा० वाटवे का यही मत है। अवचेतन मनोविज्ञान के धरातल पर फ्रायड आदि की स्थापनाओं से भी प्रायः इसकी सम्पुष्टि की जा सकती है। इस प्रकार वर्गीकरण की समस्या तो सुलझ जाती है किन्तु सहृदयता का परितोष नहीं होता क्योंकि कोई विदग्ध प्रमाता यह मानने को तैयार नहीं होगा कि काव्य के क्षेत्र में शृंगार और वात्सल्य या देशभक्ति और प्रकृति-रस का अनुभव सर्वथा समान होता है। अतएव इन रसों के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में कुछ अधिक विचार-विमर्श अपेक्षित है। प्रेयान् या सख्य का स्थायी भाव है सख्य-भाव या मित्र-प्रेम। काव्य में वर्णित मैत्री-प्रसंगों, जैसे महा-भारत आदि में कर्ण के मित्र-प्रेम, 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' में एण्टोनिओ-बैसेनिओ के सख्य-भाव

आदि का विश्लेषण करने पर, उनमें प्रेम, उत्साह, शोक आदि विभिन्न भावों का सम्मिश्रण मिलता है। यह प्रेम काममूलक न होने के कारण शास्त्रसम्मत शृंगार के अन्तर्गत नहीं आता—**शृंगं हि मन्मथोद्भेदः**; और चूँकि उत्साह, शोक आदि भाव भी यहाँ स्वतन्त्र न होकर प्रेम-प्रसूत ही होते हैं अतः वीर या करुणादि के अन्तर्गत भी उसे कैसे न माना जाय? किन्तु फिर प्रश्न यह उठता है कि क्या इस सख्य भाव में इतनी उत्कट आस्वाद्यमानता है कि इसे रस की संज्ञा दी जाए? इसका उत्तर यह है कि वास्तव में मैत्री मनोवेग न होकर मनोवृत्ति (सेण्टिमेण्ट) ही है और अपने प्रकृत रूप में इसका आस्वाद इतना उत्कट नहीं होता कि उसे भाव से आगे रस-कोटि का मान लिया जाए: उत्कटता जहाँ कहीं इसमें आती है वहाँ उसका कारण मैत्री-जन्य कोई अन्य प्रबल भाव जैसे उत्साह, शोक आदि ही होता है। उदाहरण के लिए, कर्ण के मैत्रीपूर्ण उद्‌गारों में प्रधानतः आस्वाद्य उत्साह है और 'मर्चेण्ट ऑफ़ वेनिस' की चरम घटना में रस का परिपाक सम्भावित अनिष्ट के प्रति मैत्री-जन्य शोक के आधार पर ही होता है। अतः सख्य-रस की स्वतन्त्र सत्ता की मान्यता कठिन ही है। वात्सल्य का पक्ष निश्चय ही अधिक प्रबल है: वत्सल भाव मातृवृत्ति का मनोमय अनुभव है और मातृवृत्ति निश्चय ही जीवन की अत्यन्त मौलिक वृत्ति है; पुत्रैषणा जीवन की सर्वाधिक प्रबल एषणा है जिसका जीवन के दो परम पुरुषार्थों धर्म और काम से घनिष्ठ सम्बन्ध है; इसका प्रभाव अत्यन्त स्थायी एवं सार्वभौम तथा इसका अनुभव अत्यन्त उत्कट होता है। अतः वात्सल्य के रसत्व का निषेध सम्भव नहीं है, न उसका शृंगार आदि में अन्तर्भाव उचित है और न केवल भाव-कोटि तक ही उसका विकास मानना ठीक होगा। फिर भरतादि ने इसकी गणना क्यों नहीं की? इसके अनेक कारण हो सकते हैं—एक अनुमानित कारण यह भी हो सकता है कि भरत के लिए रस का सीधा सम्बन्ध नाट्य से था और नाट्य में वात्सल्य के प्रमुख आलम्बन बालक तथा उसकी उद्दीपक क्रीड़ाओं का आयोजन कठिन रहा होगा और आज भी कठिन है; अतः नाट्यरसों से वात्सल्य का, व्यावहारिक दृष्टि से ठीक वैसे ही बहिष्कार कर दिया गया जैसे कि युद्ध, अभियान आदि प्रसंगों का नाट्य-दृश्यों से। अब भक्ति को लीजिए। प्राचीन आचार्यों ने भक्ति—अर्थात् भगवद्रति को केवल 'भाव' माना है, रस नहीं, क्योंकि उसका पूर्ण परिपाक नहीं होता; उधर भक्त आचार्यों ने उसके उत्तर में भक्ति को आद्य रस तथा शृंगारादि को 'भाव' मात्र घोषित किया है। भक्ति-रस के विषय में पहला प्रश्न यह है कि उसका आस्वादयिता कौन है—सहृदय या भक्त? अर्थात् उसके रसत्व का विचार अन्य काव्य-रसों के समान सहृदय की दृष्टि से करना है या भक्त की दृष्टि से? इसका स्पष्ट उत्तर है—सहृदय की दृष्टि से, क्योंकि रस शब्द हमारे लिए, या काव्यशास्त्र के प्रसंग में, काव्य-रस का ही वाचक है और इसलिए भक्ति-रस की परीक्षा भी हमें काव्य-रस के निकष पर ही करनी है। अब सवाल उठता है कि क्या भगवद्रति भी रति, शोक आदि की भाँति ही स्थायी भाव है, अर्थात् प्रत्येक सहृदय के चित्त में वासना रूप से विद्यमान रहती है? आस्तिक (भक्त) के पास इसका अतर्क्य उत्तर है और वह यह कि आत्मा का परमात्मा से नित्य सम्बन्ध है जो सांसारिक रागद्वेष के कारण धूमिल पड़ जाने पर भी मानव-चेतना में स्थायी रूप से विद्यमान रहता है। किन्तु

आज इसे यथावत् स्वीकार करना आसान नहीं है। किसी परोक्ष सत्ता के प्रति जिज्ञासा, विस्मय, प्रच्छन्न भय तथा अधीनता का भाव, महत्त्व-स्वीकृति एवं तज्जन्य आदर-भाव मानव-संस्कार के अंग हो सकते हैं और सामाजिक अथवा आनुवंशिक परम्परा के कारण ये संस्कार मनुष्य की चेतना में दास्य, सख्य, वात्सल्य, दाम्पत्य आदि भावों का रूप भी धारण कर सकते हैं; किन्तु ये भाव मौलिक एवं स्थायी नहीं हैं, संसर्ग (परम्परा) तथा अभ्यास (साधना) आदि द्वारा अर्जित हैं—परोक्ष आलम्बन पर प्रकृत भावों के आरोपण हैं। अतः वैष्णवों तथा अन्य भक्तों की भगवद्रति को मौलिक भाव मानना कठिन है; भक्त के लिए यह प्रकृत भाव हो सकता है किन्तु सामान्य सहृदय के लिए नहीं जो रस का वास्तविक अधिकारी है। साम्प्रदायिक मधुर भाव आदि के साधारणीकरण की कठिनाई का यही मूल कारण है; इसीलिए जिन मधुर प्रसंगों के श्रवण-मनन से भक्त चिन्मय भक्तिरस से विह्वल हो जाता है उनमें सामान्य सहृदय केवल शृंगार रस का अनुभव करता है। रस के अन्य तत्त्वों—पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता, परिष्कृत अनुभूति आदि के विषय में तो शंका ही क्या हो सकती है, क्योंकि भक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष के साथ है। किन्तु उत्कट आस्वाद्यमानता का प्रश्न फिर भी विचारणीय है : क्या प्रमाता काव्यगत भक्ति का प्रास्वादन उसी प्रकार उत्कट रूप में करता है जिस प्रकार कि रति, उत्साह आदि भावों का ? सूरसागर के विविध प्रसंगों या मीरा के माधुर्य भाव से पगे गीतों की उत्कट आस्वाद्यता इसका प्रमाण है; केवल भक्त ही नहीं प्रत्येक सहृदय इनका पूर्णतः आस्वादन करता है। पर क्या भक्त और सहृदय का आस्वादन समान होता है ? मैं समझता हूँ—नहीं, क्योंकि भक्त को शुद्ध सहृदय नहीं माना जा सकता : उसकी सहृदयता विशिष्ट संस्कारों से 'वासित' होने के कारण काव्यशास्त्रीय अर्थ में शुद्ध नहीं रह पाती। अतः भक्त का अनुभव साधारणीकृत अनुभव नहीं होता; उसके अनुभव का साधारणीकरण भक्तवर्ग में तो हो जाता है किन्तु सामान्य सहृदय-समाज में नहीं हो पाता। फिर सूर के सरस प्रसंगों की आस्वाद्यता का क्या रहस्य है ? विनय के पदों में पूर्ण आत्म-समर्पण की अभिव्यक्ति है। सहृदय के चित्त में भी अज्ञात विराट् शक्ति के प्रति समर्पण का यह भाव, जो भय-विस्मय-प्रेम-विश्वासमूलक होता है, वासना रूप से विद्यमान रहता है और विनय के पदों में विभावादि के सजीव चित्रण से उद्‌बुद्ध होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यहाँ शंका हो सकती है कि क्या यह 'समर्पण' भाव स्थायी भाव है; हमारा निवेदन है कि—हाँ, है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मिश्र भाव है—क्रोध, भय आदि की भाँति शुद्ध नहीं है, किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि हम सिद्ध कर चुके हैं कि काव्यगत समस्त स्थायिभाव 'शुद्ध' नहीं हैं—शम, विस्मय और स्वयं रसराज शृंगार का स्थायी भाव रति भी मिश्र भाव हैं। अतः रसनीयता में किसी भाव का मिश्र रूप बाधक नहीं होता; किन्तु भाव मौलिक होना चाहिए, उसका सम्बन्ध मानव-वासनाओं से होना चाहिए जिससे कि साधारणीकरण हो सके, अर्थात् प्रत्येक सहृदय चित्त की निर्विघ्न स्थिति में उसका आस्वादन कर सके। इस दृष्टि से विचार करने पर भक्ति के इस अनन्य रूप का रसत्व सिद्ध हो जाता है; आज प्रमाता के बौद्धिक संस्कार रस-प्रतीति में बाधा उपस्थित करते हैं परन्तु मध्ययुगीन कवि के अनुभव की तीव्रता प्रमाता

के अनुभव की क्षतिपूर्ति सहज ही कर लेती है। रूप-माधुरी तथा शृंगार के पदों की रसनीयता का आधार है रति किन्तु अपार्थिव आलम्बन के प्रति होने के कारण (शृंगार के पदों में आश्रय और आलम्बन दोनों ही अलौकिक हैं) यह सामान्य, लौकिक रति न होकर रति का उदात्त रूप है; उन्नयन की इस प्रक्रिया में आलम्बन के चिन्मय रूप के प्रभाव से ऐन्द्रिय तत्त्वों का क्षय हो जाने से अनुभूति का अत्यन्त परिष्कार हो जाता है। अतः इस रति की आस्वाद्यता भी सर्वथा असंदिग्ध है। सामान्य रस-प्रक्रिया में जहाँ विभावों की लौकिकता विघ्नरूप में रहती है और कवि को अपनी कल्पना के द्वारा उसका निराकरण करना पड़ता है, वहाँ प्रस्तुत प्रसंग में विभावादि की अलौकिकता के कारण यह बाधा ही नहीं रहती और रस की सिद्धि अपेक्षया सरल हो जाती है। अतः भक्ति का स्थायी चाहे भय-विस्मय-प्रेम-विश्वास-मूलक समर्पण-भाव हो या चिन्मय (उदात्तीकृत) रति, उसकी आस्वाद्यता और परिणामतः उसके रसत्व में सन्देह नहीं किया जा सकता। अन्य रसों में अन्तर्भाव भी इसलिए सिद्ध नहीं होता कि भक्ति का स्थायी न शुद्ध विस्मय है, न भय है, न शम है और न काममूलक रति—इन सभी तत्त्वों के मिश्रण से निर्मित वह एक पृथक् भाववृत्ति ही है अतः उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध भी सम्भव नहीं है—न सिद्धान्ततः और न व्यवहारतः। इस प्रकार व्यापक या सामान्य रूप में भक्ति-रस की सिद्धि हो जाती है क्योंकि व्यापक रूप में वह सर्व-(सहृदय)-गम्य है; किन्तु साम्प्रदायिक-रूप में काव्यशास्त्र की दृष्टि से उसकी सिद्धि सम्भव नहीं होती क्योंकि एक तो वह साक्षात् अनुभव की कोटि में ही आता है और दूसरे केवल भक्तगम्य होने के कारण उसका साधारणीकरण भी नहीं हो पाता।

प्रकृति-रस की कल्पना नयी है और इसका कारण है आधुनिक युग में प्रकृति-काव्य का प्राचुर्य। प्रकृति का काव्य में अनेक रूपों में वर्णन मिलता है। मानव के जीवन-व्यापारों की भूमिका के रूप में, विभिन्न भावों के उद्दीपन के रूप में, नाना अनुभूतियों—विशेषतः रहस्यानुभूति के माध्यम या प्रतीक रूप में, अलंकार-सामग्री के रूप में और आलम्बन के रूप में। इनमें से प्रथम तथा द्वितीय रूप प्रायः समान ही हैं; भूमिका रूप में भी प्रकृति भावों के उद्दीपन का ही कार्य करती है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं परोक्ष रूप से। भेद केवल इतना है कि भूमिका रूप में प्रकृति स्वतन्त्र वर्णन का विषय रहती है और पाठक का मन कुछ समय तक उसमें रमने के बाद फिर इस वर्णन द्वारा उद्दीप्त भाव के आस्वादन में प्रवृत्त होता है, जबकि उद्दीपन रूप में प्रयुक्त प्रकृति प्रत्यक्षतः भाव को उत्तेजित करती है। प्रतीक रूप में भी वह रहस्यानुभूति अथवा प्रेम, विस्मय आदि किसी अन्य भाव के आस्वाद की माध्यम मात्र होती है। किन्तु आलम्बन रूप में वह भाव का विषय ही बन जाती है; कवि का और फिर पाठक का, सीधा उसके साथ ही रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृति-काव्य में अभिव्यक्त या उसके द्वारा प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध यह भाव निश्चय ही आस्वाद्य होता है; इतने उत्कट रूप में तो नहीं जितना कि रति, उत्साह आदि का भाव हो सकता है, किन्तु आस्वाद्य वह निश्चय ही होता है और उसमें तन्मयीकरण की शक्ति भी निस्सन्देह होती है। इसलिए उसकी रसनीयता और उसी के आधार पर उसका रसत्व भी सिद्ध तो हो जाता है। किन्तु, क्या इस रस का स्वतन्त्र अस्तित्व है या वह अन्य किसी रस

में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह निर्णय करना आवश्यक है कि प्रकृति के प्रति कवि या पाठक के भाव का क्या स्वरूप है, अर्थात्—इस रस का स्थायी भाव क्या है ? काव्य में प्रायः प्रकृति के तीन प्रकार के चित्रण मिलते हैं—मधुर, विराट् और भयानक या रौद्र जिसमें प्रकृति के दाँत और पंजे मानव-रक्त से रंजित रहते हैं। स्वभावतः इन तीनों रूपों के प्रति पाठक की समान प्रतिक्रिया नहीं होती : मधुर रूप के प्रति उन्मुखी भाव या रतिभाव होता है, विराट् रूप के प्रति ओज एवं विस्मय के भाव का उदय होता है तथा भयानक के प्रति भय का—और इन तीनों अवस्थाओं में रस का स्वरूप भी स्थायी के अनुसार भिन्न-भिन्न ही होता है, अतः प्रकृति-रस का कोई एक विशिष्ट स्वरूप नहीं माना जा सकता और जब उसका स्वरूप एक नहीं है तो स्वतन्त्र रसत्व की कल्पना कैसे सार्थक हो सकती है ? कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति काव्य की रसनीयता तो निश्चित है किन्तु स्वतन्त्र प्रकृति-रस की उद्भावना न आवश्यक है और न संगत। कतिपय विद्वानों ने सौन्दर्य-वृत्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हुए उसे ही प्रकृति-रस का स्थायी भाव माना है। इसमें सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के प्रति उन्मुखीभाव मनुष्य में जन्मजात होता है, किन्तु उसका अनुभवात्मक रूप पृथक् या विशिष्ट नहीं होता। सुन्दर पदार्थ के प्रति आकर्षण का अनुभव हम हर्ष, विस्मय या अधिक से अधिक लोभ या प्रेम के रूप में ही करते हैं। अतः इस दृष्टि से भी उसके पृथक् अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती। आचार्य शुक्ल ने काव्यक्षेत्र के बाहर भी साक्षात् प्रकृति-रस की कल्पना की है। उनके मत से हृदय की मुक्तावस्था का नाम रस है। काव्य अथवा कला इसलिए सरस है कि उसके मनन से सहृदय का चित्त व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्त—निर्लिप्त भाव का आस्वादन करता है; और चूँकि, प्रकृति के साक्षात्कार से भी चित्त व्यक्तिगत राग-द्वेष से मुक्त होकर वैशद्य का अनुभव करता है, इसलिए प्रकृति के इस साक्षात् अनुभव को भी रस न कहने का कोई कारण नहीं है। इस विषय में हमारा निवेदन यह है कि शास्त्र में साक्षात् अनुभव को चाहे वह सुखमय हो या दुःखमय या शान्तिमय, लिप्त हो या निर्लिप्त, रस नहीं माना गया। प्रकृति के साक्षात्कार के क्षणों में ही नहीं जीवनगत अनेक स्थितियों में—जैसे कर्तव्य-पालन के समय, धार्मिक सत्संग आदि में हमारा चित्त व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त होकर नैर्मल्य का अनुभव करता है; किन्तु इस प्रकार के अनुभवों को शास्त्रीय दृष्टि से रस तो नहीं कहा जा सकता : रस शब्द का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक ही माना जायगा।

प्रकृति-रस की भाँति देशभक्ति-रस की उद्भावना भी आधुनिक आलोचकों ने पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय काव्य के आलोक में ही की है। जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है, देशभक्ति मिश्र भाव है जिसमें राग और उत्साह का संयोग रहता है। (देखिए : राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ)। देशभक्ति की काव्यगत अभिव्यक्ति अनेक रूपों में मिलती है—कहीं वह मातृभूमि के प्रति शुद्ध रति-भाव के रूप में है तो कहीं उसके निवासियों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति के रूप में, कहीं उसकी अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति अदम्य उत्साह रूप में है तो कहीं बाधक शक्तियों के विरुद्ध उग्र अमर्ष के रूप में, कहीं प्राचीन गौरव के प्रति गर्व-मिश्रित

अभिमान के रूप में है तो कहीं वर्तमान दुर्दशा के लिए तीव्र करुणा, उद्वेग अथवा प्रक्षोभ के रूप में मिलती है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता आधुनिक भारतीय साहित्य की अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति है जिसकी उत्कट आस्वाद्यमानता में सन्देह करने का अर्थ है: रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं। किन्तु प्रश्न यही है कि क्या यह स्वतन्त्र रस है? इसका उत्तर भी प्रायः वही है जो प्रकृति-रस के संदर्भ में हम दे चुके हैं—अर्थात् देशभक्ति के प्रमुख रूपों का अन्तर्भाव तो वीर, करुण आदि में हो सकता है; शुद्ध रागात्मक रूप की व्यवस्था या तो व्यापक प्रेमरस के अन्तर्गत की जा सकती है या उसे देश-विषयक रति 'भाव' माना जा सकता है। वास्तव में इसकी भी पृथक् कल्पना के लिए पर्याप्त औचित्य नहीं है।

इस प्रकार सामान्यतः प्राचीन आचार्यों ने घूम-फिरकर यही मान लिया है कि नवरस की प्रकल्पना ही समीचीन है और इसके मूल में दो अत्यन्त पुष्ट कारण हैं—एक तो यह कि जीवन के आधारभूत मनोवेगों की संख्या आठ-नौ या वत्सल भाव तथा भक्ति को मिलाकर अधिक से अधिक दस-ग्यारह ही है और दूसरा यह कि यदि संख्या में वृद्धि का सिलसिला शुरू हो गया तो फिर यह तै करना कठिन हो जाएगा कि कहाँ रुका जाए। आधारभूत मनोवेगों को प्रमाण मान लेने से यह समस्या काफ़ी सुलझ जाती है क्योंकि वे ही उत्कट रूप से आस्वाद्य होते हैं—जो मनोवेग आधारभूत नहीं हैं अर्थात् जीवन की मूलवृत्तियों तथा पुरुषार्थों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध नहीं हैं उनके आस्वाद में यथेष्ट उत्कटता नहीं होती; साथ ही इस प्रकार के मनोवेगों का वर्गीकरण तथा संख्या-निर्धारण भी अधिक कठिन नहीं है क्योंकि इनकी संख्या सीमित ही हो सकती है।

उपसंहार

वास्तव में संख्या का प्रश्न रसशास्त्र का मौलिक प्रश्न नहीं है और इसलिए यह अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं है क्योंकि रस-सिद्धान्त का आधार केवल परिगणित रस नहीं हैं—यहाँ तो आस्वाद का मूल है भाव और इसीलिए 'रस' या 'रसध्वनि' में परिगणित रसों के अतिरिक्त, भाव, रसाभास, भावाभास भावोदय, भावप्रशम, भावसन्धि, भावशबलता आदि सभी का यथावत् अन्तर्भाव माना गया है:

रसभावौ तदाभासौ, भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ सा० द० तृ० प० २५९-६०

अतः रस-सिद्धान्त का वास्तविक आधार भाव ही है जिसकी भेद-गणना न सम्भव है और न आवश्यक। गम्भीरचेता आचार्यों ने भी संख्या को विशेष महत्त्व नहीं दिया—इसीलिए तो एक ओर सभी रसों का एक ही रस में समाहार करने का प्रयत्न किया गया है और दूसरी ओर भावों की अनन्तता के आधार पर रसों की अनन्तता सिद्ध की गयी है। हमारी इस स्थापना का कि रस-संख्या का प्रश्न मौलिक नहीं है एक प्रबल प्रमाण यह है कि एक ही आचार्य—भोज ने दोनों दिशाओं में युगपत् प्रयत्न किया है: रस की संख्या एक भी है और अनन्त भी। अतएव—उपर्युक्त रस-संख्यान-विवेचन हमने शास्त्रीय प्रतिपादन को सर्वांगपूर्ण बनाने के उद्देश्य से ही किया है और इसकी सार्थकता यह है कि इससे रस के स्वरूप तथा परिधि आदि से सम्बद्ध अनेक सूक्ष्म तत्त्वों और तथ्यों का प्रसंगतः अनायास ही उद्घाटन हो गया है।

अध्याय ५

(क) रसों का परस्पर सम्बन्ध

(ख) अंगी रस

(ग) रस-भंग

(घ) रसाभास

(क) रसों का परस्पर सम्बन्ध

संस्कृत काव्यशास्त्र में रसों के परस्पर सम्बन्ध—विरोध और अविरोध तथा विरोध-परिहार आदि का अत्यन्त सूक्ष्म एवं रोचक विवेचन किया गया है। सामान्यतः ये प्रश्न शास्त्र-रूढ़-से प्रतीत होते हैं, परन्तु काव्य की आस्वादन-(रसास्वादन)-प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इनका तात्त्विक मूल्य भी असंदिग्ध है और इन प्रसंगों की व्याख्या से रस के आस्वादन से सम्बद्ध अनेक समस्याओं के समाधान के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

रसों के विरोध-अविरोध का भरत ने कहीं स्पष्ट विवेचन नहीं किया और उनके परवर्ती आचार्यों में भी रुद्रट तक इसका विशेष वर्णन नहीं मिलता। सबसे प्रथम उल्लेख कदाचित् ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में ही हुआ है। आनन्दवर्धन के अनुसार रस के विरोधी तत्त्वों में सबसे पहले आता है : **विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः** (३.१८)—अर्थात् विरोधी रसों से सम्बद्ध विभाव आदि का ग्रहण। किन्तु विरोधी रस कौनसे हैं अर्थात् किस रस का किसके साथ विरोध है, और क्यों है, इसका प्रत्यक्ष वर्णन उन्होंने नहीं किया, रसभंग के विवेचन में प्रसंगात् कुछ संकेत अवश्य आ गये हैं : जैसे—

> ···**शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपितेष्वनन्तरमेव शृंगारादिविभाववर्णने**—शान्तरस के विभावों का उसके विभावरूप में ही वर्णन करने के बाद तुरन्त ही शृंगार के विभाव का वर्णन करने लगना।[1]
>
> **विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने**—विरोधी रस के अनुभाव के परिग्रह (का उदाहरण) जैसे प्रणयकलह में कुपित मानिनी के प्रसन्न न होने पर कोपाविष्ट नायक के रौद्रानुभावों का वर्णन करना।[2]
>
> **तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। ××× करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत्, न।**—विप्रलम्भ शृंगार का अंग होने पर भी मरण का वर्णन करना उचित नहीं है। यदि यह कहा जाए कि वहाँ करुण रस का परिपोष होगा, तो वह भी युक्ति-युक्त नहीं है।[3]

उपर्युक्त उद्धरणों का विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

विरोधी रस—शृंगार और शान्त, शृंगार और रौद्र, शृंगार और करुण।

रस-विरोध के आधार—विभाव-ऐक्य—अर्थात् १. आलम्बन-ऐक्य, तथा २. आश्रय-ऐक्य, और ३. नैरन्तर्य (एक के पश्चात् दूसरे का तुरन्त वर्णन करना)—इन तीन दृष्टियों

---

१ ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर—ज्ञानमण्डल), पृ० २१३

२ वही, पृ० २१४

३ वही, पृ० २२०

से रसों में परस्पर विरोध होता है : शृंगार और शान्त का विरोध विभाव-ऐक्य और नैरन्तर्य्य दोनों की दृष्टि से है, शृंगार और रौद्र तथा शृंगार और करुण का विरोध आलम्बन-ऐक्य की दृष्टि से है।

परवर्ती आचार्यों ने प्रायः इन्हीं संकेतों के आधार पर प्रस्तुत विषय का पल्लवन किया है। मम्मट ने रस-विरोध का विवेचन प्रकारान्तर से रसदोष-प्रसंग में किया है और विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। इन दो आचार्यों का विवेचन औरों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं पूर्ण है, अतः इनका ही आधार ग्रहण करना अधिक उपादेय होगा।

विश्वनाथ के मत से—

रस	शत्रु (विरोधी) रस
शृंगार	करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक
हास्य	भयानक और करुण
करुण	हास्य और शृंगार
रौद्र	हास्य, शृंगार और भयानक
वीर	भयानक और शान्त
भयानक	शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त
वीभत्स	शृंगार
शान्त	वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य, भयानक।[1]

—अद्भुत एकमात्र ऐसा रस है जिसका किसी के साथ विरोध नहीं है और इसका कारण कदाचित् यही है कि विश्वनाथ अपने प्रपितामह नारायणपण्डित के समान यह मानते थे कि "सर्वत्राप्यद्भुतो रसः"।

रस-विरोध के आधार—"रसों का विरोध या अविरोध तीन प्रकार से माना जाता है। कोई रस तो ऐसे हैं जो एक आलम्बन में विरुद्ध होते हैं, कोई आश्रय में विरुद्ध होते हैं और कोई एक-दूसरे के बाद आगे-पीछे बिना व्यवधान के आने से विरुद्ध होते हैं।"[2]

आलम्बन-ऐक्य—शृंगार और वीर का; हास्य, रौद्र और वीभत्स के साथ सम्भोग शृंगार का; वीर, करुण, रौद्र और भयानकादि के साथ विप्रलम्भ शृंगार का;

आश्रय-ऐक्य—वीर और भयानक का;

नैरन्तर्य्य से—शान्त और शृंगार का।

मित्र रस—वीर, अद्भुत और रौद्र का, शृंगार और अद्भुत का, भयानक और वीभत्स का परस्पर पूर्ण मैत्री भाव है अर्थात् उक्त तीनों दृष्टियों से सर्वथा अविरोध है।[3]

जगन्नाथ के अनुसार—वीर और शृंगार, शृंगार और हास्य, वीर और अद्भुत, वीर और रौद्र तथा शृंगार और अद्भुत परस्पर मित्र रस हैं।

---

[1] साहित्यदर्पण (विमला टीका, सन् १९५६) पृ० १२३-२४

[2] वही, पृ० २६२

[3] वही, पृ० २६३

और

शृंगार और वीभत्स, शृंगार और करुण, वीर और भयानक, शान्त और रौद्र तथा शान्त और शृंगार परस्पर विरोधी रस हैं।[1]

विरोध और अविरोध के निर्णय का आधार द्विविध है—विषयगत और विषयिगत। विषयगत आधार से अभिप्राय यह है कि काव्य-विषय के अन्तर्गत पात्रों के स्थायी भावों की व्यंजना सामान्य अनुभव (अथवा मनोविज्ञान) के अनुकूल ही होनी चाहिए अर्थात् ऐसे भावों का ही वर्णन होना चाहिए जिनकी युगपत् स्थिति जीवन में सम्भव होती है, ऐसे भावों का नहीं जो एक-दूसरे का खण्डन करते हों। उदाहरण के लिए, एक ही व्यक्ति के प्रति हमारे मन में एक ही समय में रति और क्रोध का या रति और शोक का या रति और जुगुप्सा का उद्बोध नहीं हो सकता, एक ही व्यक्ति हमारे मन में एक साथ भय और हास्य या शोक और हास्य, या भय और क्रोध की उद्बुद्धि नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के चित्त में तत्क्षण ही भय और क्रोध का या भय और उत्साह का संचार नहीं हो सकता अतः विभाव-ऐक्य अर्थात् आलम्बन-ऐक्य की दृष्टि से रस-विरोध के निर्णय का आधार विषयगत है—यह निर्णय काव्य-वस्तु के संदर्भ में किया गया है। विषयिगत आधार से तात्पर्य यह है कि विरोध-अविरोध का निर्णय प्रमाता की अनुभूति के अनुसार किया गया है। प्रमाता के चित्त में एक ही समय रति और जुगुप्सा या रति और शोक, अथवा उत्साह और भय, या शम और क्रोध आदि का उद्रेक नहीं हो सकता क्योंकि ये भाव एक-दूसरे का निराकरण करते हैं, अतः इनके परिपाक रूप रसों का आस्वादन भी प्रमाता नैरन्तर्य्य से (एक के तुरन्त बाद दूसरे का) नहीं कर सकता। इस प्रकार नैरन्तर्य्य की दृष्टि से रस-सम्बन्ध-निर्णय का आधार विषयिगत है अर्थात् यह निर्णय प्रमाता के आस्वाद के संदर्भ में किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन मनोविज्ञान द्वारा समर्थित है, इसमें सन्देह नहीं। चित्त की वृत्तियाँ एक-दूसरे के अनुकूल और प्रतिकूल या समान और विपरीत होती हैं—यह तथ्य अनुभव-सिद्ध है। एक समय में एक ही भाव की प्रधानता रहती है, इसमें भी विवाद के लिए अधिक अवकाश नहीं है—इसी प्रकार यह भी सामान्य अनुभव का विषय है कि अनुकूल भाव एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं और विपरीत भाव एक-दूसरे का खण्डन करते हैं। इसलिए भावों के साम्य और वैषम्य के आधार पर रसों के विरोधाविरोध की कल्पना असंगत नहीं है। किन्तु इन सम्बन्धों को सर्वथा स्थायी एवं अटूट नहीं मानना चाहिए क्योंकि मनुष्य के मनोव्यापार में अनेक प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। सामान्यतया एक ही व्यक्ति के प्रति प्रेम और घृणा—या भय और क्रोध की भावनाएँ एक साथ नहीं रह सकतीं, किन्तु कभी-कभी ऐसी विचित्र मनःस्थिति भी हो सकती है जब इन विरोधी भावनाओं का युगपत् अस्तित्व भी हो सकता है। आधुनिक साहित्य में इस प्रकार के प्रसंग अनेक रहते हैं: स्वदेश-विदेश के साहित्य में अनेक उपन्यास, नाटक, कहानियाँ आदि हैं जिनमें लेखक ने

---

[1] रसगंगाधर (हिन्दी-अनुवाद, चौखम्बा विद्याभवन) प्र० आ० पृ० २७३

विरोधी भावों के द्वन्द्व के द्वारा ही रस-सृष्टि की है। यह द्वन्द्व जिन विरोधी भावनाओं में होता है उनके विषय या आलम्बन प्रायः भिन्न होते हैं : उदाहरण के लिए, कर्तव्य और प्रेम के चिर-परिचित द्वन्द्व में उत्साह और प्रेम के आलम्बन भिन्न ही होते हैं। किन्तु कभी-कभी विरोधी भावों का आलम्बन एक भी रहता है और आधुनिक साहित्यकार इस प्रकार की स्थितियों के चित्रण के प्रति विशेषतः आग्रहशील हैं क्योंकि अवचेतन मनोविज्ञान के आलोक में आज यह सिद्ध हो गया है कि परस्पर-विरोधी भाव कभी-कभी एक ही भाव के दो रूप होते हैं—घृणा प्रेम का प्रतिरूप हो सकती है, क्रोध प्रायः भय का ही प्रच्छन्न रूप होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन स्थितियों का चित्रण अत्यन्त कौशल की अपेक्षा करता है, और कौशल के अभाव में रस का बाध भी हो सकता है, अनेक रचनाओं में हो भी जाता है; किन्तु यह भी ठीक है कि सफल कृतियों में न केवल रसभंग ही नहीं होता, वरन् रस-परिपाक भी होता है। पश्चिम के और भारतवर्ष के भी प्राचीन साहित्य में, जैसे महाभारत में या शेक्सपियर के नाटकों में, नैरन्तर्य्य की बाधा भी प्रायः नष्ट हो जाती है। सुख-दुःख का यह धूपछाँही वातावरण शेक्सपियर के नाटकों का तो वैशिष्ट्य ही है और वहाँ सुख और दुःख या हास और करुणा के बीच अद्भुत आदि किसी मित्र रस के व्यवधान की भी व्यवस्था नही है, फिर भी उनमें प्रायः रसभंग नहीं होता—वरन् भाव का वैषम्य मूल भाव को और भी प्रखर कर देता है जैसे हेमलेट के प्रसिद्ध 'ग्रेव-डिगर्स'[1] दृश्य में। अतः रस-विरोध के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्र की इन धारणाओं को एकदम अकाट्य या अपरिवर्तनीय भी नही मानना चाहिए। वास्तव में हमारे यहाँ भी रस-विरोध के परिहार की अनेकानेक विधियों का स्पष्ट वर्णन मिलता है जो इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

रसविरोध का परिहार—रसविरोध के परिहार की व्यवस्था भी सर्वप्रथम आनन्द-वर्धन ने ही की है। उनके अनुसार :

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥ ३,२०

'अभीष्ट रस का परिपाक हो जाने पर (१) बाध्य रूप से और (२) अंग रूप से विरोधी रसों के वर्णन से भी रसभंग नही होता। (१) बाध्यरूपता से अभिप्राय यह है कि विवक्षित रस के अंगों का वर्णन इतना प्रबल हो कि विरोधी रस के अंगों का प्रभाव बाधित हो जाए—ऐसी स्थिति में विरोधी रस प्रकृत रस का अपकर्ष न कर उसके उत्कर्ष में ही सहायक बन जाएगा। उदाहरण के लिए, कादम्बरी में महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक की अत्यन्त आसक्ति हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार के उपदेश-वर्णन में प्रदर्शित शान्त रस के अंग मुख्य रस शृंगार के अंगों से बाधित हो जाते हैं और अन्त में रति स्थिर रहती है। इसलिए 'बाध्यत्वेन' उनका प्रतिपादन दोष नहीं है। (२) अंगरूपता तीन प्रकार की हो सकती है (क) नैसर्गिक, (ख) समारोपित, और (ग) प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंग-रूपता। (क) नैसर्गिक अंगरूपता वहाँ होती है जहाँ विरोधी रस के अंग—स्थायी और संचारी

[1] कब्र खोदने [वालों] का दृश्य

आदि, मुख्य रस के स्वाभाविक अंग ही होते हैं, जैसे करुण रस के अंगभूत व्याधि आदि भाव विप्रलम्भ के भी सहज अंग रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरण के लिए—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

—अर्थात् मेघरूप भुजंग से उत्पन्न विष (जल तथा विष) वियोगिनियों को चक्कर, अलसहृदयता, प्रलय (चेतना रूप ज्ञान और चेष्टा का अभाव), मूर्च्छा, मोह, शरीर-सन्नता और मरण उत्पन्न कर देता है। (यहाँ करुण-रसोचित व्याधि के अनुभाव—भ्रम आदि—का अस्तित्व विप्रलम्भ में भी सम्भव होने से, नैसर्गिकी अंगता होने से, अविरोध है।)[1]

(ख) समारोपित अंगता में विरोधी रस का मुख्य रस के साथ अंगांगिसम्बन्ध स्वाभाविक न होकर श्लेष, साम्य आदि के द्वारा आरोपित होता है : जैसे—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

—अर्थात् हे सखि, तेरा पाण्डुवर्ण, मुरझाया हुआ चेहरा, सरस हृदय और अलस देह तेरे हृदय में स्थित नितान्त असाध्य रोग की सूचना देते हैं। (क्षेत्रिय रोग उसको कहते हैं जिसकी इस शरीर में चिकित्सा सम्भव न हो अर्थात् अत्यन्त असाध्य)।

इस श्लोक में करुणोचित व्याधि का वर्णन है परन्तु श्लेषवश वहाँ विप्रलम्भ शृंगार में भी नायिका में उनका आरोप कर लिया है। अतएव उनकी शृंगार के प्रति समारोपित अंगता होने से शृंगार में करुणोचित व्याधि का वर्णन दोष नहीं है।[2]

(ग) प्रधान रस के प्रति दो विरोधी रसों की अंगता हो जाने पर भी उनके विरोध का परिहार हो जाता है जैसे कि निम्नोद्धृत श्लोक में शृंगार और करुण का विरोध इसलिए नष्ट हो गया है कि ये दोनों स्वतन्त्र न रहकर शिव-विषयक रति के अंग बन गये हैं :

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥[3]

—अर्थात् त्रिपुर-दाह के समय शम्भु के बाण से समुद्भूत, त्रिपुर की युवतियों द्वारा आर्द्रापराध (तत्कालकृत परांगनोपभोगादि अपराधयुक्त) कामी के समान, हाथ छूने पर झटक दिया गया, ज़ोर से ताड़ित करने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ, केशों को पकड़ते समय हटाया गया, पैरों में पड़ा हुआ भी सम्भ्रम (क्रोध अथवा घबराहट) के कारण न देखा गया, और आलिंगन [करने का प्रयत्न] करने

---

[1] ध्वन्यालोक (हिन्दी व्याख्या—ज्ञानमण्डल), पृ० २२३

[2] वही, पृ० २२३

[3] वही, पृ० ८७

पर आँसुओं से परिपूर्ण नेत्र-कमलवाली (कामी पक्ष में ईर्ष्या के कारण और अग्निपक्ष में बचाव की आशा से रहित होने के कारण रोती हुई) त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत (कामी पक्ष में प्रत्यालिंगन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्नि पक्ष में सारे शरीर को झटककर फेंका गया) शम्भु की शराग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे।"

इस प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि अन्य के अंग होने पर भी परस्पर विरोधी रसों के विरोध का परिहार कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए ध्वनिकार ने लिखा है 'विधि' अंश में—अर्थात् मुख्य वाच्यार्थ में दो विरोधियों का समावेश करने में दोष होता है, 'अनुवाद' अर्थात् सहायक वाक्यार्थ में नहीं। जैसे "आशा रूप ग्रह के चक्कर में पड़े हुए याचकों के साथ धनी लोग 'जाओ, आओ, पड़ जाओ, खड़े हो जाओ, बोलो, चुप रहो' इस प्रकार (कहकर) खेल करते हैं (अर्थात् कभी कुछ, कभी कुछ, मनमानी बात कहकर उनसे खिलवाड़ करते है।" यहाँ, "आशारूपी ग्रह के चक्कर में पड़े हुए याचकों के साथ धनी लोग खिलवाड़ करते हैं।"—यह विधि अंश या मुख्य अर्थ है और "जाओ, आओ, पड़ रहो, खड़े हो जाओ, बोलो, चुप रहो"[1]—यह अनुवाद अंश या सहायक वाक्यार्थ है। और चूंकि विरोधी बातों का कथन सहायक वाक्यार्थ या अनुवाद-अंश में किया गया है, अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह दोष नहीं है। इसी प्रकार उपर्युक्त छन्द में विधि या अभिप्रेत अर्थ है शिव-भक्ति और त्रिपुर को भस्म करने वाली शिव की शराग्नि का वर्णन अनुवाद या सहायक अंश है: चूंकि करुण और श्रृंगार का साहचर्य अनुवाद में है, इसलिए वह दोष नहीं है। इस प्रसंग में आचार्यों ने दो दृष्टान्त उपस्थित किये है:—एक राजा के दो पार्षद परस्पर शत्रु हो सकते हैं, किन्तु राजा के प्रति निष्ठा के संदर्भ में उनका विरोध निरस्त हो जाता है—अथवा जल और अग्नि में परस्पर विरोध है, किन्तु ये दोनों संयुक्त रूप से भात पकाने में सहायक होते हैं।[2]

उपर्युक्त चार उपायों के अतिरिक्त ध्वन्यालोक में विरोध-परिहार के दो और उपायों का उल्लेख किया गया है। इनमें से पहला यह उपाय है कि (घ) स्मृति-रूप में वर्णित किये जाने पर रस-विरोध की निवृत्ति हो जाती है:

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

—अर्थात् [सम्भोगावसर में] करधनी को हटाने वाला, उन्नत उरोजों का मर्दन करने वाला, नाभि, जंघा और नितम्ब का स्पर्श करने वाला और नीवी को खोलने वाला यह [प्रियतम का] वही हाथ है।[3]

यहाँ भूरिश्रवा की पत्नी महाभारत के युद्ध में उसके कटे हुए हाथ को देख कर विलाप कर रही है, अतः विवक्षित रस करुण है। किन्तु इस विलाप में वह पूर्वभुक्त संभोग-

---

१ ध्वन्यालोक (ज्ञानमण्डल), पृ० २२४

२ वही, पृ० २२७

३ वही, पृ० २२८

प्रसंगों का, जो करुण के विरोधी हैं, स्मरण कर रही है। अब प्रश्न यह है कि इस विरोध का परिहार कैसे हुआ ? उत्तर स्पष्ट है : शृंगार यहाँ प्रत्यक्ष न होकर केवल स्मर्य्यमाण है, अतः वह प्रत्यक्ष या विवक्षित करुण रस का विरोध करने में असमर्थ हो जाता है, वरन् उलटा उसका पोषण करने लगता है—जिस प्रकार सामान्य अनुभव में भी अतीत सुखों की स्मृति वर्तमान दुःख का बाध न कर पोषण मात्र करती है। वस्तुतः यह कोई पृथक् उपाय नहीं है : पूर्व-स्मृति को या तो हम वर्तमान शोक का अंग मान सकते हैं, तब तो यह विरोध अंगरूपता के अन्तर्गत आ जाता है या फिर यह मान सकते हैं कि प्रत्यक्ष करुण रस की तीव्रता के कारण स्मर्य्यमाण शृंगार अनायास ही निराकृत होकर 'बाध्यत्वेन' उसका पोषक बन जाता है।

(ङ) दूसरा उपाय आश्रयैक्य-विरोध अथवा एकाधिकरण्य-विरोध के शमन से सम्बद्ध है :

विरुद्धैकाश्रयो वस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
सः विभिन्नाश्रयः कार्य्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥ ३.२५

स्थायी (प्रधान) रस का जो विरोधी एकाधिकरण्य रूप से विरोधी हो, उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए (फिर) उसके परिपोष में भी कोई दोष नहीं है।[1] उदाहरण के लिए, वीर और भयानक में एकाधिकरण्य से विरोध है, अतः इस विरोध का शमन करने के लिए भयानक को प्रतिनायक के आश्रित कर देना चाहिए। अन्त में, नैरन्तर्य्येण विरोध के शमन का उपाय कथन है[2] :

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुमेधसा ॥ ३.२६

आगे चलकर अन्य आचार्यों ने भी इस विषय का रुचिपूर्वक विवेचन किया है। मम्मट का दोषवर्णन तो प्रसिद्ध ही है : उन्होंने रसविरोध को रस-दोष का एक प्रमुख कारण मानते हुए दोष-प्रकरण में ही उसके परिहार का विवेचन किया है जो मौलिक न होते हुए भी अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित है :

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा। ७.६३
आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्य्येण यो रसः ॥ ६४
स्मर्य्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५

—(१) [प्रकृत रस के] विपरीत संचारिभाव [अनुभाव तथा विभाव] आदि का बाध्यत्वेन कथन करना [दोष नहीं] अपितु गुणाधायक होता है। (२) जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी है उसको भिन्न आश्रय में [वर्णित] करना चाहिए। (३) जो नैरन्तर्य्य से विरोधी [रस] है उसको दूसरे [अविरोधी] रस से व्यवहित

---

१ हिन्दी ध्वन्यालोक (ज्ञानमंडल), पृ० ३७
२ वही, पृ० ३८

कर देना चाहिए (शान्त तथा शृंगार में नैरन्तर्य्येण विरोध है इसलिए उन दोनों के बीच में कोई दूसरा रस नियोजित कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है)। (४) विरोधी रस भी यदि स्मर्य्यमाण रूप में अथवा (५) साम्य से विवक्षित हो अर्थात् साम्यमूलक अलंकार के माध्यम से वर्णित हो तो दोप नहीं रहता। (६) इसी प्रकार जो दो विरोधी रस किसी तीसरे रस की अंगता को प्राप्त करें, वे परस्पर विरोधी नहीं रहते।

इनमें से वाध्यत्वेन कथन, स्मर्य्यमाण रूप से विवक्षा, किसी अन्य रस की अंगता, भिन्नसंश्रयता, और रसान्तरव्यवधान—ये पाँच उपाय तो ऐसे हैं जिनका वर्णन आनन्दवर्धन ने यथावत् किया है और साम्य के द्वारा विवक्षा भी कोई नयी उद्भावना नहीं है, समारोपित अंगता का ही एक प्रकार है। मम्मट के उपरान्त विश्वनाथ आदि ने प्रायः इन्हीं विचारों की आवृत्ति की है।

रसों की अंगता के विषय में एक शंका यह उपस्थित की गयी है कि रस जब अपने आप में पूर्ण और अखण्ड है तव वह अंग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया गया है। मम्मट आदि ने तो यह स्पष्ट कह दिया है कि इस तरह के प्रसंगों में रस का अर्थ स्थायी भाव ही है : **रसशब्देन अत्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते**। उधर कुछ आचार्यों ने खण्डरस की कल्पना कर इस शंका का समाधान किया है :

अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥

—रस जो वस्तुतः अंगी-रूप ही होता है, यदि दूसरे रस में अंगभूत हो जाए या वाध्य होकर आए अथवा साम्य से विवक्षित हो तो वह पूर्णतया आस्वादित नहीं होता, अतः उसे खण्डरस कहते हैं। (सा० द० विमला टीका, १९५६, पृ० २६२)

रसविरोध के परिहार की यह व्यवस्था काव्यालोचन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इससे रस-सिद्धान्त की व्यापकता और व्यावहारिकता पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है और अनेक प्रकार की शंकाओं तथा भ्रांतियों का समाधान हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह प्रश्न ही लीजिए कि शेक्सपियर के नाटकों में भयानक और हास्य या करुण और शृंगार की युगपत् विवक्षा भी रस में बाधक न होकर साधक क्यों हो जाती है ? इसका उत्तर भी हमें प्रस्तुत विवेचन में सहज मिल जाता है : अर्थात् रसविरोध का परिहार वहाँ बाध्यत्वेन कथन के कारण हो जाता है। मैकवेथ में भय के रोमांचक वातावरण में प्रेतांगनाओं की हास्यमयी अवतारणा त्रासद प्रभाव को और भी सघन इसलिए कर देती है क्योंकि वहाँ भयानक हास्य को सहज ही अभिभूत कर लेता है—त्रासद-कामदियों में शृंगार और करुण का नियोजन प्रायः नैरन्तर्य्येण नहीं हुआ और जहाँ कहीं ऐसा है भी वहाँ विरोधी रस विवक्षित रस का अंग वन गया है या उसके द्वारा वाधित हो गया है।

(ख) अंगी रस

अगी रस का प्रश्न भी सबसे पहले विधिवत् आनन्दवर्धन ने ही उठाया है :

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने
एको रसोऽङ्गी कर्तव्यः ············।। ३.२१

—प्रबन्धों में अनेक रसों का समावेश प्रसिद्ध होने पर भी किसी एक रस को अंगी रस अवश्य बनाना चाहिए ।

किन्तु अंगी रस की यह कल्पना भी मूलतः भरत में ही मिल जाती है :

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणो मताः ॥ ना० शा० ७.१२०

—महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो बहु अर्थात् अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह रस स्थायी या अंगी और शेष रस संचारी या अंगभूत होते हैं।

किन्तु अंगी रस के विषय में दो मौलिक शंकाएँ उठती हैं—"(१) रस तो उसी का नाम है जो स्वयं चमत्कार-रूप है। यदि उसकी स्व-चमत्कार रूप में विश्रान्ति नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है। अंगांगी भाव अथवा उपकार्य-उपकारक भाव मानने में तो अंगभूत या उपकारक रस की स्व-चमत्कार में विश्रान्ति नहीं हो सकती है, अतः वह रस नहीं कहला सकता है। रस वह तभी होगा जब स्व-चमत्कार में ही उसकी विश्रान्ति हो जाए। उस दशा में वह किसी दूसरे का अंग नहीं हो सकता है। इसलिए रसों में अंगांगी भाव सम्भव नहीं है—(२) विरोधी रसों की अंगता कैसे मान्य हो सकती है ? विरोध दो प्रकार से होता है (क) सहानवस्थान भाव से और (ख) बाध्य-बाधक या वध्य-घातक भाव से। सहानवस्थान भाव से विरोध का अर्थ यह है कि दो विरोधी रस समान रूप से एक साथ नहीं रह सकते—वध्य-घातक भाव का अर्थ यह है कि एक का उदय होते ही दूसरे का विघात हो जाता है। वीर और शृंगार या शृंगार और हास्य या रौद्र और शृंगार का अथवा वीर और अद्भुत का या रौद्र और करुण का या फिर शृंगार और अद्भुत का विरोध सहानवस्थान भाव से है। अर्थात् ये दोनों साथ-साथ तो रह सकते हैं किन्तु दोनों का समान उत्कर्ष नहीं होना चाहिए। अतः इनका विरोध अधिक उग्र नहीं है और उसी अनुपात से इनका अंगागिभाव भी दुस्साध्य नहीं है। परन्तु शृंगार और वीभत्स का या वीर और भयानक का, अथवा शान्त और रौद्र का या शान्त और शृंगार का बाध्य-बाधक भाव से विरोध है—इसलिए इनका अंगांगिसम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

आनन्दवर्धन को इन आक्षेपों का परिज्ञान है। सम्भवतः उनके समय में रसों के अंगांगिभाव की विरोधी कोई परम्परा भी विद्यमान थी और इसका प्रमाण यह है कि

भामह, दण्डी, रुद्रट आदि सभी ने महाकाव्यादि में रसों के समवेत वर्णन का ही उल्लेख किया है—एक अंगी रस की ओर किसी ने भी संकेत नहीं किया :

भामह—रसैश्च सकलैः पृथक् । काव्यालंकार, १.२१

दण्डी — रसभावनिरन्तरम् । काव्यादर्श १.१८

रुद्रट—सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि । काव्यालंकार १६.५

परन्तु आनन्दवर्धन ने इन दोनों आक्षेपों का समाधान करते हुए भरत के मत की पुनः प्रतिष्ठा की है। पहले आक्षेप का उत्तर यह है कि प्रत्येक रस का अपने प्रसंग में पूर्ण परिपोष हो जाता है और वह अपने प्रसंग की परिधि के भीतर स्वचमत्कार में ही विश्रांति-लाभ करता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि दूसरे के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता—और कुछ नहीं तो तारतम्य तो हो ही सकता है क्योंकि प्रबन्ध की विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल किसी रस का वर्णन स्वभावतः ही कम होगा और किसी का अधिक। दूसरे आक्षेप का उत्तर यह है कि विरोध के शमन के अनेक उपाय हैं जिनके द्वारा न केवल रसों का विरोध ही मिट जाता है वरन् उनमें उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाता है। ये उपाय सामान्यतः तीन हैं। (१) एक रस के अंगी होने पर उसके प्रतिरोधी अथवा विरोधी रस का अत्यन्त (अंगी की अपेक्षा अधिक) परिपोष नहीं करना चाहिए। (२) अंगी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिक निवेश न करना अथवा निवेश करने पर शीघ्र ही अंगी रस के व्यभिचारी रूप में परिणत कर देना। (३) अंगभूत रस का परिपोष करने पर भी बार-बार उसकी अंगरूपता का ध्यान रखना।—इस प्रकार आनन्दवर्धन के मत से रसों के अंगांगी या उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध की कल्पना सर्वथा मान्य है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोक के प्रस्तुत प्रसंग की व्याख्या में एक प्राचीन आचार्य, भागुरि मुनि, का प्रमाण देते हुए रसों के अंगागिभाव का समर्थन किया है : **तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमे नैवोत्तरमवोचद् बाढमिति**। इनके उपरान्त, फिर तो, उपर्युक्त प्रकल्पना पर मोहर लग गयी और परवर्ती आचार्यों ने प्रबन्धकाव्य में अंगी रस की स्थिति का निश्चयपूर्वक कथन किया है :

एकाङ्गिरसमन्यदङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।
अलङ्घितमलङ्कारकथाङ्गै रगलद्रसम् ॥ नाट्यदर्पण, १, सूत्र १२, कारिका १५

—जिसमें एक रस प्रधान और अन्य रस अप्रधान हों, अन्त में अद्भुत रस [का निवेश] हो, किन्तु रसाधिक्य से [कथाभाग] विच्छिन्न न होने पावे, साथ ही अलंकार या कथा आदि के अधिकार से रस का विच्छेद भी न होने पावे, [इन सब बातों का ध्यान रखते हुए नाटक की रचना करनी चाहिए]। (हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३७)।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥ सा० दर्पण, ६.३१७

—महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। (विमला टीका, पृ० २२५)

इस प्रकार वास्तव में, दो-एक शंकाओं के रहते हुए भी (जिनका समाधान हो जाता

है), प्रवन्धकाव्य में अंगी रस की स्थिति सर्वथा स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। जीवन के वैविध्य एवं सर्वांगचित्रण के कारण प्रवन्धकाव्य में स्वभावत: ही विभिन्न रसों का वर्णन अनिवार्यत: रहता है और यह भी स्वाभाविक है कि उनमें एक प्रकार का तारतम्य तथा अंगांगित्व हो। जिस प्रकार अनेक कथाओं के रहते हुए एक कथा की आधिकारिकता अनिवार्य है, अथवा यह कहना चाहिए कि घटना-वाहुल्य के रहते हुए भी समस्त कथा-विधान की एक घटना में परिणति अनिवार्य है और अनेक पात्रों के समारोह में एक पात्र की नायकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार अनेक रसों के संभार में एक रस की अंगिता भी स्वयं-सिद्ध है।[1]

अंगी रस के लक्षण :

(१) उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार अंगी रस का प्रधान लक्षण है—वहुव्याप्ति। **प्रवन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसः······**। (ध्वन्यालोक, ३।२२ की वृत्ति) —अर्थात् प्रवन्धों में प्रथम प्रस्तुत और वार-वार अनुसंहित होने से जो रस स्थायी है······। प्रवन्धकाव्य में अभिव्यक्त नाना रसों में से जो रस कथानक के कलेवर में सर्वाधिक व्याप्त हो, वही अंगी रस है। प्रवन्ध-काव्य के रस-विधान में उसकी स्थिति वही होती है जो रस परिपाक में स्थायी भाव की। जिस प्रकार रस के परिपाक में संचारी भाव उन्मग्न और निमग्न होकर स्थायी भाव का पोषण करते हैं, उसी प्रकार प्रवन्धकाव्य में अन्य अंगभूत रस अंगी रस को समृद्ध करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त शास्त्रीय लक्षण अत्यन्त प्रामाणिक है, किन्तु अनिश्चय की स्थिति में कभी-कभी रस-निर्णय के लिए यह पर्याप्त नहीं होता। इसलिए कुछ सहायक लक्षणों की भी आवश्यकता पड़ जाती है। इन सहायक लक्षणों के संकेत भी भारतीय काव्यशास्त्र में मिल जाते हैं।

(२) एक सहायक लक्षण तो यह हो सकता है कि अंगी रस में मुख्य पात्र की—पुरुष अथवा नारी, जो भी कथा का नयन करे, उसकी—मूलवृत्ति का प्रतिफलन रहता है। तत्त्व-रूप में प्रवन्धकाव्य का सम्पूर्ण विस्तार नायक की जीवन-साधना का ही प्रसार-रूप होता है। जिस प्रकार जीवन-साधना के दो पक्ष हैं—कर्म और भाव, इसी प्रकार कथानक के भी दो पक्ष हैं—घटना और भाव; और इन दोनों पक्षों का संचालन करती है नायक के चरित्र की मूलवृत्ति। यही मूलवृत्ति कर्म-पक्ष में चरम घटना और फलागम का निर्धारण करती है और भाव-पक्ष में मूल भाव या अंगी रस का। नाट्यदर्पण-कार ने इसी तथ्य को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—"नायक के औचित्य के अनुसार कोई एक रस जिसमें प्रधान हो (यह 'एकांगिरसम्' का अर्थ है)। 'अन्य' अर्थात् प्रधान रस से भिन्न रस जिसमें अंग अर्थात् गौण हो। नाटक में [वैसे तो] सारे रस होते हैं, किन्तु एक रस प्रधान और उससे भिन्न सब गौण होते हैं। अन्त में अर्थात् निर्वहण सन्धि में अद्भुत

---

[1] **कार्यमेकं यथा व्यापि प्रवन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते॥** ध्वन्यालोक, ३.२३

जिस प्रकार प्रवन्ध में व्यापक एक प्रधान कार्य रखा जाता है, इसी प्रकार एक प्रधान रस के विधान में भी विरोध नहीं है।

रस ही होना चाहिए। क्योंकि शृंगार, वीर, रौद्र रसों के द्वारा स्त्री-रत्न अथवा राज्यादि का लाभ और शत्रु के विनाश आदि की सिद्धि होती है। और करुण, भयानक तथा वीभत्स के द्वारा [प्रतिनायक को] उन [स्त्री-रत्न, राज्य आदि प्राप्ति] की निवृत्ति होती है। इसलिए इस प्रकार से [सभी रसों का नाटक में उपयोग होता है और] लोकोत्तर असम्भाव्य फल-प्राप्ति के [दिलाने] में अन्त में अद्‌भुत रस होना चाहिए। (हिन्दी नाट्य-दर्पण, पृ० ३७)।" यद्यपि प्रस्तुत उद्धरण में लक्षण का रूप एकदम स्पष्ट नहीं हुआ है, किन्तु विश्लेपण-संश्लेषण की पद्धति से उपर्युक्त तथ्य की उपलब्धि निश्चय ही हो जाती है। यहाँ दो वातों का स्पष्ट उल्लेख है: (क) प्रधान रस का नायक के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है; (ख) प्रबन्धकाव्य की कथावस्तु में मूलतः नायक के कार्य-व्यापार और उपलब्धियों—राज्यप्राप्ति, स्त्रीरत्न-प्राप्ति आदि—का ही वर्णन रहता है और तदनुसार इन कार्य-व्यापारों तथा उपलब्धियों के रागात्मक रूप वीर, शृंगार आदि रस उसमें मुख्य होते हैं। इनका संश्लेषण करने से यह लक्षण वन जाता है कि नायक के चरित्र की मूलवृत्ति और उसके आधार पर अर्जित सिद्धि (या फलागम) के द्वारा अंगी रस के निर्धारण में सहायता मिलती है।

(३) इसी तर्क-परम्परा के अनुसार अंगी रस का तीसरा लक्षण यह वनता है कि अंगी रस मूल उद्देश्य या फलागम का आस्वाद-रूप होता है; या दूसरे शब्दों में, सारभूत प्रभाव का अभिव्यंजक होता है। वास्तव में, जैसा कि प्रसादजी ने आचार्य शुक्ल द्वारा निम्नतर रस-कोटि की स्थापना के विरोध में लिखा है, फल का निर्णय अन्वय और व्यतिरेक, दोनों पद्धतियों से फल-योग के आधार पर ही होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी सारभूत प्रभाव को निर्णायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्पूर्ण प्रवन्धकाव्य का भावन करने के उपरान्त जिस स्थायी मनःस्थिति का निर्माण होता है, काव्यास्वाद की दृष्टि से वही प्रमुख है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक आई० ए० रिचर्ड्‌स ने काव्यास्वाद की अन्तिम परिणति इस प्रकार की मनःस्थिति (एटीट्यूड) के रूप में ही मानी है। भारतीय रस-ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रबन्ध-ध्वनि की कल्पना से इस धारणा की और भी पुष्टि हो जाती है। रस-ध्वनि की व्याप्ति काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव—उपसर्ग, प्रत्यय आदि से लेकर अधिक से अधिक व्यापक रूप—महाकाव्य आदि, तक मानी गयी है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ में पृथक्-पृथक् ध्वनि होती है, इसी प्रकार प्रवन्धकाव्य के समस्त अंगों की भी एक समवेत ध्वनि होती है। यही समवेत ध्वनि विचार के क्षेत्र में मूल प्रतिपाद्य या 'सन्देश' (मैसेज) और भाव के क्षेत्र में अंगी रस है। विश्वनाथ ने स्पष्ट लिखा है: **प्रबन्धे यथा-महाभारते शान्तः, रामायणे करुणः, मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृङ्गारः**—प्रवन्ध-ध्वनि जैसे महाभारत में शान्त रस, रामायण में करुण रस और मालतीमाधव, रत्नावली आदि में शृंगार। (साहित्यदर्पण, विमला टीका, पृ० १४७)

इस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र की अंगिरस-कल्पना भी अपने आप में अत्यन्त रोचक प्रसंग है। प्रवन्धकाव्य के आस्वादन का स्वरूप-विश्लेषण करने के लिए ही कदाचित् यह कल्पना की गयी थी और उस दृष्टि से इसका महत्त्व असंदिग्ध है।

(ग) रस-विघ्न

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-विघ्न अर्थात् रसभंग के कारणों का विवेचन कवि तथा सहृदय—रस के स्रष्टा और भोक्ता—दोनों की दृष्टि से किया गया है। वस्तुतः काव्यगत रसभंग भी साधन ही होता है, अन्ततः तो रसभंग सहृदय की चेतना में ही होता है क्योंकि जहाँ रस की स्थिति होगी वहीं तो रसभंग होगा। इस प्रकार काव्यगत रसभंग भी सहृदयगत रसभंग का एक प्रमुख कारण ही बन जाता है।

(क) कवि की दृष्टि से

आनन्दवर्धन ने कवि की दृष्टि से रसभंग के मुख्यतः पाँच कारण माने हैं :

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥[1]

अर्थात् (१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

(२) [रस से] सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना।

(३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना।

(४) [रस का] पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना।

(५) व्यवहार का अनौचित्य।

आगे चलकर इनका व्याख्यान एवं विस्तार रसदोषों के रूप में हुआ और यह संख्या प्रायः दुगुनी हो गयी :

व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥

—अर्थात् व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायी भावों को अपने वाचक शब्द द्वारा कहना (स्वशब्दवाच्यता), अनुभाव और विभाव की कष्ट-कल्पना से अभिव्यक्ति, [रस के] प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, तथा [रस की] बार-बार दीप्ति,

---

[1] ध्वन्यालोक (ज्ञानमण्डल, १९६२) पृ० २१२-२१३

[रस का] अनवसर में विस्तार कर देना, अनवसर में विच्छेद कर देना, अप्रधान [अंग रस] का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, [अंगी] प्रधान रस को त्याग देना [भूल जाना], प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय कर देना और अनंग [अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है, उस] का कथन, इस प्रकार के रस में रहने वाले दोष होते हैं ।[1]

मम्मट द्वारा विस्तारित रस के इन व्यवधानों में तीन-चार ही नये हैं : यथा स्वशब्दवाच्यत्व, विभाव और अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, अंगी की उपेक्षा, और अनंग का कथन—और इनमें से अन्तिम दो भी, एक प्रकार से, ध्वनिकार के 'वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्' में अन्तर्भुक्त हैं ।

उपर्युक्त रस-विघ्नों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अधिकांश का अनुसन्धान मुक्तक में भी किया जा सकता है, फिर भी इनमें से अनेक ऐसे हैं जिनकी सार्थकता प्रबन्ध के सन्दर्भ में ही हो सकती है । इसीलिए विद्वानों ने अन्तिम सात दोषों की कल्पना प्रायः प्रबन्ध के सन्दर्भ में ही की है । दूसरी बात यह है कि इनमें से कोई भी दोष अपरिहार्य नहीं है—प्रत्येक के परिहार का उपाय सम्भव है । यह स्थापना संस्कृत-काव्य-शास्त्र के आचार्यों की व्यवहार-बुद्धि का सुन्दर प्रमाण है : दोष की कल्पना सर्वथा निर्भ्रान्ति तो है, किन्तु कहीं भी वह रूढ़ नहीं होने पायी । ऐसा बहुत ही कम हुआ है कि किसी ऐसे छन्द अथवा काव्य को, जिसकी सरसता सिद्ध एवं असंदिग्ध है, केवल एकाध परिगणित दोष की अवस्थिति के कारण ही तिरस्कृत कर दिया गया हो ।

प्रत्येक दोष के पृथक् विवेचन से उसका स्वरूप और प्रभाव और भी स्पष्ट हो सकेगा ।

सामान्य रसदोष—

१. स्वशब्दवाच्यता—रस अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन रसास्वाद में बाधा उत्पन्न करता है । इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना ही होती है कथन नहीं; कथन से केवल तथ्यबोध होता है, प्रत्यक्ष प्रतीति तो व्यंजना के द्वारा ही सम्भव है । भाव के विषय में तथ्य-बोध परोक्ष ज्ञान-रूप होने के कारण बुद्धि की क्रिया है और उधर भाव की साक्षात्कारात्मक प्रतीति आस्वाद-रूप होने के कारण चित्त की क्रिया है । अतः रस या भाव का अभिधान रसास्वाद का साधक तो हो ही नहीं सकता, चित्त की क्रिया में बुद्धि का संक्रमण हो जाने के कारण उलटा बाधक ही हो जाता है । इसका निष्कर्ष यह निकला कि भाव का वाचक शब्द के द्वारा कथन न कर अनुभावों के द्वारा अभिव्यंजन—अर्थात् मूर्त रूप में उपस्थापन करना चाहिए । 'लक्ष्मण को क्रोध आ गया' या 'उर्मिला ने लज्जा का अनुभव किया'—यह सुनकर केवल तथ्य-बोध होता है, किन्तु जब हम यह सुनते हैं कि 'लक्ष्मण के नेत्र लाल हो गये' या 'उर्मिला के नयन झुक गये' तो हमें कल्पना के द्वारा क्रोध अथवा लज्जा की स्थिति का साक्षात्कार हो जाता है और यह साक्षात्

[1] काव्यप्रकाश (ज्ञानमण्डल, १९६०) पृ० ३५७-५८

अनुभव सम्बद्ध भाव की प्रतीति में सीधा योगदान करता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में पहले से अर्थ-बोध और दूसरे से बिम्ब-ग्रहण होता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में—विशेषकर आधुनिक काव्यशास्त्र में—बिम्ब को काव्य का प्रमुख माध्यम माना गया है: काव्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति का मुख्य माध्यम बिम्ब ही है। अतः उपर्युक्त दोष-कल्पना निश्चय ही दृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु 'स्वशब्दवाच्यत्व' का रूढ़ अर्थ में और निर्विवेक रीति से आरोपण करने पर काव्य के विवेचन तथा मूल्यांकन में त्रुटि हो सकती है। यहाँ अभिप्रेत वास्तव में इतना ही है। रस के प्रसंग में बिम्ब-विधान साधक और तथ्य-कथन बाधक होता है। जहाँ केवल तथ्य-कथन है वहाँ रस-प्रतीति निश्चय ही बाधित हो जाती है:

सीता भी नाता तोड़ गई,
इस वृद्ध ससुर को छोड़ गई।
उर्मिला बहू की बड़ी बहन।
किस भाँति करूँ मैं शोक सहन?

(साकेत, २००५ वि०, पृ० ११८)

उपर्युक्त छन्द में 'शोक' का—तथ्य का कथन मात्र है, अतः रस-प्रतीति बाधित है। इसी प्रकार—

कौसल्या क्या करती थीं?
चुप-चुप धीरज धरती थीं। (साकेत, पृ० ७८)

यहाँ भी 'धृति' का कथन है, अभिव्यक्ति नहीं; इसलिए 'भाव' की प्रतीति नहीं हो सकी और अन्ततः रस का परिपाक भी असिद्ध रहा।[1]

यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु इसके आगे भाव या रस के नाममात्र के उल्लेख से ही रसभंग की कल्पना अव्यावहारिक एवं असमीचीन है:

मानस-मन्दिर में सती पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप॥

(साकेत, संवत् २००५, पृ० १९५)

या

प्रलय में भी बच रहे हम, फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद।
ज्योत्स्ना-सी निकल आई! पार कर नीहार,
प्रणय-विधु है खड़ा नभ में लिये तारक-हार॥

(कामायनी, प्र० सं०, पृ० ९२)

साकेत के छन्द में 'विरह' और कामायनी की पंक्तियों में 'प्रणय' का स्वशब्दवाच्यत्व

---

[1] उपर्युक्त पंक्तियों को मुक्तक रूप में ही ग्रहण करना होगा तभी उनमें रस-दोष की अवस्थिति मान्य होगी, प्रबन्ध में तो इस प्रकार के इतिवृत्त-कथन अनिवार्य होते हैं और नीरस कहकर उन्हें तिरस्कृत नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रबन्ध के विशिष्ट रस-प्रसंगों का सम्पर्क उनमें सरसता का संचार करता रहता है।

स्पष्ट है, किन्तु क्या यहाँ रसभंग है ? दोष-परिहार का उपाय भी यहाँ व्यर्थ है—अर्थात् शब्द-परिवर्तन से—'जलती-सी उर-अग्नि में' या कोई अन्य संशोधन कर देने से भी स्थिति में विशेष सुधार नहीं होता। इसी प्रकार—

हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आई।
लज्जा ने घूँघट काढ़ा,—मुख का रंग किया गाढ़ा॥ (साकेत, पृ० ७३)

अथवा

गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक।
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गद्‌गद बोल॥ (कामायनी, पृ० ९४)

उपर्युक्त पदों में केवल 'लज्जा' के स्वशब्दवाच्यत्व से रसभंग मान लेना अरसिकता का परिचायक होगा। ये पद सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, किन्तु स्वशब्दवाच्यत्व इनमें रस का बाधक नहीं है। यहाँ यह तर्क भी कारगर नहीं हो सकता कि कहीं-कहीं भ्रांति का निवारण करने के लिए भाव का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक हो जाता है, क्योंकि यहाँ तो किसी प्रकार की भ्रांति की सम्भावना ही नहीं है।—अतः वस्तुस्थिति यह है कि भाव का कथन मात्र ही रसभंग का कारण होता है; जहाँ अनुभाव आदि के द्वारा बिम्ब-विधान पूर्ण है वहाँ भाव का नामोल्लेख मात्र अनिवार्यतः बाधक नहीं हो सकता। हिन्दी-काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत अनेक उदाहरणों का विश्लेषण कर इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है :

रस का स्वशब्दवाच्यत्व :

(१) हौं बलि चलि वाको छिनक लीजै लाजु निहार।
उमगत है चहुँ ओर छवि मानहु रस श्रृंगार॥
(रसमंजरी में उद्धृत, पृ० २४८)

(२) मुख सूखहिं लोचन स्रवहिं शोक न हृदय समाय।
मनहुँ करुण रस कटक लै उतरा अवध बजाय॥
(काव्यदर्पण में उद्धृत, पृ० ३०२)

स्थायी का स्वशब्दवाच्यत्व :

(१) टूटे टाटि घुन घने घून-घूम सेत सने,
झींगुर छगोड़ी साँप बिच्छिन की घात जू;
कंटक कलित तृन वलित बिगंध जल,
तिनके तलप तल ताको ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अंधतम अबरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू;
छेड़ि में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर-घरनीनि यह जात न घिनात जू॥
(रसमंजरी में उद्धृत, पृ० २५०)

(२) शरद निशा प्रीतम प्रिया, विहरति अनुपम भाँति।
ज्यों-ज्यों रात सिरात अति, त्यों-त्यों रति सरसाति॥
(सिद्धान्त और अध्ययन में उद्धृत, पृ० १६५)

व्यभिचारी का स्वशब्दवाच्यत्व :

(१) निसि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकत आलस वलित सहज सलोने गात॥ (जगद्विनोद)
(रसमंजरी में उद्धृत, पृ० २५२)

(२) जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय-हर्ष न जात कहि!
(काव्यदर्पण में उद्धृत, पृ० ३०२)

उपर्युक्त सभी छन्दों में रस का सम्यक् परिपाक नहीं है, यह ठीक है; किन्तु उसका दोष स्वशब्दवाच्यत्व को नहीं दिया जा सकता। रस-विषयक दोहों में वास्तव में शृंगार और करुण रस गौण हो गये हैं और उत्प्रेक्षा अलंकार प्रमुख, परन्तु शृंगार और करुण के कथन मात्र से रस में विघात नहीं होता। इसी प्रकार स्थायिभाव-सम्बन्धी दोहों में भी 'घिनात' और 'रति' शब्दों की स्थिति मात्र से रसभंग नहीं होता। केशव के कवित्त के विषय में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की टिप्पणी है—रसिकप्रिया में इसमें बीभत्स-रस का उदाहरण दिखाया गया है। 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाने से दोष आ गया है। हाँ 'असूया' संचारी भाव की व्यंजना अवश्य है। (पृ० २५०)। इसमें संदेह नहीं कि इस छन्द में संदर्भ की दृष्टि से असूया की व्यंजना ही प्रमुख हो गयी है क्योंकि केशव को सभी रसों का शृंगारपरक वर्णन अभीष्ट है, फिर भी यह मानना असंगत होगा कि 'घिनात' शब्द की अवस्थिति के कारण बीभत्स रस का उचित परिपाक यहाँ नहीं हो सका है। वक्ता की दृष्टि से निश्चय ही 'असूया' की व्यंजना अभीष्ट है, किन्तु असूया की यह व्यंजना 'बीभत्स' रस के द्वारा की गयी है—और इसमें कोई दोष भी नहीं है क्योंकि बीभत्स और शृंगार के आलम्बन भिन्न हैं : प्रथम की आलम्बन प्रतियोगिनी नायिका और दूसरे का आलम्बन नायक है। 'जुगुप्सा' और 'ईर्ष्या' का विषय एक ही है—नायिका; किन्तु ये दोनों अविरोधी भाव हैं—ईर्ष्या प्रायः घृणा का रूप धारण कर ही लेती है। अतः 'ईर्ष्या' की पुष्टि यहाँ 'जुगुप्सा' द्वारा हो रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि विवेच्य छन्द में बीभत्स रस का परिपाक निश्चय है (यह दूसरी बात है कि उसकी स्थिति गौण है)—और 'घिनात' की स्वशब्दवाच्यता रसभंग नहीं करती। 'सिद्धान्त और अध्ययन' में उद्धृत दोहा अपने आप में सरस नहीं है, फिर भी उसका सारा दोष 'रति' की स्वशब्दवाच्यता के मत्थे मढ़ना अनुचित होगा। यही स्थिति व्यभिचारी भावों के विषय में भी है। 'रसमंजरी' में उद्धृत पद्माकर का दोहा रतिश्रान्ता रमणी का सुन्दर चित्र उपस्थित करता है और विभाव अर्थात् आलम्बन तथा उसके उद्दीपक अनुभावों के सजीव चित्रण द्वारा, 'आलस' में स्वशब्दवाच्यत्व के रहते हुए भी, शृंगार-रस की सफल व्यंजना करता है। 'काव्यदर्पण' में प्रस्तुत उदाहरण स्वयं विशेष रूप से सरस नहीं है, परन्तु उसके लिए भी 'हर्ष' शब्द उत्तरदायी नहीं है। काव्यप्रकाश के उदाहरण और उसके संशोधन के विश्लेपण

से भी यह धारणा पुष्ट होती है—खण्डित नहीं होती। [देखिए, काव्यप्रकाश (ज्ञानमण्डल), पृ० ३५८]

उपर्युक्त विश्लेषण का सारांश यह है कि स्वशब्दवाच्यत्व-दोष की उद्भावना का वास्तविक उद्देश्य रस की व्यंजना पर बल देना है और रस की व्यंजना तभी सिद्ध हो सकती है जबकि रस के अभिधान को निषिद्ध कर दिया जाए। अतः यहाँ हमें वास्तविक आशय को ही ग्रहण करना चाहिए—शब्द-मात्र का प्रयोग दोषकारक नहीं है, व्यंजना का अभाव और रस का कथन-मात्र दोष है; एक-आध वाचक शब्द के रहने पर भी यदि बिम्ब-विधान स्पष्ट और पूर्ण है तो वहाँ दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि अधिकांश प्रसंगों में रस की व्यंजना प्रायः एक शब्द से सिद्ध या असिद्ध नहीं होती। इसीलिए, 'हिन्दी कवियों ने इस दोष पर विशेष ध्यान नहीं दिया है।'

२. विभावों और अनुभावों की कष्ट-कल्पना—रस का आधार है स्थायी भाव और स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि के कारण हैं विभाव तथा अभिव्यक्ति के साधन हैं अनुभाव। परिणामतः रस की अभिव्यक्ति और सहृदय द्वारा उसकी प्रतीति विभाव तथा अनुभाव पर ही मुख्यतया निर्भर रहती है। अतः विभाव, अनुभाव की स्पष्ट प्रतीति रस-परिपाक के लिए अनिवार्य है और इनकी प्रतीति में बाधा होने से रस का बाध भी अनिवार्य है—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥

—अर्थात् [यह नायक कामिनी के वियोग में] बेचैन हो रहा है, [इसका] विवेक नष्ट हो गया है [कर्तव्याकर्तव्य का इस समय इसको कोई ध्यान नहीं है], यह [चलते हुए या उठ-उठ कर] गिर पड़ता है, और [ज़मीन पर] बार-बार लोटता-पोटता है। इस प्रकार इसके शरीर की बड़ी भयंकर दशा हो रही है। यह बड़े खेद की बात है। [परन्तु] हम इस [दशा] में क्या [सहायता] करें [यह समझ में नहीं आता।]

यहाँ [वर्णित किये हुए] बेचैनी आदि अनुभाव [न केवल शृंगार रस में ही अपितु] करुण (आदि पद से भयानक तथा बीभत्स रस) आदि में भी हो सकते हैं। इसलिए कामिनी-रूप [आलम्बन] विभाव [यहाँ अभिप्रेत है, यह] कठिनाई से प्रतीत होता है। [अतः यहाँ विभाव की कष्ट-कल्पना रूप दोष है।] [काव्यप्रकाश (ज्ञानमण्डल), पृ० ३६०]

अथवा

उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति॥

इसमें यह नहीं मालूम होता कि किस कारण से स्त्री की यह दशा हुई, इसमें साधारण व्याधि और विरह की व्याधि में अन्तर स्पष्ट नहीं है। (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १६६)

३. विवक्षित रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन—प्रतिकूल विभावादि के द्वारा रस-विरोध की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। साहित्यदर्पण में इसका निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया गया है:

मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।

—हे तन्वंगि ! यौवन की अस्थिरता का विचार कर मान करना उचित नहीं है। (सा० द० विमला टीका, पृ० २४६)

हिन्दी में सेठ कन्हैयालाल ने माइकेल मधुसूदन दत्त का छन्द और पं० रामदहिन मिश्र ने बच्चन की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

(१) मधु कहता है व्रजवाले ! उन पद-पद्मों का करके ध्यान,
जाओ जहाँ पुकार रहा है श्रीमधुसूदन मोद-निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान,
यौवन के सु-रसाल-योग में काल-रोग है अति बलवान ॥

(रस मं०, पृ० २५६)

(२) इस पार प्रिये मधु है तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा ?

(काव्यदर्पण, पृ० ३०३)

यहाँ तर्क यह है कि 'यौवन की अस्थिरता' या 'उस पार' का चिन्तन तो शान्त रस का उद्दीपन है, श्रृंगार के प्रसंग में उसका वर्णन प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक होता है। इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत की पंक्ति में मान के प्रसंग में यौवन की अस्थिरता का चिन्तन श्रृंगार में बाधक है। इसी प्रकार (१) और (२) में भी यदि श्रृंगार की विवक्षा मानकर चलें तो वहाँ भी रस बाधित है, परन्तु विरहिणी व्रजांगना के छन्द में 'मधुरा भक्ति' और बच्चन की कविता में रुग्ण प्रेमिक कवि के अवसादजन्य 'निर्वेद' की अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेने पर उपर्युक्त रसबाधा का निराकरण हो जाता है।

प्रबन्धगत रसदोष

४. रस की बार-बार दीप्ति—किसी रस का परिपाक हो जाने के उपरान्त भी उसका पुनः पुनः वर्णन वैरस्य उत्पन्न करता है : परिपुष्ट रस का बार-बार वर्णन परिम्लान कुसुमपरिमल के समान वैरस्य का कारण हो जाता है—संस्कृत में 'कुमारसम्भव' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रति-विलाप और हिन्दी में 'साकेत' के नवम सर्ग में या 'प्रियप्रवास' के कतिपय सर्गों में विप्रलम्भ की पुनः पुनः दीप्ति इसका उदाहरण है। ध्वनिकार ने 'परिम्लान-कुसुम' का दृष्टांत देकर प्रस्तुत दोष के वास्तविक स्वरूप का बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रकाशन किया है। रस का परिपोष हो जाने के पश्चात् फिर उसकी बार-बार दीप्ति से वैचित्र्य और चमत्कार की हानि हो जाती है और श्रोता या पाठक का चित्त ऊबने लगता है, अतः इस प्रकार के प्रसंग निश्चय ही रस में बाधक होते हैं।

५. अनवसर में विस्तार—प्रसंग के विरुद्ध या उससे असंबद्ध रस का विस्तार भी रसभंग का प्रमुख कारण है। जीवन और उसके प्रतिलेख काव्य में भी अवसर के अनुकूल व्यवहार का नाम ही औचित्य है, अतः प्रसंग से असम्बद्ध या उसके विपरीत रस का वर्णन भी उचित नहीं माना जा सकता—ऐसे रस के विस्तार की तो बात ही क्या ? उदाहरण के लिए 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अंक में अनेक वीरों के मरण का प्रसंग आरम्भ होने पर दुर्योधन और भानुमती के संभोग श्रृंगार का वर्णन इसी प्रकार का दोष है। हिन्दी में

'रामचन्द्रिका' के अन्तर्गत दशरथ-मृत्यु से उत्पन्न शोक के प्रसंग में राम का कौशल्या के प्रति उपदेश 'अकाण्ड-प्रथन' का ही निदर्शन है।

६. अनवसर में रस का विच्छेद—असमय में ही रस का विच्छेद, जैसे—संस्कृत में 'महावीरचरित' के द्वितीय अंक में, राम तथा परशुराम के संवाद में वीररस के चरमोत्कर्ष की स्थिति में, राम का यह कथन कि 'मैं अब कंकण खोलने जा रहा हूँ।' इस प्रकार अचानक ही प्रसंग का परिवर्तन रस-परिपाक की व्यवस्था को छिन्नभिन्न कर देता है और उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रसंग में प्रायः रसभंग की आशंका रहती है, परन्तु कभी-कभी, विशेषकर नाटक में, कुशल कलाकार इसका कलात्मक प्रयोग भी करते हैं। रोमानी नाटकों में इस प्रकार के प्रयोग विशेषतः दृष्टिगत होते हैं। काव्य में भी जहाँ कवि नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है इस प्रकार के प्रयोग प्रायः चमत्कार की वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए, कामायनी के 'कर्म' सर्ग में श्रद्धा और मनु के संभोग शृंगार की चरम परिणति का प्रसंग लीजिए :

दो काठों की संधि-बीच उस निभृत गुफा में अपने।
अग्निशिखा बुझ गई जागने पर जैसे सुख-सपने॥

(कामायनी, प्र० सं०, पृ० १३६)

यहाँ 'निर्वेद' के द्वारा सहसा संभोग शृंगार का विच्छेद हो जाता है, परन्तु कवि ने ऐसा सचेष्ट होकर किया है—प्रसंग का अचानक परिवर्तन ही उसे अभीष्ट है। रामचरित-मानस में भी—

'आइ गये हनुमान ज्यों करुना में बीर रस।' में रसभंग नहीं होता, अभीष्ट रस-परिवर्तन ही होता है।

७. अंग की अत्यन्त विस्तृति—अंगभूत रस अथवा पात्र या प्रसंग की अत्यन्त विस्तृति भी रस के सम्यक् परिपाक में बाधक होती है। रसदोष संख्या ५ और इसमें भेद यह है कि वहाँ असम्बद्ध या विरोधी रस के विस्तार की बाधा है जबकि यहाँ सम्बद्ध एवं अंगभूत रस के अत्यधिक विस्तार का भी निषेध किया गया है। इस प्रकार अनुपात भंग हो जाने से अंग और अंगी की सममिति नष्ट हो जाती है; अंग को अंगी के अधीन ही रहना चाहिए, किन्तु महत्त्व बढ़ जाने से वह स्वतन्त्र हो जाता है और संहति विच्छिन्न हो जाती है। अंग से अभिप्राय केवल अंगभूत रस का ही नहीं है, अंगभूत पात्र और वस्तु का वर्णन-विस्तार भी रस में बाधक होता है। मम्मट ने इस प्रसंग में संस्कृत के 'हयग्रीववध' काव्य में प्रतिनायक हयग्रीव के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन और विश्वनाथ ने 'किरातार्जुनीयम्' के आठवें सर्ग में सुरांगनाओं का विलास-वर्णन उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। काश्मीरी कवि भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीववध' काव्य में हयग्रीव की जलक्रीड़ा, वन-विहार, रतोत्सव आदि का इतने अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है कि नायक विष्णु के क्रियाकलाप का वर्णन उसके सामने फीका पड़ जाता है। सामान्यतः नायक के प्रतापातिशय की व्यंजना के लिए प्रतिनायक के ऐश्वर्य का वर्णन काव्य में काम्य होता है, किन्तु उसका अतिविस्तार नायक के प्रताप को आच्छादित कर लेता है—अतः वह तो बाधक ही होगा। यहाँ प्रसिद्ध

वंगला काव्य 'मेघनादवध' का अनायास ही स्मरण हो आता है, उसमें मेघनाद का प्रतापातिशय राम-लक्ष्मण के तेज को निश्चय ही क्षीण कर देता है। ऐसी स्थिति में क्या 'मेघनादवध' काव्य में रस का बाध माना जाए? इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। एक तो यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र एवं सांस्कृतिक परम्परा की दृष्टि से राम-लक्ष्मण को प्रमुख पात्र मानने पर तो, रस में बाधा माननी ही पड़ेगी और अनेक विद्वानों ने—स्वयं रवीन्द्रनाथ ने भी—उस पर आरम्भ में यह आक्षेप किया था, आज भी अनेक विद्वान् ऐसा ही मानते हैं। किन्तु दूसरा और अधिक समीचीन उत्तर यह है कि 'मेघनादवध' की रचना पाश्चात्य काव्य-परम्परा के अनुसार हुई है, वह शोकान्त काव्य है जिसका नायक मेघनाद है, अतः उसके प्रताप का वर्णन रस-परिपाक में वाधक नहीं है। 'किरातार्जुनीयम्' में सुरांगनाओं की श्रृंगार-क्रीड़ाओं का प्रस्तार अंगी रस के उचित परिपोष में निश्चय ही वाधक होता है। हिन्दी में 'पद्मावत' के अन्तर्गत कहीं अस्त्रशस्त्र और कहीं व्यंजन आदि का वर्णन, 'रामचरितमानस' में स्थान-स्थान पर नीति, भक्ति और ज्ञान आदि का विवेचन, 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के वर्णन, 'जयद्रथवध' में 'स्वर्ग-वर्णन' और 'कामायनी' में दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन इसी कोटि में आते हैं। वास्तव में, इस प्रकार के वर्णन अपने आप में दोष नहीं हैं—औचित्य की सीमा के भीतर वे काव्य का उत्कर्ष करते हैं। इसीलिए महाकाव्य के लक्षणों में जीवन के विभिन्न सुन्दर एवं रोचक प्रसंगों का साग्रह अन्तर्भाव किया गया है—कुंतक ने तो रसमय प्रसंगों के वर्णन को प्रकरण-वक्रता का एक प्रमुख भेद ही माना है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं की कवि-कल्पना के उन्मुक्त विलास के लिए प्रचुर अवकाश प्रदान करने वाले ये वर्णन अपने आप में रस के वाधक न होकर साधक ही होते हैं। किन्तु औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने पर वे निश्चय ही दोप वन जाते हैं, यह भी उतना ही सत्य है।

८. अंगी की उपेक्षा—प्रमुख रस, पात्र अथवा कथा-प्रसंग की उपेक्षा भी रसभंग का कारण होती है। मम्मट ने 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में 'उदयन द्वारा सागरिका के विस्मरण' प्रसंग को प्रस्तुत दोष के उदाहरण रूप में उपस्थित किया है। सिंहलेश्वर के कंचुकी वाभ्रव्य के आ जाने पर उदयन विजयवर्मा का वृत्तान्त सुनने में इतना तल्लीन हो जाता है कि प्रमुख पात्र सागरिका (रत्नावली) को एक साथ भूल जाता है। इस तरह श्रृंगार रस के परिपाक में विच्छेद हो जाता है। वस्तुतः यह दोष इससे पूर्ववर्ती दोष का ही परिणाम है : अंग की विस्तृति से अंगी के महत्त्व की क्षति स्वाभाविक ही है। अनेक प्रवन्धों में जहाँ नायकत्व के विषय में सन्देह रहता है, अंगी की उपेक्षा ही तो सन्देह का कारण होती है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के प्रवल चरित्र-चित्रण में नायक चन्द्रगुप्त की उपेक्षा निहित है; प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' नामक उपन्यास में ज्ञानशंकर के चरित्र का प्रावल्य अंगी पात्र प्रेमशंकर के महत्त्व को स्थान-स्थान पर वाधित कर देता है; साकेत के उत्तरार्ध में राम की महिमा से अभिभूत कवि और उसके साथ पाठक भी उर्मिला को भूल जाता है। इस प्रकार विवक्षित रस की हानि होती है, इसमें सन्देह नहीं।

९. प्रकृति का विपर्यय—आनन्दवर्धन ने इसे ही वृत्ति या व्यवहार का अनौचित्य कहा है। प्रवन्धकाव्य के पात्रों का अपना-अपना विशिष्ट स्वभाव तथा चरित्र होता है

जिसका निर्वाह कवि के लिए आवश्यक है। संस्कृत नाट्यशास्त्र में दिव्य, अदिव्य तथा दिव्या-दिव्य—ये तीन प्रकृति-भेद और फिर धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त—ये चार चरित्र-भेद माने गये हैं। प्रत्येक पात्र के व्यवहार का वर्णन उसकी अपनी प्रकृति तथा चरित्र के अनुकूल ही होना चाहिए, अन्यथा रसभंग की आशंका हो सकती है। उदाहरण के लिए, उत्तम पात्रों के विवृत शृंगार, धीरोदात्त नायक की कायरता, धीरप्रशांत के औद्धत्य आदि का वर्णन रस में व्याघात उत्पन्न कर देता है। 'रघुवंश' में शिवपार्वती का सम्भोग, 'मेघनादवध' में राम-लक्ष्मण की भीरुता, 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती की ग्राम्य सपत्नीकलह, 'रामचरितमानस' में रावण की सभा में अंगद की अशिष्टता, 'साकेत' में दशरथ और कैकेयी के प्रति लक्ष्मण की उद्दण्डता, 'कामायनी' में इड़ा के प्रति मनु का पाशव व्यवहार आदि प्रकृति-विपर्यय के निदर्शन हैं—इनमें व्यवहार के अनौचित्य के कारण रसभंग होता है।

१०. अनंग-कथन—अप्रासंगिक वर्णन से भी रस में व्यवधान उपस्थित हो जाता है। वास्तव में अप्रासंगिक चर्चा तो सामान्य व्यवहार में भी असह्य हो जाती है, काव्य की तो बात ही क्या? ऐसे प्रसंगों का वर्णन जिनका प्रस्तुत कथा या विवक्षित रस के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो, निस्सन्देह ही रस का बाधक होता है। परन्तु यह कोई महत्त्वपूर्ण रस-विघ्न नहीं है; सामान्य रूप में तो इसका अन्तर्भाव अकाण्ड-प्रथन में ही हो जाता है और स्वतन्त्र रूप में यह दोष इतना स्पष्ट रहता है कि कोई विवेकशील कवि इस प्रकार की ग़लती प्रायः नहीं करता। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों को ले-देकर इसका एक ही उदाहरण मिल सका है: 'कर्पूरमंजरी' में राजा द्वारा नायिका तथा स्वयं अपने वसन्तवर्णन की उपेक्षा कर वन्दिजन-कृत वसन्त-वर्णन की प्रशंसा।

जैसा कि हमने प्रसंग के प्रारम्भ में ही संकेत किया है, अंतिम सात दोषों का सम्बन्ध मुख्यतः प्रबन्धकाव्य से ही है—मुख्यतः ही अनिवार्यतः नहीं, क्योंकि रीतिकाल के दास आदि कवि-आचार्यों ने, जिनके लिए मुक्तक ही काव्य का आदर्श रूप था, स्वतंत्र छन्दों के द्वारा ही इन सभी रस-दोषों को उदाहृत किया है:

पुनः पुनः दीप्ति—

पंकज पाइँन पैंजनियाँ, कटि घाँघरो किंकिनियाँ जरबीली।
मोतिन हार-हँमेल बलोंन पै, सारी सुहावनी कंचुकी नीली।
ठोड़ी पै स्यामल-बुंद अनूप, तरोनँन की चुनियाँ-चटकीली।
ईंगुर की सुरखी दुरकी नथ, भाल में बाल कें बेंदी छबीली।

"उपमादि के बिना एक ही रस की बार-बार दीप्ति—शोभा प्रदर्शित करना भी एक 'रस-दोष' है, यह दास जी ने यहाँ कहा है। किसी रस का परिपाक हो जाने पर—उसका प्रसंग समाप्त हो जाने पर फिर उसी का वर्णन करना 'दीप्ति' करना कहलाता है। दास जी के इस उदाहरण में यही दोष है, क्योंकि आप द्वारा यहाँ परिपुष्ट और उपभुक्त शृंगार रस फिर से दीप्त किया जाने के कारण मींड़े हुए पुष्प के समान अशोभन हो गया है, अतः उपर्युक्त दोष है।"[1]

---

[1] काव्यनिर्णय [सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी] पृ० ६८३

अकाण्ड-प्रथन (असमै जुक्ति कथन) :

सजि सिंगार-सर पै चढ़ी, सुन्दरि निपट सुवेस।
मँनों जीति भुव-लोक सव, चली जितन दिवि-देस ॥

"यहाँ सहगामिनी देखि कें सांत-रस वरनिवौ उचित हो, सिंगार-रस नाहीं, तातें 'असमइ' कथन दोप है।"[1]

अकांड-छेदन :

राम-आगमन-सुनि कह्यौ, राम वंधु सों वात।
कंकन मोहि छुराइवौ, उतै जाहु तुम तात ॥

"इहाँ कंकन-छुराइवे कौ मोह त्याग श्रीराम कौ परसराम पै—उनके निकट जाइवौ उचित हो, सो न कह्यौ, ताते कादरता प्रघट जाँनी जात है।"[2]

अंग की प्रधानता :

दासी सों मंडन-समैं, दरपन मांग्यों वाम।
वैठि गई सो सामनें, करि आनन अभिराम ॥

"इहाँ नायिका अंगी है, दासी वाकी अंग है, सो इहाँ अंगी कों—नायिका कों छाँड़ि अंग—दासी की सोभा वरनिवौ दोप है।"[3]

अंगी की उपेक्षा :

पीतम पठै सहेट कों, खेलन अटकी जाइ।
तकि तिहि आवत उतै ते, तिय मन-मन पछिताइ ॥[4]

यहाँ खेल के कारण नायिका द्वारा अंगी नायक की उपेक्षा विवक्षित है।

इसमें संदेह नहीं कि दास ने सभी दोषों को मुक्तक में घटा दिया है, फिर भी उदाहरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सात दोपों का वास्तविक क्षेत्र प्रवंध ही है, मुक्तक नहीं। और, इसका प्रमाण यह है कि दास का कोई भी छंद दोप के स्वरूप का पूर्णतः प्रकाशन करने में समर्थ नहीं है। 'अकाण्ड-छेदन' का उदाहरण तो मम्मट के इस वाक्य का अनुवाद मात्र है : अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ।[5] परन्तु यहाँ तो वीर रस का परिपाक ही नहीं होता, उसका अकांड-छेदन फिर कैसे होगा ? इसी प्रकार 'अंग की प्रधानता' और 'अंगी की उपेक्षा' के उदाहरणों में भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अतः, सव मिलाकर यही मानना अधिक संगत है कि अंतिम सात रस-दोपों का सम्वन्ध मुख्यतः प्रवन्धकाव्य के साथ ही है।

रस-दोपों का वर्णन यहीं समाप्त हो जाता है। किन्तु मम्मट ने अपनी कारिका में

---

[1] काव्यनिर्णय पृ० ६८३
[2] वही पृ० ६८४
[3] वही पृ० ६८४
[4] वही पृ० ६८५
[5] काव्यप्रकाश [ज्ञानमंडल] पृ० ३६२

"ये ही रस-दोष है" ऐसा न कहकर यह कहा है कि "इस प्रकार के रस-दोष होते हैं" : दोषाः स्युरीदृशाः ७.६२।। इसका अर्थ यह हुआ कि इनके अतिरिक्त, इसी प्रकार के अन्य कारण भी रसभंग के हो सकते हैं। इसी के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने देश, काल आदि के अन्यथा-वर्णनों का भी समावेश कर लिया है क्योंकि इनसे काव्य की असत्यता प्रतीत होने लगती है—और जब काव्य के वर्णन में प्रत्यय ही न हो तब तो रस का प्रश्न ही नहीं उठ सकता : **अन्यदौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासंभवः।** (सा० द०, विमला टीका, पृ० २५०)।

वस्तुतः उपर्युक्त सभी रस-विघ्न अनौचित्य के ही विविध प्रकार हैं—और, जैसा कि आनन्दवर्धन ने कहा है : अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है तथा औचित्य के अतिरिक्त रस के परिपोष का दूसरा कोई रहस्य नहीं है :

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

इसी के आधार पर महिमभट्ट ने दोष के लिए 'अनौचित्य' शब्द का ही प्रयोग किया है और क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सिद्धान्त का विकास दिया है।

(ख) सहृदय की दृष्टि से

सहृदय की दृष्टि से रस-विघ्नों का मार्मिक विवेचन सर्वप्रथम अभिनवभारती में किया गया है। यह सिद्ध करने के उपरान्त कि प्रत्येक स्थिति में आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है—**'सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः'**, अभिनवगुप्त अत्यन्त स्पष्ट तथा सूक्ष्म-गंभीर रीति से रस-विघ्नों की व्याख्या करते हैं। ये विघ्न सात हैं : **प्रतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यम् स्फुटत्वभावो अप्रधानता संशययोगश्च।** [अभिनवभारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २८०]। इस उद्धरण की व्याख्या के विषय में थोड़ा मतभेद है। आचार्य विश्वेश्वर के मत से सात विघ्न इस प्रकार हैं—(१) ज्ञान (प्रतीति) के अयोग्य होना अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव; (२) स्वगत (सामाजिकगत) रूप से अथवा परगत (नटगत) रूप से देशकाल विशेष का सम्बन्ध; (३) अपने (व्यक्तिगत) सुखादि के वश (सामाजिक का) हो जाना; (४) प्रतीति के उचित उपायों का अभाव; (५) स्फुट प्रतीति का न होना; (६) अप्रधानता, तथा (७) संशय का योग।[1] उधर पं० रामदहिन मिश्र के अनुसार संख्याक्रम इस प्रकार है : (१) प्रतिपत्ति में अयोग्यता अर्थात् सम्भावना-विरह; (२-३) अपने और पराये के नियम से देश और काल का आवेश होना; (४) अपने सुख आदि से ही विवश हो जाना; (५) प्रतीति के उपायों की विकलता और उसका स्फुट न होना; (६) अप्रधानता, और (७) संशय-योग अर्थात् संदेह उपस्थित हो जाना।[2] मूल भेद दोनों में यह है कि आचार्य विश्वेश्वर ने स्वगत-परगत नियम से

---

[1] हिंदी अभिनवभारती पृ० ४७४

[2] काव्यदर्पण पृ० १२६

देशकाल के आवेश को एक विघ्न और प्रतीति-उपाय-वैकल्य तथा स्फुटत्व के अभाव को दो पृथक्-पृथक् विघ्न माना है; जबकि पं० रामदहिन मिश्र ने स्वगत-नियम से देशकाल के आवेश और परगत भाव से देशकाल के सम्बन्ध को दो पृथक् विघ्न तथा प्रतीति-उपाय-वैकल्य और स्फुटत्वाभाव को एक माना है। इन दोनों विकल्पों में तो दूसरा ही अधिक मान्य है क्योंकि प्रतीति के उपायों की विफलता और स्फुट प्रतीति का अभाव दो अलग तथ्य न होकर एक ही तथ्य के कारण और कार्य हैं, अर्थात् उपायों की विफलता का परिणाम ही तो प्रतीति की अस्फुटता है। एक विकल्प यह भी है कि विघ्नों की संख्या ही सात न मानी जाए जैसा गायकवाड़ संस्करण में है जहाँ कि 'सप्त' शब्द ही पाठ के अन्तर्गत नहीं है। किन्तु हमारा विचार यही है कि स्वगत तथा परगत भाव से देशकाल के आवेश की कल्पना को अलग-अलग मानने में कोई दोष नहीं है।

१. **प्रतीति में अयोग्यता अथवा सम्भावना-विरह**—जहाँ वर्ण्य विषय की पाठक या श्रोता के मन में प्रतीति ही न हो सके, वह उसे असम्भव समझे और स्वीकार करने में असमर्थ रहे, वहाँ रसानुभूति नहीं हो सकती। जहाँ संवेद्य विषय के प्रति मन में प्रत्यय ही न हो सके वहाँ विश्रान्ति की तो बात ही क्या? यह पहला विघ्न है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में घटना के तीन रूपों का उल्लेख किया है—घटित, सम्भाव्य तथा असम्भव और इन तीनों में सम्भाव्य को काव्य के लिए सबसे अधिक उपयुक्त माना है। उनके मत से 'घटित' इतिहास का विषय है, 'सम्भाव्य' काव्य का; 'असम्भव' के लिए इतिहास में तो अवकाश है ही नहीं काव्य में भी उसके लिए कोई स्थान नहीं है। कवि की दृष्टि से आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि ने वृत्ति के अनौचित्य या प्रकृति के विपर्यय की व्याख्या के अन्तर्गत इस विघ्न का संकेत किया है। उनका कथन है कि समुद्रलंघन आदि कृत्यों का वर्णन दिव्य पात्रों के संदर्भ में ही करना चाहिए सामान्य पात्रों के प्रसंग में नहीं। विश्वनाथ ने इसी संदर्भ में स्पष्ट लिखा है कि देशकालादि के अन्यथा वर्णन से काव्य में असत्यता का प्रतिभास होने लगेगा और पाठक का उसके प्रति उन्मुखी भाव ही नहीं हो सकेगा। यह वास्तव में कवि की दृष्टि से उपर्युक्त रस-विघ्न की कल्पना है।

२. **स्वगत भाव से देशकाल का आवेश**—नाट्य का प्रेक्षण करते समय यदि सामाजिक को प्रस्तुत प्रसंग में स्वगत सुख-दुःख आदि की प्रतीति होने लगे तो उसकी रसानुभूति बाधित हो जाएगी। प्रमाता यदि नाट्यगत शोक से सन्ताप, भय से भीति, रति से आनन्द आदि का स्वयं अनुभव करने लगेगा तो लौकिक भावों से सम्बद्ध नाना प्रकार की इच्छाएं और प्रतिक्रियाएं उसके चित्त में उत्पन्न हो जाएँगी : कटु भावों के त्याग की इच्छा उसके मन में जगेगी, मधुर भावों की पुनरावृत्ति की वह कामना करेगा, रति, भय आदि का वह गोपन करेगा और उत्साह आदि का प्रकाशन। इस प्रकार देशकाल से परिबद्ध उसके अपने रागद्वेष चित्त की विश्रान्ति भंग कर देंगे।

३. **परगत भाव से देशकाल का आवेश**—रस की प्रतीति परगत भाव से होने पर भी रसानुभूति में विघ्न उपस्थित हो जाएगा। यदि प्रमाता को यह प्रतीत होगा कि रंगमंच पर उपस्थित व्यक्ति ही रति, शोक, क्रोध आदि का अनुभव कर रहा है, तब भी उसे अपने

भीतर सुख, दुःख, मोह, तटस्थता आदि का ज्ञान होने लगेगा। प्रमाता सामने उपस्थित व्यक्ति को मूल पात्र रामादि भी मान सकता है और नट भी, परन्तु दोनों परिस्थितियों में वह व्यक्ति प्रमाता से भिन्न ही रहेगा और उसका अनुभव परगत ही होगा। प्रमाता यह अनुभव करेगा कि पात्र या नट सुख से आविष्ट है या दुःखग्रस्त है; दूसरे को सुखी या दुःखी देखकर मानव-स्वभाव के कारण उसके अपने मन में भी निश्चय ही किसी न किसी प्रकार के प्रत्यक्ष संवेदन का उदय होगा जिसके परिणामस्वरूप चित्त की विश्रांति अनिवार्यतः भंग हो जाएगी।

उपर्युक्त दोनों विघ्नों का आधार है व्यक्तिबद्ध अर्थात् देशकाल से आबद्ध भाव की प्रतीति जो पात्र और परिस्थिति के अनुसार सुखमय, दुःखमय या मोहयुक्त होने के कारण रसानुभूति से नियमतः भिन्न होती है। इन दोनों विघ्नों के निराकरण का उपाय है साधारणीकरण जो काव्य में गुणालंकार और नाट्य में चतुर्विध अभिनय के द्वारा सिद्ध होता है। गुणालंकार और चतुर्विध अभिनय वे साधन हैं जो कवि या नट की कल्पना से उद्भूत होकर सामाजिक की कल्पना को उद्बुद्ध करते हुए उसकी चेतना को व्यक्ति-संसर्गों से—देशकाल के बन्धन से—मुक्त कर देते हैं। काव्य-कौशल और नाट्य-कौशल के द्वारा उद्बुद्ध कल्पना से आविष्ट प्रमाता को यह प्रतीत नहीं होता कि अस्यैव, अत्रैव, एतर्ह्येव च सुखं दुःखम्[1]—अर्थात् इसी व्यक्ति को यहाँ ही और इसी से सुख या दुःख होता है।

४. **निज सुखादि का आवेश**—अपने सुख-दुःख आदि से विवश हुआ व्यक्ति किसी अन्य वस्तु में—काव्य या नाट्य प्रसंग में ध्यान एकाग्र कैसे कर सकता है? यदि सामाजिक अपने सुख-दुःख से आविष्ट होकर—किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर—प्रेक्षागृह में जाता है या काव्य के मनन में प्रवृत्त होता है तो भी उसे रसानुभूति नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में तो उसकी सहृदयता ही पूर्वाग्रह से दूषित रहेगी, अर्थात् अपने में खोया हुआ होने के कारण वह काव्य या नाट्य के प्रभाव को ही ग्रहण करने में अक्षम होगा, अतः रसास्वाद का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इस स्थिति में और स्वगत भाव से काव्यगत या नाट्यगत संवेदन की प्रतीति में अन्तर यह है कि यहाँ सहृदय अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख से आविष्ट है और वहाँ वह काव्य या नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रति या शोक आदि के साक्षात्कार से स्वयं भी उसी प्रकार के भाव का अनुभव करता है।

इस विघ्न के अपाकरण का उपाय भी काव्य और नाट्य के सौन्दर्य में निहित है। कला में ऐसी शक्ति है कि वह प्रमाता के चित्त को व्यक्तिगत रागद्वेष, हर्षविषाद आदि से मुक्त कर देती है—अरसिक और शुष्क, जीवन के नीरस व्यापारों में लीन व्यक्ति भी प्रेक्षागृह में जाकर गीत, नृत्य, काव्य-सौन्दर्य आदि के प्रभाव से अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को भूलकर चित्त के वैशद्य का अनुभव करता है। वस्तुतः यह साधारणीकरण व्यापार का ही दूसरा पक्ष है—पहला पक्ष है विभावादि को देशकाल के बन्धन से मुक्त करना और दूसरा पक्ष है प्रमाता के चित्त को व्यक्ति-संसर्गों से ऊपर उठाना।

---

१ हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४७५

५. **उपायों की अक्षमता और परिणामस्वरूप प्रतीति की स्फुटता का अभाव**—प्रतीति के उपायों का अर्थ है अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात् काव्य के क्षेत्र में व्यंजना और नाट्य के क्षेत्र में रंग-कौशल तथा अभिनय आदि। जैसा कि हम आरम्भ में ही सिद्ध कर चुके हैं, रस का शब्द द्वारा कथन नहीं होता वरन् व्यंजना द्वारा साक्षात्कारात्मक प्रतीति होती है। अतः कवि और नाट्यकार ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं जिनसे अर्थ का सामान्य बोध या अनुमान मात्र होकर न रह जाए, वरन् साक्षात् प्रतीति सम्भव हो सके। ये उपाय यदि अपूर्ण रह जाएँ तो निश्चय ही रस की प्रतीति बाधित हो जाएगी। इस प्रकार अभिव्यक्ति की असमर्थता भी रस का एक प्रमुख विघ्न है। वास्तव में कविगत रस और सहृदयगत रस का माध्यम अभिव्यंजना ही तो है, और यदि वह अपूर्ण है तो सम्प्रेषण-सिद्धान्त के अनुसार न रस का सम्प्रेषण हो सकेगा और न अभिव्यक्तिवाद के अनुसार रस की व्यंजना ही। रसास्वादन की प्रक्रिया में अभिव्यंजना का महत्त्व असंदिग्ध है—क्रोचे आदि अभिव्यंजनावादियों ने उसे ही कला का पर्याय माना है : उसकी पूर्णता ही सौन्दर्य है और अपूर्णता ही विकृति।

अभिव्यक्ति का प्रश्न कवि से सम्बद्ध है। अतः प्रस्तुत रस-विघ्न का सम्बन्ध भी आरम्भ में कवि के साथ ही मानना चाहिए। किन्तु अन्त में प्रतीति का कर्ता तो सहृदय ही होता है, अतः इस विघ्न का परिणाम भी अन्ततः उसे ही भोगना पड़ता है। कवि की दृष्टि से विवेचित स्वशब्दवाच्यत्व दोष प्रायः इसी कोटि के अन्तर्गत आता है।

६. **अप्रधानता**—रस की अप्रधानता का अनुभव छठा रस-विघ्न है। वस्तुतः रस के प्रपंच में स्थायी भाव की स्थिति ही मुख्य होती है क्योंकि विभाव, अनुभाव तो अचेतन हैं और व्यभिचारी भाव चेतन होते हुए भी परमुखापेक्षी हैं। इसलिए यदि इनमें से कोई प्रमुख हो जाए और स्थायी भाव गौण अर्थात् काव्य अथवा नाटक के किसी प्रसंग से प्रमाता के चित्त में स्थायी भाव का सम्यक् उद्‌बोध न हो सके तो वहाँ भी रस बाधित हो जाता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि सर्वथा विषयिपरक है, अतः उन्होंने काव्य में विभाव पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में जहाँ तक सामान्य स्थापना का प्रश्न है वहाँ तक तो मतभेद के लिए कोई अवकाश नहीं है, किन्तु इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि काव्य में विभाव, अनुभाव का स्वतन्त्र चित्रण या व्यभिचारी की स्वतन्त्र व्यंजना रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के लिए सर्वत्र एवं सर्वथा अपर्याप्त रहती है। संस्कृत तथा हिन्दी में ऐसे असंख्य सरस छन्द हैं जिनमें मुख्यतः विभाव का चित्रण है, अनुभाव-चित्रण के माध्यम से भी रस की प्रतीति कराने वाले अनेक छन्द सहज-सुलभ हैं और व्यभिचारी द्वारा रस की प्रतीति का उत्कृष्ट प्रमाण तो अधिकांश छायावादी काव्य ही है। अभिनव जैसे रसमर्मज्ञ को यह सामान्य तथ्य अज्ञात नहीं था, उनका उद्देश्य केवल भाव-पक्ष को रेखांकित करना ही है। विभिन्न काव्यों में—प्रसिद्ध काव्यों में भी—ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जहाँ कवि आलम्बन के नखशिख आदि के अलंकृत वर्णन में या उद्दीपन—प्रकृति, नगर आदि—के विस्तृत वर्णन में उलझ गया है और इस प्रकार के विवरण निश्चय ही रस में बाधक हो गये हैं। वास्तव में आनन्दवर्धन और मम्मट आदि ने भी कवि की दृष्टि से रस-विघ्नों का विवेचन करते हुए 'सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन'

अथवा 'अंग की अत्यन्त विस्तृति' के अन्तर्गत इसका वर्णन किया है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि 'कभी-कभी कवि विप्रलम्भ शृंगार आदि का वर्णन प्रारम्भ कर चमत्कार-प्रदर्शन के मोह से विस्तार के साथ पर्वत आदि के वर्णन में प्रवृत्त हो जाते हैं' और इस प्रकार रस की हानि कर वैठते हैं।

अभिनवगुप्त ने इस संदर्भ में रसों की भी परस्पर प्रधानता-अप्रधानता का उल्लेख किया है—साथ ही गुणालंकार आदि की अपेक्षा रस की अप्रधानता का भी संकेत किया है। उनका कथन है कि जिन रसों का सम्वन्ध पुरुषार्थ-चतुष्टय के साथ है वे प्रमुख हैं और शेष गौण; प्रबन्धकाव्य तथा रूपक के विभिन्न भेदों में रस के परिपाक में इसका भी ध्यान रखना आवश्यक होता है क्योंकि इस क्रम का विपर्यय हो जाने से भी रस में वाधा पड़ जाती है। इसी प्रकार गुण अथवा अलंकार की अपेक्षा रस की गौणता भी एक निश्चित विघ्न है क्योंकि प्रमाता का ध्यान स्वभावतः ही अप्रधान को छोड़ प्रधान की ओर दौड़ता है—अतः जहाँ गुण अथवा अलंकार का प्राधान्य है वहाँ भी रस की प्रतीति में निश्चय ही वाधा पड़ती है।

७. संशययोग—रस के अवयवों की वास्तविक स्थिति के विषय में शंका उत्पन्न हो जाने पर भी रस की प्रतीति खण्डित हो जाती है। वास्तव में अनुभाव, विभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों के साथ सम्वन्ध नियत नहीं है : एक ही अनुभाव का—उदाहरण के लिए 'कम्प' का—सम्बन्ध भयानक और शृंगार जैसे विरोधी रसों के साथ हो सकता है; एक ही विभाव—जैसे व्याघ्र—भयानक और रौद्र दोनों का कारण हो सकता है; श्रम, चिन्ता आदि व्यभिचारी अनेक रसों में हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इनके विषय में संदेह उत्पन्न हो जाए तो रसानुभूति में निश्चय ही विघ्न उपस्थित हो जाएगा। इसीलिए भरतसूत्र में 'संयोग' शब्द का स्पष्ट ग्रहण है, क्योंकि 'संयोग' के द्वारा संदर्भ के साथ रसावयवों का सम्वन्ध निश्चित हो जाता है और संशयजन्य वाधा मिट जाती है। मम्मट आदि ने 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः'—अर्थात् 'विभाव-अनुभाव की कष्ट कल्पना' के अन्तर्गत इसी वाधा को कवि की दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

रस-विघ्न का प्रसंग यहाँ पूर्ण हो जाता है। इस विवेचन के दो पक्ष हैं—कवि की दृष्टि से अथवा विषयगत और सहृदय की दृष्टि से अथवा विषयिगत, यद्यपि तत्त्व-दृष्टि से रस-विघ्न की सत्ता विषयिगत ही माननी चाहिए, क्योंकि रस की स्थिति वस्तुतः सहृदयगत ही है और रस-विघ्न भी वहीं होगा जहाँ रस है। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण उपयोगी हो सकता है। जिन विघ्नों का वर्णन आनन्दवर्धन और मम्मट आदि ने रस-दोषों के नाम से किया है वे भी अन्ततः सहृदय की प्रतीति के ही विषय वन जाते हैं, किन्तु उनका सम्वन्ध मूल रूप में कवि-कर्म या कवि-कृति (काव्य) के साथ ही है—वे कवि-कर्म के ही दोष हैं जो अन्त में सहृदय की प्रतीति में दोष उत्पन्न कर देते हैं। इनके अतिरिक्त जिन विघ्नों का वर्णन अभिनव ने किया है, उनके कारणभूत दोषों की स्थिति प्रायः सहृदय की चेतना में रहती है—स्वगत भाव से देशकाल का आवेश, परगत भाव से देशकाल का आवेश, व्यक्तिगत सुखदुःख का आवेश तो निश्चय ही ऐसे दोष हैं जिनकी सत्ता सहृदय की चेतना

में ही है, शेष की स्थिति उभयगत मानी जा सकती है। वास्तव में, रसानुभूति की बाधा के दो कारण होते हैं—अभिव्यक्ति की विकलता और अनुभूति की विकलता : पहला कवि का दोष है और दूसरा सहृदय का। अन्ततः कवि के दोष का भी फल सहृदय को ही भोगना पड़ता है, इसलिए भोक्ता तो सहृदय ही है; तथापि कवि भी रस की बाधा का निमित्त कारण तो होता ही है।

(घ) रसाभास

रसाभास का प्रसंग भी प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध है, अतः उसका विवेचन भी इसी संदर्भ में कर लेना अधिक उपयुक्त होगा। रसभंग और रसविरोध की भाँति ही भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, किन्तु प्रत्येक रस के विभावादि के विस्तृत विवेचन से यह अवश्य व्यंजित हो जाता है कि उनमें व्यतिक्रम के लिए अवकाश नहीं है : आलम्बनादि के विषय में दोष आ जाने से रस के बाधित होने की आशंका रहती है। भरत के परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने तो रस को ही अत्यन्त गौण स्थान दिया था अतः रसाभास का प्रश्न ही उनके सामने नहीं आया। केवल उद्भट के ऊर्जस्वि अलंकार में रसाभास का थोड़ा-सा संकेत मिल सकता है : जहाँ किसी रस या भाव की अनुचित प्रवृत्ति हो अर्थात् उसका प्रकाशन सत्य या मर्यादा का अतिक्रमण कर जाए, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार की कल्पना की गयी है :

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ (का० सा० सं०, पृ० ५६)

उद्भट के पश्चात् ध्वनिवादी आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण घोषित कर रसाभास के विषय में कदाचित् सर्वप्रथम प्रामाणिक संकेत दिया :

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥२.३॥

× × ×

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

(ध्वन्यालोक, ज्ञानमंडल, पृ० १६०)

अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है—अर्थात् भरतादि के द्वारा निरूपित विभावादि का यथोचित निबन्धन रस का साधक और उसके विपरीत व्यवहार—अनुचित विभावादि का नियोजन रस का बाधक होता है। रसभंग और रसविरोध के इसी विवेचन के आधार पर आगे चलकर रसाभास की प्रकल्पना की गयी।

रसाभास का अर्थ और लक्षण—आभास का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब आदि के समान अवास्तव स्वरूप—प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्।[१] जिस प्रकार सीपी में रजत का आभास हो जाता है—शुक्तौ रूप्याभासवत्,[२] इसी प्रकार रसाभास में भी रस की वास्तविक या शुद्ध प्रतीति के स्थान पर उसका आभास मात्र रहता है। रसाभास के कतिपय आप्त लक्षण इस प्रकार हैं :

---

१ शाब्दकल्पद्रुम

२ हिन्दी अभिनवभारती पृ० ५१८

अभिनवगुप्त—**औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः,**[१] अर्थात् औचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव का आस्वाद रस है और व्यभिचारी भाव का आस्वाद 'भाव' कहलाता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी का आस्वाद 'रसाभास' और व्यभिचारी का 'भावाभास' कहलाता है। सारांश यह है कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायिभाव का आस्वाद ही 'रसाभास' है।

मम्मट—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः[२]—उन रस तथा भाव का अनुचित प्रवर्तन ही 'रसाभास' तथा 'भावाभास' है।

जगन्नाथ—अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्[3]—जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ उसे रसाभास कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस की अनुचित प्रवृत्ति का नाम ही रसाभास है। रस की अनुचित प्रवृत्ति का वास्तविक अर्थ क्या है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् विभाव पक्ष पर बल देते हैं; उनके अनुसार रत्यादि स्थायी भावों के अनुचित विषय में प्रवृत्त अथवा अनुचित आलम्बन के प्रति उन्मुख होने पर 'रसाभास' होता है; यहाँ अनौचित्य का सम्बन्ध विभाव पक्ष के साथ है। विद्वानों का दूसरा वर्ग अनौचित्य का सम्बन्ध स्थायी भाव के साथ मानता है—अर्थात् स्थायी भाव जहाँ अनुचित रीति से प्रवृत्त होता है वहाँ रसाभास होता है। वास्तव में दोनों मन्तव्यों में कोई मौलिक भेद नहीं है। यह तो ठीक ही है कि रस के प्रपंच का आधार स्थायी भाव ही है, उसी की निर्विघ्न चर्वणा रस है। अतः अनौचित्य का सम्बन्ध अन्ततः उसी के साथ मानना पड़ेगा क्योंकि उसी की चर्वणा में अनौचित्य की बाधा उपस्थित हो जाने से रस रसाभास में परिणत हो जाता है। फिर भी, विभावादि का अनौचित्य भी प्रस्तुत प्रसंग में अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि भाव की उचित-अनुचित प्रवृत्ति का निर्णय प्रायः उसके विषय के ही औचित्यानौचित्य से तो होता है। यह तर्क अपने आप में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि गुरुपत्नी-विषयक रति आदि के संदर्भ में ही अनुचितविभावत्व सिद्ध होता है, अनुभयनिष्ठ अथवा बहुनिष्ठ रति के सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि बहुनायक-रति में तो रति की ही प्रवृत्ति अनुचित है। वास्तव में इस तर्क का आधार यह है कि रति में निष्ठा आवश्यक है अतः नैतिक दृष्टि से वह एकनिष्ठ ही होनी चाहिए। बहुनायक-रति में दोष यही है कि एक के अतिरिक्त अन्य भी उसके आलम्बन हैं : आलम्बन का अनौचित्य यहाँ भी है। इस प्रकार विभाव के अनौचित्य और भाव के अनौचित्य में इतना स्पष्ट तथा प्रामाणिक भेद नहीं है कि उसके कारण लक्षण में ही संशोधन करने की आवश्यकता पड़े। अभिनवगुप्त इस रहस्य से सर्वथा अवगत थे; अतः आभास की स्थिति उन्होंने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी में मानते हुए भी, अन्त में स्थायी भाव में, और परिणामतः रस में मानी है : **यतो विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृंगाररसाभासः—**

---

१ ध्वन्यालोक प्रथम उ० (डॉ० रामसागर त्रिपाठी] पृ० १४५

२ काव्यप्रकाश [ज्ञानमण्डल] पृ० १४१

3 रसगंगाधर (चौ०) प्रथम आनन, पृ० ३३५

क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास, व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर [रति का वास्तविक परिपाक न होकर जो] केवल चर्वणाभास होता है, वह शृंगाराभास कहलाता है।[1] अपने मंतव्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनव लिखते हैं :

उस [शृङ्गाराभास की चर्वणा] में रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो कि स्थायिभाव नहीं अपितु व्यभिचारिभाव मात्र होती है। किन्तु उस [शृङ्गाराभास का अनुभव करने वाले] को स्थायिभाव के समान-सी प्रतीति होती है। उसी [रत्याभास या व्यभिचारि-भाव रूप रति] के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं। इसीलिए [परस्त्री अथवा अननुरक्त स्त्री आदि विषयक] रति स्थाय्याभास [रूप में उपस्थित होती] है। [उदाहरणार्थ, रावण सीता को चाहता है। यह रावण की सीता-विषयक रति वास्तविक रति नहीं, अपितु रत्या-भास मात्र है।] क्योंकि सीता रावण के प्रति द्वेषयुक्त अथवा उपेक्षायुक्त है [रागवती नहीं है।] इसीलिए वह [रावण के] हृदय का आलिंगन नहीं करती है। यदि उस [रावण के हृदय] का स्पर्श करे तो उसका [पातिव्रत्य धर्म का] अभिमान ही विलीन हो जाए। [रावण जो यह समझता है कि] यह मेरे प्रति अनुरक्त है यह निश्चय केवल काम-जन्य मोह मात्र रूप होने से [रसोत्पत्ति में] अनुपयुक्त और शुक्ति में रजताभास के समान [भ्रममात्र] है।[2]

उपर्युक्त उद्धरण से दो उपयोगी तथ्य सामने आते हैं : (१) आभास का अर्थ है मिथ्या या अवास्तविक प्रतीति : उचित विषय में भाव की प्रतीति वास्तविक होती है और अनुचित विषय में अवास्तविक या आभास रूप। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में आभास का अनौचित्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाता है—आभास=अवास्तविक प्रतीति=अनुचित विषय में प्रवृत्ति-जन्य प्रतीति। (२) स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति से, जो स्थायी की वास्तविक प्रतीति न होकर उसका आभास मात्र होती है, रस की सम्पूर्ण सामग्री में ही अनौचित्य या आभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है : आलम्बन वास्तविक न होकर आलम्बन-सा प्रतीत होता है, अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी वास्तविक नहीं होते वास्तविक-से प्रतीत होते हैं।

अब एक शब्द रह जाता है अनौचित्य जिसकी व्याख्या शेष है। नञ्समाससूचक चिह्न—अन् 'अभाव' और 'विपरीत भाव' दोनों का वाचक है, अतः अनौचित्य का अर्थ होता है 'औचित्य का अभाव' या 'औचित्य का विपरीत रूप'। औचित्य की निरुक्ति क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार की है :

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

यत्किल यस्यानुरूपं तदुचितमुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति।

अर्थात् जो जिसके अनुरूप है, उसे उचित कहते हैं और उसके भाव को औचित्य।[3] इस

---

१ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१८
२ ,, ,, ,,
३ औचित्यविचारचर्चा, कारिका ७ और वृत्ति।

दृष्टि से अनुरूपता औचित्य का आधार है—और उसका अभाव या विरोध अनौचित्य का। यह अनुरूपता अनेक प्रकार की हो सकती है और परिणामतः उसके अभाव या विरोध के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। पण्डितराज ने अनौचित्य का अत्यन्त स्पष्ट और प्रामाणिक विवेचन करते हुए लिखा है : **तच्च जातिदेशकालवर्णाश्रमवयोऽवस्थाप्रकृतिव्यवहारादेः प्रपंच-जातस्य तस्य तस्य, यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितद्रव्यगुणक्रियादि, तद्भेदः**—अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध, उचित द्रव्य, मुख्य अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।[1] इस उद्धरण के अनुसार अनौचित्य का मूल आधार है लोक और शास्त्र का विरोध—'लोक' में (लोक-) स्वभाव और (लोक-) व्यवहार दोनों का अन्तर्भाव है और शास्त्र का अर्थ है नीतिशास्त्र अथवा ऐसे नियमों की संहिता जो जीवन में कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करते हैं। वास्तव में लोक और शास्त्र का आशय है प्रकृति और नीति जिनका अनुसरण काव्य के लिए पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र में भी आरम्भ से ही यथावत् मान्य रहा है। प्रकृति या लोक का अर्थ है—जैसा सामान्यतः जीवन या संसार में होता है और नीति या शास्त्र का अर्थ है—जैसा होना चाहिए। लोक और शास्त्र की कल्पना प्रायः परस्पर सहायक तत्त्वों के रूप में ही की गयी है—क्या होता है, इसी के आधार पर नीतिकार यह निर्णय करते हैं कि क्या होना चाहिए; इसी प्रकार युग-युग से नीति-नियमों द्वारा परिचालित मानव-जीवन का व्यवहार भी स्वभावतः बहुत-कुछ नैतिक हो जाता है। अतः भारतीय वाङ्मय में लोक और शास्त्र का प्रयोग प्रायः एक साथ होता आया है :

लोक-रीति, विधि वेद की करि कह्यो सुबानी। (तुलसीदास, गीतावली १.६)

परन्तु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है : नीति-नियम रूढ़ एवं अप्रभावी हो जाते है, नीति-नियमों की शृंखलाओं से जकड़ी प्रकृति उनके विरुद्ध प्रबल विद्रोह कर उठती है और फिर जीवन की नवीन आवश्यकताओं के अनुकूल नीति-परिवर्तन होता है। इस प्रकार प्रकृति और नीति के द्वन्द्व से जीवन का विकास होता है—प्रकृति को नीति से संयम और नीति को प्रकृति से गति प्राप्त होती है। भारतीय रस-सिद्धान्त दोनों के इस समन्वित रूप को स्वीकार कर चलता है और दोनों के विरोध को काव्यास्वाद में बाधक मानता है। रसाभास-कल्पना का आधार यही है और यह कल्पना रस-सिद्धान्त को स्थायी नैतिक मूल्यों की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस-प्रक्रिया में अनैतिकता, अस्वाभाविकता, अव्यावहारिकता आदि का समावेश हो जाने पर या अपूर्णता रह जाने पर बाधित अथवा अपूर्ण रसानुभूति रसाभास बन जाती है। अनौचित्य के इन विविध रूपों का सम्बन्ध प्रायः भाव-पक्ष और विभाव-पक्ष दोनों से ही होता है, किन्तु अन्त में अर्थात् आस्वाद की स्थिति में स्वभावतः भाव-पक्ष का अनौचित्य ही प्रमुख हो जाता है।

रसाभास और रस—प्रायः सभी आचार्यों ने रसाभास को रस के अन्तर्गत ही माना

---

[1] रसगंगाधर (चौखम्बा वि० भ०) प्रथम आनन, पृ० १६५

है। आनन्दवर्द्धन ने रस और भाव की तरह रसाभास और भावाभास को भी असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य अथवा रस-ध्वनि के भेद माना है और परवर्ती आचार्यों ने उनका यथावत् अनुसरण किया है :

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शवलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥

अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं।[1] परन्तु कतिपय विचारकों ने इस पर आपत्ति की है। उनका तर्क यह है कि जब रस स्वरूपतः पूर्ण और निर्मल होता है तो रसाभास रसत्व का अधिकारी कैसे हो सकता है? और इसका प्रमाण वे न्यायदर्शन से देते हैं—जहाँ हेत्वाभास हेतु नहीं होता। परन्तु रसाभास के समर्थक इसका उत्तर अपने ढंग से उतने ही विश्वास के साथ देते हैं : **न ह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहारः अश्वाभासादिव्यवहारवत्,** अर्थात् रस में दोष आ जाने से आत्महानि (स्वरूप-नाश) नहीं होती, केवल दोष की सूचना देने के लिए उन्हें आभास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता है वह अश्व ही।[2] जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया है आभास का अर्थ है अवास्तव प्रतीति—शुक्ति में रजत का आभास रजत की अवास्तव प्रतीति है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है जब प्रतीति नष्ट हो जाती है—शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है, रस की प्रतीति पहले हो जाती है : जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता, और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है। अतः रसाभास रस के अन्तर्गत ही आता है, इसमें विकल्प के लिए अवकाश नहीं है—और भारतीय रसशास्त्र का परम्परागत सिद्धान्त ही मान्य है।

अभिनवगुप्त का मत—इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने एक रोचक उद्भावना की है। उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अन्ततः हास्य में परिणत हो जाता है, क्योंकि आभास एक प्रकार से विकृति रूप ही होता है और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषय में स्थायी भाव की प्रवृत्ति अथवा स्थायी भाव की अनुचित प्रवृत्ति उसकी विकृति ही तो है, अतः उससे प्रमाता के चित्त में अनुकूल भाव की उद्बुद्धि न होकर हास्य की ही उद्बुद्धि होती है। किन्तु, यह रसास्वादन प्रक्रिया के अन्तर्गत दूसरा अवस्थान है—हास्य की अनुभूति अनौचित्य का ज्ञान होने पर ही होती है; उससे पूर्व शृंगारादि रसों की अस्थायी प्रतीति हो लेती है। इस प्रकार आरम्भ में सहृदय शृंगाराभास आदि का अनुभव करता है और परिणति में हास्य रस का। उदाहरण के लिए सीता के प्रति रावण का यह उद्गार द्रष्टव्य है :

दूर से ही आकर्षण कर लेने वाले मोहमन्त्र के समान उस [सीता] के नाम को

---

१ साहित्यदर्पण, विमला टीका, पृ० १२४
२ रसगंगाधर (चौखम्बा वि० भ०), प्रथम आनन, पृ० ३३७

सुनते ही चित्त एक क्षण के लिए भी उसके बिना रह सकने में असमर्थ हो जाता है। [किन्तु] व्याकुल और बेचैन, मेरे इन काम-सन्तप्त अंगों के द्वारा उसकी प्राप्ति [आलिंगन] का सुख कैसे प्राप्त हो, यह ठीक तरह से समझ में नहीं आता है।

रावण के वाक्य में प्रारम्भ में रत्याभास ही प्रतीत होता है हास नहीं [प्रतीत होता है]। फिर भी [रावण का सीता के प्रति यह अनुराग-प्रदर्शन] सीता [रूप आलम्बन] विभाव के [विपरीत], रावण की आयु के और प्रकृति के विरुद्ध [प्रकट होने वाले] चिन्ता, दैन्य, मोह आदि रूप व्यभिचारिगण और रुदन, विलाप आदि अनुभाव-समुदाय अनुचित होने से तदाभासात्मक होकर हास्य के विभाव रूप बन जाते हैं। जैसा कि आगे 'दूसरों के विकृत वेष अलंकारादि के होने पर' [हास्य रस होता है] यह कहेंगे।

इस [उदाहरण] से करुणाभास आदि सभी [रसाभासों] में हास्यत्व समझना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्ति के कारण ही [कोई व्यक्ति] हास्य का विभाव बनता है। और वह अनौचित्य सभी रसों के विभाव, अनुभाव आदि में हो सकता है।[1]

रसाभास के भेद—प्रत्येक रस का आभास हो सकता है, अतः रसभेदों के अनुसार ही रसाभास के भी भेद होते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी शृंगार के महत्त्व के अनुरूप आचार्यों ने शृंगाराभास का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है :

उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥

—यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो अथवा नायक-नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है।[2]

यहाँ उपनायक-रति और मुनिगुरुपत्नी के प्रति रति नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं, बहुनायक-रति कदाचित् प्रकृति और रीति—लोक और शास्त्र—दोनों के विरुद्ध है, क्योंकि रति स्वभावतः एकनिष्ठ ही होती है, अनेक-निष्ठता से रति का स्वरूप दूषित हो जाता है। सामान्यतः तो काव्य में इन नीति-नियमों का पालन हुआ है, पर अनेक कवियों ने इनके प्रति विद्रोह भी किया है और कभी-कभी एक कवि ही नहीं सम्पूर्ण युग ही नीति के नियमों के विरुद्ध क्रान्ति कर उठा है। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब परकीया-भाव भक्ति का प्राण-तत्त्व एवं पवित्रता का मानदण्ड बन गया। हिन्दी के रीतिकाव्य में परकीया-भाव तथा बहुवल्लभत्व का प्राचुर्य रहा, यद्यपि किसी भी कवि ने सिद्धान्त-रूप में उसका समर्थन नहीं किया। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में धर्मशास्त्र के अनुसरण पर बहुनायक-रति और बहु-नायिका-रति में भेद किया गया है जो नीति-सम्मत होते हुए भी न्याय-सम्मत नहीं है और

---

[1] हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१६

[2] रसगंगाधर (चौ० वि०) प्रथम आनन, पृ० ३४१

इसीलिए उसे सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती। समय-समय पर इस प्रकार की नैतिकता का विरोध हुआ है और वर्तमान युग में तो यह विद्रोह और भी मुखर हो गया है। अनुभयनिष्ठ या एकांगी रति का विषय और भी अधिक विवादास्पद है। उसे यदि एकदम रसाभास मान लिया जाए तो भारतेतर देशों के—विशेषकर फ़ारसी, उर्दू, जैसी भाषाओं के—समृद्ध काव्य का पर्याप्त अंश रसाभास के अन्तर्गत माना जाएगा। अनुभयनिष्ठ रति के विपक्ष और पक्ष दोनों में तर्क दिये जा सकते हैं। विपक्ष में कुछ तर्क ये हो सकते हैं—(१) यदि आलम्बन आश्रय की रति का प्रत्युत्तर नहीं देता तो इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह इस प्रकार के प्रणय-निवेदन को किसी न किसी आधार पर अनुचित मानता है—अतः रति में अनौचित्य का समावेश यहाँ भी हो जाता है। (२) उपेक्षा या विरति या वितृष्णा के कारण आलम्बन के प्रत्युत्तर के बिना, रतिभाव अपुष्ट और अपूर्ण रह जाता है अतः रस-परिपाक नहीं हो पाता। (३) विरति और वितृष्णा शृंगार के विरोधी भाव हैं, अतः आलम्बन में उनकी स्थिति रस में बाधक हो सकती है। किन्तु पक्ष में भी अनेक प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं (१) विश्वकाव्य में अनुभयनिष्ठ रति के प्रभूत उदाहरण मिलते है जिनकी सरसता में सन्देह करना अरसिकता का प्रमाण होगा—उनसे प्राप्त रस-प्रतीति बाधित या अपूर्ण भी नहीं होती जो उन्हें रसाभास मान लिया जाए। (२) अनुभयनिष्ठ रति में नीति की बाधा होना आवश्यक नहीं है। (३) प्रतिदान की भावना से मुक्त निःस्वार्थ प्रेम को तो रसिकों ने प्रेम का या आत्मदान का सबसे उत्कृष्ट रूप माना है, अतः उसे नियमतः रसाभास मानना कैसे संगत हो सकता है? (४) भारतीय काव्य में भी पूर्वराग की अवस्था में रति के अनुभयनिष्ठ होने की काफ़ी सम्भावना हो सकती है। (५) अतः अनुभय-निष्ठ शृंगार को संभोग शृंगार न मानना तो ठीक है, किन्तु उसे विप्रलंभ का भेद मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए?—पक्ष-विपक्ष के इन तर्कों की तुलना करने पर यह सिद्ध करना कठिन हो जाता है कि अनुभयनिष्ठ रति का परिपाक सर्वत्र ही शृंगाराभास में होता है; जहाँ लोक और शास्त्र की बाधा नहीं है और भावना का औचित्य एवं उत्कर्ष व्यक्त है वहाँ उसे रस न मानने का कोई कारण नहीं है।

सामाजिक क्रान्ति में आदर्शों से प्रेरित होकर कहीं तो विद्रोह का स्वर अत्यन्त उग्र हो जाता है: माइकेल मधुसूदन दत्त ने गुरुपत्नी तारा और चन्द्रमा के प्रणय-सम्बन्ध को रसमय बनाने का प्रयास किया है: हिन्दी में भगवतीचरण वर्मा की 'तारा' कविता का आधार यही प्रणय-सम्बन्ध है। प्रश्न है कि क्या इन कविताओं में रस के स्थान पर रसा-भास मानना पड़ेगा? शास्त्र के अनुसार तो इनमें रसाभास है ही, फिर भी दोनों कवियों ने अनौचित्य के निवारण का प्रयास किया है, इसमें भी सन्देह नहीं। माइकेल विषम विवाह के अनौचित्य की स्थापना और समान वय-रूप के नर-नारी की प्रकृत प्रणय-भावना के औचित्य की सिद्धि कर रस-बाधा का निवारण करते हैं। भगवतीचरण वर्मा शृंगार-प्रसंग को माध्यम बनाकर नारी के मन की पीड़ा को मुखर करते हैं। [देखिए १. 'वीराङ्गना'—'तारा का पत्र सोम के प्रति' और 'मधुकण'—'तारा' गीतिनाट्य]

शृंगाराभास के इन भेदों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में दो और भेदों का भी स्पष्ट

उल्लेख है : अचेतन-विषयक रति और तिर्यग्-रति—अर्थात् पशु-पक्षियों की रति। अनौचित्य के दो रूप हैं असत्यत्व और अयोग्यत्व। उपर्युक्त दोनों रति-भेद असत्यत्व के अन्तर्गत आते हैं; रति अनेक सूक्ष्म भावनाओं से संस्कृत एक चित्तवृत्ति है जो निरिन्द्रिय पदार्थों में तो सम्भव है ही नहीं, मनःशक्ति से रहित पशु-पक्षियों में भी उसकी कल्पना करना अधिक समीचीन नहीं है। और, फिर, उनके साथ सहृदय के तादात्म्य की सम्भावना भी कैसे हो सकती है ? वृक्ष और लता या चन्द्र और रजनी और उधर मृगदम्पती या कपोत-कपोती के प्रणय-व्यापार के साथ हमारा हृदय-संवाद कैसे हो सकता है ? अतः जहाँ साधारणीकरण की सम्भावना ही नहीं है, वहाँ रस-परिपाक भी अमान्य है : रस-सामग्री के आरोपण से रस का आभास तो हो जाता है किन्तु वास्तविक प्रतीति कैसे मानी जा सकती है ? दुष्यन्त के शरपात से भयभीत मगृशावक की अपेक्षा स्वयं मृगयाविहारी दुष्यन्त या इस दृश्य का प्रशस्तिपरक वर्णन करने वाले मातलि के साथ तादात्म्य करना सहृदय के लिए सरल है। शास्त्र की बहिरंग चिन्तन-पद्धति के अनुसार तो ये तर्क संगत ही हैं और इनके आधार पर परम्परानिष्ठ आलोचकों ने सहसा छायावाद के कवियों को रसाभास में सिद्धहस्त घोषित कर ही दिया है।[1] परन्तु क्या यह उचित है ? क्या कालिदास आदि संस्कृत-कवियों के प्रकृति-वर्णन, पश्चिम की भाषाओं के समृद्ध प्रकृति-काव्य अथवा छायावाद के सचेतन प्रकृति-चित्रों में सहृदय को रस नहीं रसाभास मात्र की उपलब्धि होती है ? उपर्युक्त काव्य के समर्थक उनकी रसवत्ता के पक्ष में दो युक्तियाँ दे सकते है। एक युक्ति तो यह है कि समस्त सचराचर जगत् में एक ही चैतन्य तत्त्व अनुव्याप्त है, अतः सच्चा सहृदय मानवेतर प्रकृति में भी चेतनता का अनुभव करता है और उसके साथ भी मानव-प्रकृति के समान ही तादात्म्य कर लेता है। यह तर्क कुछ अधिक सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक है, अतः इसे यथावत् स्वीकार कर लेना सामान्य सहृदय के लिए सम्भव नहीं है; मुझे स्वयं इसमें प्रत्यय नहीं होता। दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकार के चित्रों में कवि की अपनी भावना का आरोप रहता है—प्राकृतिक पदार्थ तो प्रतीक मात्र हैं, मूल भावना तो कवि की है, अतः सहृदय कवि के साथ तादात्म्य कर रस के आस्वादन में समर्थ हो जाता है। वास्तव में, प्रतीक-शैली काव्य की आदिम शैली है—भारत में भी वेदों से लेकर नवीनतम काव्य तक इसका बराबर प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की कविता में रस-व्यंजना सीधी अभिधा-लक्षणा से नहीं होती, वरन् प्रतीकों से होती है, अतः यह रस-व्यंजना सामान्य रस-व्यंजना की अपेक्षा अप्रत्यक्ष और उसी मात्रा में गूढ़ एवं सूक्ष्मतर होती है। परन्तु होती यहाँ भी रस की ही व्यंजना है—रसाभास की नहीं—अचेतन अथवा अमानव प्रकृति पर मानव-भावना के आरोपण से रसानुभूति बाधित या दूषित नहीं होती, प्रायः गूढ़ और अप्रत्यक्ष हो जाती है। इस प्रकार के काव्य में रसाभास नहीं वरन् रस का ही संचार रहता है। इसका प्रमाण यह है कि शास्त्र के नियमों के रहते हुए भी भारतीय कवि प्रत्येक युग में चातक और चकोर के माध्यम से तीव्र रसमयी कविता करता आया है। यूरोप के काव्य में भी एक समय ऐसा आया था जब 'विवेकी'

---

१ देखिए काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० २९२

आलोचकों को प्रकृति के भावनात्मक चित्रों में चैतन्याभास या 'भावाभास' (पैथेटिक फ़ैलसी) नामक दोष की कल्पना करनी पड़ी थी। परन्तु कल्पना के बढ़ते हुए पंखों को छाँटने में यह दुर्वल कर्तरी एकदम असमर्थ सिद्ध हुई और प्रकृति का रागात्मक व्यापार काव्य में निरन्तर चलता रहा। अन्य रसाभासों का आधार भी प्रथमतः विभाव-विषयक और अन्ततः भाव-विषयक अनौचित्य ही है और वहाँ भी अनौचित्य का आधार लोक एवं शास्त्र अथवा प्रकृति और नीति का विरोध ही होता है। "जैसे शृंगार रस का स्थायी भाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृंगाररसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायी भाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—करुण रस का स्थायी भाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायी भाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वंचित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायी भाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायी भाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायी भाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायी भाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायी भाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित तथा मांस आदि के विषय में वर्णित हो तो क्रमशः करुणरसाभास, शान्तरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुत-रसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास और बीभत्सरसाभास होते हैं।"[1]

उपर्युक्त रसाभास-भेदों में से अधिकांश के स्वरूप तो स्पष्ट ही हैं, किन्तु कुछ-एक के विषय में वर्तमान चिंतक के मन में शंका हो सकती है। उदाहरण के लिए, कलहशील कुपुत्र के विषय में शोक के अनौचित्य को यथावत् स्वीकार कर लेना नीति के विरुद्ध भले ही हो, लोक के विरुद्ध नहीं है : अतः यहाँ कुपुत्र से सर्वथा अशोच्य व्यक्ति का अर्थात् ऐसे व्यक्ति का ही अर्थ-ग्रहण करना होगा जो अपने दुर्गुणों के कारण सहृदय-समाज के आक्रोश एवं घृणा का पात्र हो और जिसके अधःपात से लोकमन को राहत मिले। इस प्रकार के व्यक्ति के प्रति यदि उसके बन्धु-बान्धवों के माध्यम से कवि शोक की अभिव्यंजना करता है, तो, पहले तो, स्वयं कवि का ही उनके साथ तादात्म्य नहीं हो पाएगा और फिर सहृदय-समाज के लिए भी उसकी सम्भावना नहीं होगी। किन्तु इस विषय में निर्णय देने से पूर्व अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी मानव-सम्बन्धों की प्रबलता के कारण, हत व्यक्ति के पुत्रत्व अथवा पतित्व के आधार पर, अनौचित्य के नैतिक बन्धनों के परे, शुद्ध मानवीय भाव-भूमिका पर, साधारणीकरण हो सकता है। 'मेघनादवध' में मेघनाद की मृत्यु पर रावण और सुलोचना (प्रमीला) का विलाप क्या करुण रस न होकर करुणाभास के अन्तर्गत माना जाएगा ? यहाँ हम विधर्मी कवि को प्रमाण मानने में आपत्ति कर सकते हैं, परन्तु रामभक्त कवि के 'साकेत' में ही कुम्भकर्ण-वध का दृश्य देखिए :

---

[1] रसगंगाधर (चौ० वि०), प्रथम आनन, पृ० ३४४

आ भाई, वह वैर भूल कर, हम दोनों समदुःखी मित्र
आ जा, क्षण भर भेंट परस्पर, कर लें अपने नेत्र पवित्र !
हाय ! किन्तु इसके पहले ही मूर्च्छित हुआ निशाचर-राज
प्रभु भी यह कह गिरे—'राम से रावण ही सहृदय है आज' !
(साकेत, २००५ वि०, पृ० २९२)

प्रस्तुत प्रसंग में क्या करुणाभास है ? यहाँ तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम का रावण के साथ तादात्म्य दिखाया गया है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्याध्ययन के अधिकार से वंचित चाण्डाल आदि के आश्रय से वर्णित निर्वेद में शान्तरसाभास की कल्पना भी आज मान्य नहीं हो सकती—इसे स्वीकार कर लेने पर तो हिन्दी के सम्पूर्ण निर्गुण काव्य में शान्तरसाभास मानना पड़ जाएगा। ऐसे प्रसंगों की अपेक्षा शान्तरसाभास की कल्पना वहाँ अधिक संगत होगी जहाँ शृंगारिक उपकरणों के माध्यम से ज्ञान-वैराग्य आदि का प्रतिपादन रहता है: उदाहरण के लिए, कवि पंत के तद्विपयक एकाध चित्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[1] —और, ऐसी ही शंका यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित, तथा मांस आदि के वर्णन द्वारा (वीभत्स के स्थान पर) वीभत्सरसाभास की सिद्धि के सम्बन्ध में की जा सकती है। कुछ साम्प्रदायिक

---

[1] अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरि शृंग-सी महत् !
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक औ' स्वयं ज्योति पथ,
चिर जाज्वल्यमान स्थिर धावित सप्त अश्व-रथ ;
किरणों के दूर्वाप्रभ नभ-सी मुक्ति थी अमित,
शुभ्र हंस घेरे थे उसको पंख खोल स्मित !
था आनन्द उदधि अकूल उर में उद्वेलित,
ज्योति चूर्ण झरता अंगों से मुक्त अनावृत !
अर्द्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर
लेटी थी वह दामिनि-सी रुचि गौर कलेवर !
गगन भंग से लहराए मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य कर !
समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरन्तर,
धरे अंक में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष पर ;
ताप गले में, सुधा शांति मस्तक पर भास्वर,
लिपटा तन से भाव अभाव भूति औ' विषधर !
सदसद् देश काल से पर, त्रिक् तपस मूल धर,
देवों का पोषक था वह, दैत्यों का जित्वर;
काम क्रोध मद मत्सर थे उसके पद अनुचर,
वह स्वर्णिम किरणों से मंडित, पाप तमस हर !
इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित,
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित !
जड़ धरणी के ताप शाप दुख दैन्य अपरिमित
कार्को से पर खोल हुए लय तमस में अचित् !

—स्वर्णकिरण, प्रथम सं०, पृ० ९२-९३

भक्तों या साधकों को छोड़कर कितने व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं जिनके मन में कामायनी के निम्नोक्त प्रसंग से जुगुप्सा का उदय नहीं होगा :

दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे !
अस्थि-खण्ड की माला !
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी,
मिल कर वातावरण बना था,
कोई कुत्सित प्राणी ।[१]

अतः साम्प्रदायिक भावना के आधार पर इस प्रकार के वर्णनों में वीभत्स रस न मानना असहृदयता का परिचायक होगा, क्योंकि साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह तो स्वयं ही सहृदयता का एक मुख्य दोष है । वास्तव में वीभत्स का भी 'आभास' काव्य में पाना कठिन है, क्योंकि एक तो बीभत्स का ही वर्णन काव्य में कम मिलता है, और दूसरे बीभत्स का स्पर्श तो स्वयं शृंगारादि रसों की उज्ज्वलता को मलिन कर देता है, उसको भी मलिन करने की सामर्थ्य सामान्यतः किसमें हो सकती है ?

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि रसाभास के स्वरूप का निर्णय करने में *सावधानी बरतने की आवश्यकता है ।* हमें रसाभास को या तो अप्रत्यक्ष रसानुभूति मानना होगा, बाधित या दूषित रसानुभूति नहीं; या फिर मानवीय भाव-भूमिका पर औचित्य के व्यापक रूप की कल्पना करते हुए रसाभास के क्षेत्र का परिसीमन करना होगा—अन्यथा रस-सिद्धान्त की शक्ति और प्रभाव सीमित हो जाएँगे ।

---

१ कामायनी [प्र० सं०], 'कर्म' सर्ग, पृ० ११६

अध्याय ६

रस-सिद्धान्त : शक्ति और सीमा

रस-सिद्धान्त : शक्ति और सीमा

१. रस का सही अर्थ—रस की परिधि

रस-सिद्धान्त का उचित मूल्यांकन करने के लिए उसके सही अर्थ की अवगति आवश्यक है। जैसा कि हम रस के स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में स्पष्ट कर चुके हैं, भारतीय काव्यशास्त्र में रस के तीन अर्थ प्रचलित हैं : (क) वस्तुपरक अर्थ जिसके अनुसार रस काव्यगत है—अर्थात् वह शब्दार्थ के माध्यम से कवि की सर्जनात्मक भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति है, वह कवि की भावना का—प्रकृत भावना का नहीं, कल्पना के द्वारा जीवन-गत अनुभूति के सृजन (या पुनःसृजन) में प्रवृत्त भावना का, शब्द-मूर्त रूप है; सीधे शब्दों में वह भाव पर आश्रित काव्य-सौन्दर्य है। (ख) भावपरक अर्थ जिसके अनुसार रस की स्थिति सहृदय में है—अर्थात् वह नानाभावमय काव्य के द्वारा सहृदय के चित्त में उद्‌बुद्ध सुखदुःखमयी रागात्मक चेतना है। (ग) आनन्दपरक अर्थ जिसके अनुसार रस सहृदयगत ही है; काव्य के मनन से उद्‌बुद्ध—व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त—विशुद्ध भावों के माध्यम से आत्मविश्रांति की (आनन्दमयी) चेतना का नाम रस है—आधुनिक शब्दावली में चित्त की समीकृत अवस्था के आस्वाद का नाम रस है। इन तीनों अर्थों से दो तथ्य सामने आते हैं : रस में रागतत्त्व की प्रधानता है, वही उसका सार है; किन्तु कला-तत्त्व (शब्द-अर्थ के कल्पनात्मक प्रयोग) का महत्त्व भी कम नहीं है। भरत-सम्मत वस्तुपरक अर्थ में तो उसका महत्त्व स्पष्ट ही है, व्यक्तिपरक अर्थ में भी आस्वाद का प्रमुख साधन कला-तत्त्व ही है—भट्टनायक का 'भावकत्व व्यापार' वस्तुतः कला-तत्त्व ही है जिसे अभिनव ने भी शब्दभेद से साधारणीकरण की प्रक्रिया के पूर्वार्ध में यथावत् स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार रस-कल्पना अपने मूलरूप में ही काव्यास्वाद की एक परिपूर्ण कल्पना है : राग-तत्त्व को प्रधानता देने पर भी वह कला-तत्त्व को उचित महत्त्व देती है, वस्तुतः उसे अनिवार्य ही मानती है क्योंकि उसके (रस-सिद्धान्त की शब्दावली में, विभावादि के साधारणीकरण के) बिना 'भाव' की रस में परिणति सम्भव ही नहीं हो सकती। अतः लक्षण के अनुसार ही रस की परिधि में भाव-तत्त्व के साथ कल्पना-तत्त्व और इन दोनों का प्रयोग करने वाली कवि-प्रज्ञा की प्रकल्पना में बुद्धि-तत्त्व का भी उचित समावेश है।

रसशास्त्र के अनुसार राग-तत्त्व की सीमा के भीतर भी रस का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। शास्त्र में रस की परिधि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शवलता और भाव-शान्ति का निर्भ्रान्त रूप से समावेश किया गया है। यहाँ 'रस' से अभिप्राय है विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी द्वारा परिपुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति—अर्थात् 'रस' शब्द परिपाक की अवस्था का वाचक है। कहीं-कहीं रस के किसी एक या एकाधिक अवयव का स्पष्ट उल्लेख नहीं रहता—परन्तु वहाँ उसका अध्याहार कर

लिया जाता है और सहृदय की कल्पना स्वयं ही उसका आक्षेप कर लेती है। 'रसाभास' भी परिपाक की अवस्था का ही द्योतक है, किन्तु इसमें प्रतीति निर्विघ्न नहीं होती—अर्थात् कुछ न कुछ मनोवैज्ञानिक या नैतिक बाधाओं के कारण प्रतीति यत्किंचित् दूषित हो जाती है। 'रसाभास' का रस की परिधि में अन्तर्भाव इस बात का सूचक है कि नैतिक मूल्यों द्वारा पुष्ट होने पर भी रस-सिद्धान्त उनसे परिबद्ध नहीं है—वह मानव-भावना को प्रमाण मानता है, नियमों को नहीं—और, रूढ़ियों से स्वभावतः मुक्त है। 'भाव' रस की अपुष्ट अवस्था का नाम है—वह या तो अपुष्ट स्थायी का वाचक है या पुष्ट व्यभिचारी का : दोनों ही स्थितियों में उसमें परिपाक नहीं होता। 'भावाभास' भाव की बाधित या अपूर्ण प्रतीति है। इनकी भी 'रस' के अन्तर्गत स्वीकृति का अर्थ यह है कि काव्य की सरसता का आधार वास्तव में भाव ही है—विभाव, अनुभाव आदि से उसका पोषण होने पर रस-प्रतीति अधिक स्पष्ट हो जाती है, किन्तु अपुष्ट स्थिति में भी रसवत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता : स्थायी अथवा व्यभिचारी भाव की सफल अभिव्यक्ति भी निश्चय ही रसात्मक होती है। 'भावोदय', 'भावशान्ति' और 'भावसन्धि' से यह तथ्य और पुष्ट हो जाता है कि भाव की सूक्ष्मतर अवस्थाएँ भी रस-प्रतीति के लिए पर्याप्त हो सकती हैं। 'भावशबलता' में किसी एक भाव की पृथक् सत्ता के स्थान पर अनेक भावों का तन्त्र रहता है—'भावशबलता' का रस-कोटि में परिगणन आधुनिक आलोचनाशास्त्र की इस प्रचलित धारणा का पूर्वाभास है कि काव्यानुभूति किसी एक भाव की अनुभूति या एकात्मक अनुभूति न होकर 'अनेक अनुभूतियों का तन्त्र' होती है। उधर गुणों को भी रस के धर्म माना गया है; अतः चित्त की द्रुति, दीप्ति और विशदता भी, अर्थात् चित्त के ऐसे विकार भी, जिनका स्वरूप सर्वथा स्पष्ट नहीं होता रस की परिधि में आ जाते हैं। —इस प्रकार 'रस' एक व्यापक शब्द है, वह **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयुक्त स्थायी'**—अर्थात् परिपाक-अवस्था का ही वाचक नहीं है वरन् उसमें काव्यगत सम्पूर्ण भाव-सम्पदा का अन्तर्भाव है। अपारिभाषिक रूप में वह काव्यगत भाव-सौन्दर्य का पर्याय है; शब्दार्थगत चमत्कार के माध्यम से भाव के आस्वाद का अथवा भाव की भूमिका पर शब्दार्थ के सौन्दर्य का आस्वाद ही वस्तुतः रस है। काव्य के अनुचिंतन से प्राप्त रागात्मक अनुभूति के सभी रूप और प्रकार—सूक्ष्म और प्रबल, सरल और जटिल, क्षणिक और स्थायी : संवेदन, स्पर्श, चित्त-विकार, भाव-बिम्ब, संस्कार, मनोदशा, शील—सभी रस की परिधि में आ जाते हैं।

अतः अपने वास्तविक रूप में रस की स्थिति मनोमय कोश में ही माननी चाहिए। वह आत्मानन्द का पर्याय नहीं है। रस की प्राथमिक कल्पना तो वस्तुपरक ही थी, रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत की दृष्टि में रस पदार्थ है : **रस इति कः पदार्थः** ; लोल्लट तथा शंकुक तक उसका यही स्वरूप मान्य रहा और भट्टनायक तक ने ब्रह्मानन्द-सहोदर मानते हुए भी उसका सर्वथा निषेध नहीं किया। हाँ, अभिनव ने शैवाद्वैत की आनन्द-कल्पना में सर्वथा निमग्न कर उसे गहरा आध्यात्मिक रंग दे दिया जो बाद तक चलता रहा। किन्तु अभिनव ने भी उसे आत्मानन्द से निश्चय ही भिन्न माना है; फिर भी उसमें जो आत्मानन्द तत्त्व की स्वीकृति मिलती है उसका कारण यह है कि अभिनव के दार्शनिक मत के अनुसार

तो आनन्द मात्र की कल्पना आत्मानन्द के संदर्भ में ही सम्भव है—वहाँ लौकिक और अलौकिक आनन्द में कोई पारमार्थिक भेद ही नहीं है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से रस भावाभिव्यंजक शब्दार्थ (आदि) से उद्‌बुद्ध आनन्दमयी चेतना का ही नाम है—इस आनन्द के स्वरूप की व्याख्या आत्मवादी[1] आचार्यों ने अपने ढंग से की है और अन्य[2] आचार्यों ने अपने ढंग से।

रस तथा भारतीय काव्य-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त सबसे प्राचीन और सबसे प्रधान काव्य-सिद्धान्त है। अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्तों का विकास इसके पश्चात् और इसी के संदर्भ में हुआ है। काव्य के अन्तरंग और बहिरंग—आत्मा और देह के आधार पर यदि वर्ग-विभाजन किया जाए तो अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति को देहवादी या वस्तुवादी और ध्वनि तथा औचित्य को आत्मवादी सम्प्रदाय कहा जा सकता है। आत्मवादी सम्प्रदायों का तो रस-सिद्धान्त के साथ प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है ही—एक प्रकार से ध्वनि और औचित्य दोनों की ही कल्पना रस के आधार पर की गयी है। औचित्य-सिद्धान्त के प्रवर्तक ने स्पष्ट रूप से और आरम्भ में ही कहा है : **औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥** औ० वि० च० १.५॥ वास्तव में औचित्य के भवन का निर्माण ही आनन्दवर्धन के इस प्रसिद्ध वाक्य के आधार पर हुआ है : **प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।** ध्वनिकार ने, इसमें सन्देह नहीं, रस के स्थान पर ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है, फिर भी सम्पूर्ण ध्वनि-सिद्धान्त रस की भावना से ओतप्रोत है। आनन्दवर्धन तथा उनके अनुयायी सभी ध्वनिवादियों ने स्थान-स्थान पर रस के महत्त्व का कीर्तन किया है और रसध्वनि को काव्य का उत्तमोत्तम रूप मानकर यह सिद्ध कर दिया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की आत्मा रस है। वाच्य से चारुतर व्यंग्य का नाम ध्वनि और चारुता की कसौटी है रसात्मकता, इस प्रकार ध्वनि का शुद्ध रूप रस-ध्वनि ही है। इसीलिए रस और ध्वनि-सिद्धान्त प्रायः एकाकार ही हो गये और सामान्यतः किसी भी आचार्य ने दोनों में भेद नहीं किया। आज भी दोनों का पृथक्करण सरल नहीं है। भेद वस्तुतः बलाबल मात्र का है; ध्वनि-सिद्धान्त भाव की व्यंजना—आधुनिक शब्दावली में कल्पनात्मक अभिव्यक्ति पर और रस-सिद्धान्त भाव-तत्त्व पर अधिक बल देता है, यद्यपि न ध्वनिवादी भाव की अवमानना करता है और न रसवादी व्यंजना की। इस प्रकार काव्य में ध्वनि और रस का सहयोग कल्पना तथा भावना का सहयोग है और दोनों का प्रतियोग भी कल्पना तथा भावना का ही प्रति-योग है। जिस प्रकार केवल भावना या केवल कल्पना से कवित्व की सिद्धि सम्भव नहीं है, इसी प्रकार केवल भाव या केवल ध्वनि के आधार पर भी काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता—दोनों के पूर्ण सहयोग से ही काव्य की सृष्टि होती है। किन्तु यदि दोनों में प्रतियोग उपस्थित हो जाए—दोनों का सापेक्षिक महत्त्व आँकना पड़े तो भी हमें कल्पना और

---

१ अभिनव से जगन्नाथ तक

२ जैन आचार्य हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि

भाव के प्रतियोग अथवा सापेक्षिक महत्त्व के आधार पर ही निर्णय देना पड़ेगा। और, यह निर्णय कठिन नहीं है। आधुनिक आलोचना-शास्त्र में यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि कल्पना और भावना में, भावना का महत्त्व ही अधिक है क्योंकि काव्य का संवेद्य तो भाव ही है, कल्पना उसके सम्प्रेषण का माध्यम है—और यद्यपि यह माध्यम अनिवार्य है, फिर भी वह संवेद्य के समकक्ष तो नहीं हो सकता। इस युग के सर्वाधिक प्रामाणिक आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के प्रकाश में कविता को 'अनुभूति' रूप ही माना है। यह ठीक है कि उनकी अभिप्रेत अनुभूति शुद्ध भाव का पर्याय नहीं है, उसमें कल्पना और विचार-तत्त्व का भी योग है, फिर भी अनुभूति में भाव की प्रधानता असंदिग्ध है—स्वयं 'अनुभूति' शब्द ही भाव की प्रधानता का प्रमाण है।

वस्तुवादी आचार्य काव्य के वाह्य सौन्दर्य पर बल देते हैं: भाव की उपेक्षा वे भी नहीं करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में वह गौण है। कवित्व, उनके मत से, कथन की चारुता का नाम है; कथ्य, जिसमें भाव और विचार दोनों अन्तर्भूत हैं, कथन की चारुता का ही अंग या उपकरण है। इस प्रकार इन सिद्धान्तों के अनुसार रस या भाव-विभूति कवित्व का सारतत्त्व न होकर उपकरण मात्र है। उदाहरण के लिए, अलंकार-सिद्धान्त के अनुसार अलंकार ही काव्यशोभा के कारण हैं—अर्थात् काव्य का सौन्दर्य अलंकार पर आश्रित है, कवित्व अलंकार में निहित है। अलंकार शब्दार्थ के धर्म हैं, साधारण धर्म नहीं—अर्थात् ऐसे धर्म नहीं जिनका प्रयोग सामान्य भाषा में होता है, वरन् विशेष धर्म जो शब्दार्थ में सौन्दर्य की सृष्टि कर उसे काव्य का रूप प्रदान करते हैं। अलंकार के दो भेद माने गये हैं: सामान्य और विशेष। सामान्य के अन्तर्गत काव्य के प्रसिद्ध वर्ण्य विषयों का उनकी वर्णन-शैली की दृष्टि से विवेचन किया गया है; इस वर्ग में ऐसे विषयों अथवा वस्तुओं का वर्णन किया गया है जिनके समावेश से काव्य में, और काव्य का अर्थ यहाँ शब्दार्थ ही है—'शब्दार्थौ काव्यम्', सौन्दर्य या चमत्कार की सृष्टि होती है। यहाँ भी वस्तु मुख्य नहीं है, उसकी वर्णन-शैली ही मुख्य है; इसीलिए तो 'सामान्य अलंकारों' में दण्डी ने वर्ण्य विषयों के साथ-साथ कथा-शिल्प के अंगों को भी, सन्धि-सन्ध्यंग आदि को भी, आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है। 'सामान्य' अलंकारों का क्षेत्र वास्तव में प्रबन्धकाव्य है। विशेष-अलंकार-वर्ग में अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों और उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों का समावेश किया गया है। इन अलंकारों का क्षेत्र प्रायः उक्ति या वाक्य तक ही सीमित है—प्रायः हमने इसलिए कहा कि शब्दालंकारों की व्याप्ति कभी-कभी पूरे सर्ग या पूरे प्रबन्ध में भी मिलती है जैसे 'राघवपाण्डवीयम्' आदि में, फिर भी 'विशेष अलंकार' वाक्य या उक्ति के ही चमत्कार हैं और इसीलिए कुंतक ने अर्थालंकारों का विवेचन वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत किया है। तात्पर्य यह है कि 'सामान्य अलंकारों' का सम्बन्ध प्रबन्ध या कथा-काव्य से है और 'विशेष अलंकारों' का सम्बन्ध मुक्तक या सूक्ति-काव्य से है। इनमें से, आगे चलकर, विशेष अलंकार ही यथावत् मान्य हुए और रस तथा अलंकार के द्वन्द्व के प्रसंग में अलंकार का अर्थ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार ही माना गया। आधुनिक शब्दावली का प्रयोग करें तो अपने व्यापक अर्थ में अलंकार काव्य-शिल्प का पर्याय है और सीमित अर्थ में उक्ति-चमत्कार या अभिव्यंजना-

शिल्प का। अलंकार-सम्प्रदाय का जन्म ही यह मानकर हुआ कि रस का सम्बन्ध नाट्य से है जहाँ विभाव, अनुभाव आदि के प्रत्यक्ष उपस्थापन से रस की सिद्धि सहज सम्भव है। इसी तर्क के आधार पर शब्दार्थ-रूप काव्य से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं माना गया—नहीं माना जा सकता। काव्य का सार तो शब्दार्थ का सौन्दर्य—अलंकार ही हो सकता है; प्रबन्ध के व्यापक क्षेत्र में अलंकार से अभिप्राय वर्णन-शैली के सौन्दर्य का है और मुक्तक या सूक्ति में उसका अर्थ है उक्ति-चमत्कार। इन दोनों में भी 'सामान्य अलंकारों' की कल्पना रस से बहुत दूर नहीं पड़ती क्योंकि उनका तो रस के विभाव-अनुभाव पक्ष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही है : काव्य के जो 'वर्ण्य विषय' हैं वे ही तो रस के विभाव और अनुभाव भी हैं। अनुमान यह होता है कि अलंकारवादी प्राचीन आचार्य इस सम्बन्ध-सूत्र को नहीं पकड़ पाए और इसलिए वे काव्य में रस की उपेक्षा कर बैठे। 'विशेष अलंकार' में चमत्कार प्रायः वाक्य तक सीमित रहता है; अलंकारवादी इस शब्दार्थगत चमत्कार को ही कवित्व का आधार मानता है, इसके द्वारा व्यक्त भाव को नहीं। वह यह मानता है कि छंद-विशेष का सौन्दर्य उसमें प्रयुक्त शब्दार्थ के संगीत अथवा शब्दार्थ में निहित सादृश्य, विरोध, संगति आदि की चमत्कारमयी कल्पना पर ही आश्रित है न कि इन उपकरणों द्वारा व्यक्त या उद्बुद्ध भाव पर। वह शब्दार्थगत चमत्कार से ही सीधे काव्यानन्द की प्रतीति मान लेता है—भाव को वह छोड़ देता है; शब्दार्थगत चमत्कार से सहृदय के चित्त में पहले किसी-न-किसी प्रकार का भाव-संस्कार जगता है और फिर उसके माध्यम से आनन्द की प्रतीति—यह वह नहीं मानता या शायद नहीं जानता। वह यह भी स्वीकार नहीं करता कि शब्दार्थ की जिस चमत्कृति को वह कवित्व का पर्याय मानता है उसका आधार तन्निहित भावना ही है—कवि-प्रतिभा अर्थात् सर्जनात्मक कल्पनाशक्ति को तो वह साग्रह स्वीकार करता है पर उसके प्रेरक भाव-संस्कारों का अलंकारवादी के लिए विशेष महत्त्व नहीं है—कम-से-कम प्राथमिक महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत वह यह मानता है कि रस-सामग्री या भाव-सामग्री अलंकार-सृष्टि का साधन अवश्य बन सकती है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के वर्णन से भी कवित्व की सृष्टि हो सकती है, किन्तु ये विभावादि प्रत्यक्ष रूप से कवित्व की सृष्टि नहीं करते—ये भी शब्दार्थ का ही उपकार करते हुए उसमें चमत्कार उत्पन्न करते हैं, अर्थात् रस भी अलंकार का ही अंग है। अलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना से पहले रस-सिद्धान्त का विस्तृत एवं सर्वांग विवेचन हो चुका था और रसमय काव्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था, अतः उसकी नितान्त उपेक्षा तो सम्भव नहीं थी। इसलिए अलंकारवादियों ने 'रस' तथा 'भाव' को सर्वथा रूढ़ एवं स्थूल अर्थ में ग्रहण करते हुए उनका अपने सिद्धान्त में अंतर्भाव करने के लिए रसवत् एवं ऊर्जस्वि अलंकारों की उद्भावना कर ली और रस अपनी भाव-विभाव की सम्पत्ति के साथ अलंकार के दरबार में मामूली सामन्त की हैसियत से शामिल हो गया। फिर भी रस के प्रति सभी अलंकारवादियों का दृष्टिकोण एक-जैसा नहीं था—भामह और उद्भट की दृष्टि जहाँ अधिक उदासीन थी वहाँ दण्डी और रुद्रट का दृष्टिकोण काफ़ी स्निग्ध था। परवर्ती अलंकारवादी तो उसके महत्त्व से पूर्णतः अवगत थे—जयदेव जैसे उग्र अलंकारवादी के काव्य-सिद्धान्त रस और ध्वनि के प्रभाव से ओतप्रोत हैं।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि आरम्भ में तो, जब तक यह भ्रांति रही कि रस का सम्बन्ध मूलतः नाटक से ही है, अलंकार-सम्प्रदाय में रस की उपेक्षा हुई। परन्तु भ्रम का निवारण हो जाने पर अलंकार और रस के सम्बन्ध अधिक मधुर हो गये—शुद्ध अलंकारशास्त्र के ग्रंथों में भी रस और ध्वनि का विस्तार के साथ विवेचन होता रहा; अलंकार का महत्त्व कम नहीं हुआ, पर रस का मूल्य बढ़ गया—इतना कि परवर्ती आलंकारिकों को, स्वयं जयदेव को भी अलंकारवादी न कहकर अलंकारप्रेमी कहना ही संगत प्रतीत होता है। जहाँ तक दोनों के सहयोग का प्रश्न है, वहाँ तक तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता। सादृश्यमूलक अलंकार विभाव के स्वरूप को विशद एवं ग्राह्य बनाते हैं और अनेक अलंकार ऐसे हैं जो कल्पना को उद्दीप्त कर भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं। किन्तु इतना ही नहीं है—सत्य तो यह है कि अलंकार केवल रस के उपकारक ही नहीं, वे रस की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम हैं : काव्य की भाषा (रस की अभिव्यक्ति)—व्यापक अर्थ में—अलंकृत ही हो सकती है—कोई भी कृती कवि चमत्कारविहीन शब्दार्थ के माध्यम से रमणीय अर्थ या भाव का प्रतिपादन नहीं कर सकता और न कोई कृती आलोचक ही इसे सिद्ध कर सकता है। पर इसके आगे, भाव-सौन्दर्य से असम्पृक्त शब्दार्थ के जिस चमत्कार—पारिभाषिक शब्दावली में, जिस चित्रकाव्य की सृष्टि आलंकारिक करेगा, क्या वह सहृदय की मनःप्रीति के लिए पर्याप्त होगी ? मैं समझता हूँ, यहीं रस और अलंकार के तारतम्य का निर्णय हो जाता है। आधुनिक आलोचनाशास्त्र में अलंकार या अप्रस्तुतविधान अथवा बिम्ब-योजना का महत्त्व केवल केयूर या भुजबंध के समतुल्य नहीं है, जिसे यथासमय उतारकर रख दिया जा सके,—उसका महत्त्व शरीर के रूप-रंग से भी अधिक है; फिर भी उसे प्राण-तत्त्व प्रायः नहीं माना गया। और यह ठीक भी है—अलंकार को कवित्व का पर्याय मान लेने पर यह भी मानना आवश्यक हो जाएगा कि कला चमत्कार की सृष्टि मात्र है, अनुभूति की सम्प्रेषणा या अभिव्यक्ति नहीं है, कला के बहुमान्य भव्य उद्देश्यों के स्थान पर केवल कुतूहल की उद्‌बुद्धि से भी काव्य का कृतित्व पूरा हो सकता है।

रीति-सिद्धान्त भी अलंकार-सम्प्रदाय की भाँति रस के बहुत अनुकूल नहीं है। वामन के अनुसार रीति काव्य की आत्मा है और रस रीति के आधारभूत बीस गुणों में एक—अर्थगुण कांति, का मूल तत्त्व है। इस प्रकार रीति-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस रीति का एक पोषक तत्त्व है—रस की दीप्ति रीति की शोभा का पोषण करती है, यही उसकी सार्थकता है। रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध गुण के साथ है और गुण शब्दार्थ-रूप काव्य का नित्य धर्म है, अतः रस का सम्बन्ध भी काव्य के नित्य धर्म के साथ स्थापित हो जाता है; किन्तु उसकी अवस्थिति केवल एक गुण में ही है, अतः उसका मूल्य सीमित ही है। उधर रस-सिद्धान्त में रस काव्य की आत्मा है और पदसंघटना रीति अंग-संस्थान के समान है। वर्णविन्यास और शब्दविन्यास से निर्मित रीति गुण पर आश्रित है और गुण रस के धर्म हैं, अतएव गुण के सम्बन्ध से रीति भी रस के साथ सम्बद्ध है। अलंकार की तरह रीति भी रस की उपकारक है; जिस प्रकार उक्ति-चमत्कार से रस-व्यंजना में सहायता मिलती है, इसी प्रकार सुन्दर पदरचना से भी। रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो

माधुर्य, ओज, अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और विशद करती हुई रस-दशा तक पहुँचाने में साधनरूप से सहायक होती है। अतः रस-सिद्धान्त में रीति के लिए स्थान नियत है, वह उसका उचित उपयोग करता है। जहाँ तक सापेक्षिक महत्त्व का प्रश्न है, दोनों की स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। 'रीति' का शब्दार्थ ही यह सिद्ध कर देता है कि वह विधि मात्र है, तत्त्व नहीं है। विधि का भी अपना महत्त्व है और अनेक संदर्भों में—काव्य के संदर्भ में भी—वह क्रिया का मूलाधार होती है; फिर भी वह तत्त्व के समकक्ष या उससे बढ़कर तो नहीं हो सकती। रमणीय शब्द-विन्यास से अर्थ में रमणीयता आती है या रमणीय अर्थ के संस्पर्श से शब्दावली चमत्कृत हो उठती है—वस्तुस्थिति क्या है? इसका उत्तर स्पष्ट है: अर्थ की रमणीयता से ही शब्द-विन्यास रमणीय बनता है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रमणीय शब्द से भी अर्थ का संस्कार हो जाता है—एक शब्द के स्थान पर दूसरे समानार्थक शब्द के प्रयोग से या शब्दों के अनुक्रम में परिवर्तन कर देने से अर्थ चमक उठता है। परन्तु ऐसा वास्तव में होता नहीं है, केवल प्रतीत होता है। अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए मूल शब्द या मूल क्रम उपयुक्त ही नहीं था, इसलिए अर्थ की रमणीयता बाधित हो रही थी। उपयुक्त शब्द और क्रम की व्यवस्था हो जाने पर अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति अनायास ही हो गयी। अभीष्ट अर्थ ही रमणीय अर्थ है। शब्द या शब्दों का क्रम अपने आप में रमणीय नहीं हो सकता। वास्तव में शब्द तो प्रतीक मात्र है, उसकी तथाकथित रमणीयता का आधार तो 'रमणीय अर्थ' है जिसका कि वह प्रतीक है और अर्थ की रमणीयता का आधार निश्चय ही भाव होता है। रमणीय का अर्थ है 'जिसमें श्रोता का चित्त रमण करे' और श्रोता की चित्तवृत्ति का संवाद चित्तवृत्ति अर्थात् भाव के साथ ही हो सकता है; इस प्रकार अर्थ की रमणीयता भावरंजित ही होती है—वही अर्थ रमणीय होता है जो हमारी बोधवृत्ति के साथ-साथ चित्तवृत्ति को भी प्रभावित करे और परिणामतः वही शब्द रमणीय होता है जिसके द्वारा अर्थबोध के साथ-साथ भाव का उद्-बोध भी हो। शब्दों के क्रम या विन्यास के विषय में भी यही सत्य है। अतः शब्दार्थ और उसके विन्यास की चारुता का आधार वस्तुतः भाव ही है, इसमें विवाद के लिए अवकाश नहीं है। रीति-सिद्धान्त ने इस निमित्त-नैमित्तिक क्रम का विपर्यय कर दिया और यही उसके पतन का कारण हुआ।

वक्रोक्तिकार की दृष्टि कहीं अधिक उदार थी। कुन्तक ने काव्य के लक्षण और प्रयोजन के अन्तर्गत रस के महत्त्व की मुक्त कण्ठ से प्रतिष्ठा की है। लक्षण के अन्तर्गत कुन्तक ने वक्रकविव्यापार के साथ तद्विदाह्लादकारिता को भी अनिवार्य माना है और प्रयोजन के विषय में उनकी स्पष्ट घोषणा है:

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥१.५॥

—अर्थात् काव्यामृत का रस उसको समझने वाले (सहृदयों) के अन्तःकरण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है। और, तद्विद् का अर्थ कुन्तक की शब्दावली में केवल काव्यमर्मज्ञ नहीं है—तद्विद् का स्पष्ट अर्थ

है 'सरसात्मा', 'आर्द्रचेता', 'रसादिपरमार्थज्ञ'—अर्थात् रसमर्मज्ञ। इसी प्रकार काव्य-भेद, काव्य-वस्तु और काव्य-मार्ग में भी रस का स्थान अत्यन्त प्रमुख माना गया है। प्रवन्ध काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है और प्रवन्ध का आधार-तत्त्व (कथा नहीं है) रस है :

निरन्तररसोद्‌गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः॥ ४.३-४ अंतरश्लोक॥

—अर्थात् वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य का परम-तत्त्व रस ही है। काव्य-वस्तु के कुन्तक ने दो भेद किये हैं : स्वभाव-प्रधान तथा रस-प्रधान और इन दोनों को रस-स्वरूप माना है :

"इस प्रकार स्वभाव-प्राधान्य और रस-प्राधान्य से दो प्रकार की वर्ण्य विषय-वस्तु का सहज सौकुमार्य से रस-स्वरूप शरीर ही अलंकार्यता के योग्य है।" (व०जी० ३।११ की वृत्ति)। इस वर्ण्य वस्तु के चेतन और जड़ नाम से दो भेद और भी हैं। —इनमें चेतन ही मुख्य है और उसके लिए रसादि का परिपोष अनिवार्य है; जड़ का वर्णन भी काव्य का अंग है, परन्तु जड़ अर्थात् प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों का यह वर्णन अपनी रसोद्दीपन-सामर्थ्य के कारण ही काव्य होता है। सारांश यह है कि वर्ण्य वस्तु वास्तव में, अपनी रस-निर्भरता के कारण ही काव्य में ग्राह्य होती है। काव्य-मार्गों के विवेचन में भी रस की महत्ता असंदिग्ध है : सुकुमार और विचित्र दोनों मार्गों में रस का चमत्कार विद्यमान रहता है। सुकुमार मार्ग रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवदासुन्दर अर्थात् रस के रहस्य को जानने वाले सहृदयों के मन के अनुरूप होने के कारण सुन्दर होता है और विचित्र मार्ग कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित होने के साथ-साथ सरसाकूत—कुन्तक के अपने ही शब्दों में, रसनिर्भराभिप्राय (रसनिर्भर अभिप्राय से युक्त) भी होता है। उधर तीसरा मार्ग—मध्यम मार्ग भी, इन दोनों का मिश्र रूप होने के कारण, रसपुष्ट होना चाहिए। इस प्रकार तीनों मार्गों में रस का अभिषेक अनिवार्य है। —अन्त में, रसवत् अलंकार का निषेध तथा रस की अलंकार्यता की पुनः प्रतिष्ठा कर कुन्तक ने रस के प्रति अपना पक्षपात और भी अतर्क्य रूप से व्यक्त कर दिया है। अलंकारवादी जिस शस्त्र के वल पर रस-सिद्धान्त का सामना कर रहे थे, कुन्तक ने उसे ही निष्प्रभाव कर दिया। उनके अनुसार रस को अलंकार कहना तो सर्वथा अनुचित है, किन्तु "रसतत्त्व के विधान से, सहृदयों के लिए आह्लादकारी होने के कारण, जो रस के समान हो जाता है, वह अलंकार रसवत् कहा जा सकता है" —और "इस प्रकार अर्थात् रस के चमत्कार से यह अलंकार समस्त अलंकारों का प्राण और काव्य का अद्वितीय सार-सर्वस्व हो जाता है।" (१.१४) यहाँ कुन्तक रस-सिद्धान्त के केन्द्र में ही पहुँच गये हैं : अलंकार का सच्चा रूप वह है जो रस के प्रभाव से चमत्कृत हो—भावना के रंगों से रंजित हो, अर्थात् अलंकार में भी रस के अभिषेक से ही कवित्व की उद्‌भावना होती है—केवल शब्दार्थ-क्रीड़ा काव्य नहीं है। इससे प्रवल रस का जयघोष और क्या हो सकता है ?

अव प्रश्न यह रह जाता है कि एक ओर कुन्तक जव यह मानते हैं कि **सालङ्कारस्य काव्यता** और **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्** —अर्थात् अलंकाररूपिणी वक्रोक्ति ही काव्य का प्राण है और दूसरी ओर यह भी मानते हैं कि रस काव्य का परम तत्त्व है, तव इन दोनों

मान्यताओं को किस प्रकार समंजित किया जाए ? दोनों में वास्तविक सम्बन्ध क्या है और दोनों के तारतम्य का निर्णय किस प्रकार किया जाए ? इस प्रश्न का उत्तर भी कठिन नहीं है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अनुसार काव्य का प्राण तो वक्रोक्ति ही है और वक्रोक्ति, जैसा कि हम 'वक्रोक्तिजीवितम्' की भूमिका में स्पष्ट कर चुके हैं, उक्तिचमत्कार मात्र न होकर काव्य-कला का ही पर्याय है। **वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्** का आशय यही है कि काव्य स्वरूपतः कला है—अनुभूति नहीं है, जैसा कि मनोवैज्ञानिक आलोचक मानते हैं। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है और अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान् है रस। अतः रस वक्रोक्ति की परमनिधि है—काव्य की प्राणचेतना तो वक्रता ही है, परन्तु इस वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रस-सम्पदा। इस प्रकार रस के साथ वक्रोक्ति का सम्बन्ध भी प्रायः वही है जो ध्वनि का : काव्य की आत्मा है वक्रता, पर वक्रता का सार-सर्वस्व रस है। दोनों के तारतम्य के विषय में—फिर, काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के सापेक्षिक महत्व का प्रश्न उठ खड़ा होता है जिसका उत्तर हम दे ही चुके हैं।

औचित्य-सिद्धांत के विषय में पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसकी कल्पना तो रस-सिद्धांत के परिवेश में ही की गयी है।

उपर्युक्त विवेचन से भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित अन्य मूल-सिद्धान्तों के साथ रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है और इस विषय में कतिपय उपयोगी निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

१. रस-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन, व्यापक एवं बहुमान्य सिद्धान्त है। आरम्भ में कुछ ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी थी कि रस के विभाव, अनुभाव आदि का उपस्थापन नाट्य में ही सम्भव हो सकता है, अतः उसका वास्तविक क्षेत्र नाट्य ही है। इसी भ्रान्ति के परिणामस्वरूप काव्य के क्षेत्र में, शब्दार्थ की परिधि के भीतर, रस से भिन्न आत्मभूत तत्व की खोज आरम्भ हुई और शब्दार्थगत चमत्कार के दो प्रमुख रूप—अलंकार और रीति सामने आये। किन्तु यह भ्रान्ति जल्दी दूर हो गयी और शब्दार्थ के क्षेत्र में ही विभावादि की प्रस्तुति की सम्भावना व्यक्त हो गयी। आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना द्वारा शब्दार्थ की निहित शक्तियों का उद्घाटन किया और 'व्यंजना' के द्वारा विभावादि को उपस्थित करने वाली नाट्य-सामग्री के अभाव की पूर्ति की। अभिनवगुप्त ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया; काव्य के साथ रस का उचित सम्बन्ध स्थापित हुआ और शब्दार्थ के सन्दर्भ में ही रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी।

२. ध्वनि की स्थापना से पूर्व अलंकार और रीति-सिद्धान्तों के अन्तर्गत भी रस की एकान्त उपेक्षा नहीं हुई थी। अलंकारवादियों ने रसवत् अलंकार के रूप में और रीतिकार ने रीति के आधारभूत गुण के पोषक-तत्व रूप में उसे शब्दार्थ=काव्य का शोभाधायक धर्म मान लिया था। ध्वनि की स्थापना के बाद भी यह चिन्ताधारा वक्रोक्ति-सिद्धान्त के रूप में प्रकट हुई। कुन्तक ने यद्यपि वक्रता को ही काव्य की प्राण-चेतना माना, फिर भी रस के प्रति उनके मन में अबाध आकर्षण था--रस को उन्होंने वक्रता की समृद्धि का मुख्य आधार माना।

३. इस प्रकार भारतीय कलावाद क्रमशः अलंकार, रीति तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुआ—और वक्रोक्ति की प्रकल्पना में उसका पूर्ण विकसित रूप सामने आया। इन सिद्धान्तों में काव्य को सारतः कला माना गया और अनुभूति को उसका पोषक तत्त्व।

४. उधर सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो जाने के बाद रस-सिद्धान्त ने भी अलंकार, रीति तथा कला के अन्य तत्त्वों का उचित उपयोग किया। सामान्यतः तो अलंकार को आभूषण और रीति को अंग-संस्थान के समान ही माना गया; परन्तु यह केवल स्थूल कल्पना थी। तत्त्व-दृष्टि से—गुण, अलंकार तथा अन्य कला-उपकरणों को विभावादि का साधारणीकरण करने और फिर उसके द्वारा भाव को व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त कर आस्वाद का विषय बनाने के लिए आवश्यक ठहराया गया। शब्दार्थ के कलात्मक प्रयोग के बिना न तो विभाव, अनुभाव आदि की साक्षात् उपस्थापना ही सम्भव है और न उनका साधारणीकरण—अर्थात् देश-काल के बंधनों से मुक्त सर्वसहृदय-गम्य रूप की कल्पना ही की जा सकती है—और, इसके बिना, स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती। अतः अलंकार, गुण (रीति), बिम्ब-विधान, प्रबन्ध-कल्पना आदि सभी रस के सहायक उपकरण हैं और रस की प्रतीति के लिए उनकी आवश्यकता अनिवार्य है।

५. अलंकार, रीति और वक्रोक्ति का रस के साथ वही सम्बन्ध है जो आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में काव्य के अन्तर्गत कला-तत्त्व का अनुभूति-तत्त्व के साथ है। काव्य में दोनों का समन्वय अनिवार्य है : वास्तव में आज तो दोनों के तादात्म्य का नाम ही काव्य माना जाता है। कला या कलात्मक अभिव्यक्ति के बिना भाव-विभूति केवल अनुभव का विषय ही रह जाती है और भावना के संस्पर्श के बिना कला शब्द-क्रीड़ा मात्र। दोनों के विषय में अतिवाद से हानि हुई है—कला के क्षेत्र में तो अतिवाद के कारण अनर्थ होता ही आया है, किन्तु रस-विषयक अतिवाद भी मान्य नहीं हो सकता : जिस प्रकार भाव-विरहित कला काव्य नहीं है, उसी प्रकार केवल भाव का उद्गार भी काव्य नहीं है क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो प्रत्येक व्यक्ति के हर्ष-विषाद का उद्रेक काव्य हो जाएगा।

६. ध्वनि और रस का सम्बन्ध और भी अन्तरंग है क्योंकि दोनों की प्रकल्पना सहृदय-निष्ठ है। दोनों में भेद केवल यही है कि रस-सिद्धान्त जहाँ कल्पनात्मक भावना को कवित्व का प्राणतत्त्व मानता है, वहाँ ध्वनि-सिद्धान्त भाव-रंजित कल्पना को; और यह भेद वास्तव में इतना सूक्ष्म है कि कालान्तर में इसका एक प्रकार से लोप ही हो गया। परन्तु यदि दोनों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना है, तो इसको ध्यान में रखना ही पड़ेगा।

७. औचित्य-सिद्धान्त का विकास रस-सिद्धान्त में से ही हुआ है; अतः वह उसका एक प्रकार से अंग ही है। रस की परिधि में ही औचित्य की सत्ता और सार्थकता है।

८. इस प्रकार रस-सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त है और उसके दृष्टिकोण में विवेक-पुष्ट सहिष्णुता मिलती है : अनुभूति की सीमा के भीतर रहकर वह अलंकार, रीति-गुण, वक्रता और ध्वनि सभी के साथ पूर्ण सहयोग करता है और सभी का उचित सहयोग प्राप्त करता है—उसका धैर्य वहीं टूटता है जहाँ शब्दार्थ के साथ भावना का सम्बन्ध टूट जाता है। इस दृष्टि से ध्वनि-सिद्धान्त को आप और भी उदार कह सकते हैं, परन्तु यह

उदारता बड़ी महँगी पड़ती है, इससे दाता के स्वरूप की हानि हो जाती है और अदाता को 'अधम' विशेषण का भागी बनना पड़ता है। तब ऐसी उदारता किस काम की ?

९. सहयोग के अभाव में जब प्रतियोग या तारतम्य का प्रश्न उठता है, तो रस का रूप और भी निखर आता है। अन्य सिद्धान्तों के सन्दर्भ में रस की स्थिति का मानचित्र कुछ इस प्रकार बनता है :

अलंकार-सिद्धान्त : शब्दार्थ-(उक्ति-) चमत्कार+आनन्द=काव्यास्वाद

रीति-सिद्धान्त : शैली-सौन्दर्य+आनन्द=काव्यास्वाद

वक्रोक्ति-सिद्धान्त : कविव्यापार या कला+आनन्द=काव्यास्वाद

ध्वनि-सिद्धान्त : रमणीय (भाव-प्रेरित) कल्पना+शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति+आनन्द =काव्यास्वाद

औचित्य-सिद्धान्त : भाव-प्रेरित विवेक+शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति+आनन्द=काव्यास्वाद

रस-सिद्धान्त : कल्पनात्मक भावना+शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति+आनन्द=काव्यास्वाद

इन सब में आनन्द तत्त्व समान है : उसको निकाल देने के बाद—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं औचित्य के साथ रस के तारतम्य का अर्थ रह जाता है क्रमशः उक्ति-चमत्कार, शैली, कला, रमणीय कल्पना एवं भावप्रेरित विवेक के साथ कल्पनारमणीय भावना का तारतम्य। और, इसका निर्णय करना कठिन नहीं है—वास्तव में काव्य के अन्तर्गत सभी का महत्त्व होने पर भी इनमें से कोई भी तत्त्व स्वतन्त्र रूप से भाव की समता नहीं कर सकता, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन का ही प्रेरक तत्त्व भाव है; जीवन में रस ही भाव के अभिषेक से आता है, चारित्र्य की समृद्धि और जीवन के मूल्यों का आधार भाव ही है और आनन्द का भी वही रूप प्रबल एवं गम्भीर होता है जो भाव के माध्यम से सिद्ध होता है : भाव से असम्पृक्त कल्पना का चमत्कार या शैली अथवा उक्ति का चमत्कार कुतूहल से अधिक नहीं होता। तर्क के अतिरिक्त अनुभव के आधार पर भी यह स्वतःसिद्ध है कि काव्य का वही तत्त्व स्थायी होता है जो सहृदय के संस्कार में बस जाता है और यह तत्त्व है भाव। अतः काव्य के अन्य समस्त तत्त्वों की अपेक्षा में भाव का गौरव अक्षुण्ण है—रहा है और रहेगा और इसी अनुपात से काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों की अपेक्षा रस-सिद्धान्त का महत्त्व भी अक्षुण्ण है, रहा है और रहेगा।

रस तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विभिन्न वाद

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में समय-समय पर अनेक वादों का प्रवर्तन होता रहा है। इन सभी के प्रायः दो रूप रहे हैं—एक ऐतिहासिक और दूसरा तात्त्विक। प्रत्येक वाद का एक विशेष ऐतिहासिक परिवेश में जन्म हुआ है, अतः उसका एक प्रारम्भिक समय-सापेक्ष अर्थ है—किन्तु कालान्तर में वह एक धारणा का—जीवन और काव्य के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण का वाचक बन गया है जो किसी देश एवं युग-विशेष से आबद्ध नहीं है। वैसे तो प्रत्येक वाद का काव्य के तत्त्व और रूप दोनों के ही प्रति अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है फिर भी कुछ में तत्त्व का प्राधान्य है और कुछ में रूप का—और, इस दृष्टि से उनको स्थूल रूप से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। आभिजात्यवाद, स्वच्छन्दतावाद, आदर्श-

वाद और यथार्थवाद में वस्तु (भावना-विचार) की प्रधानता है—रूप अपेक्षाकृत गौण है और अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि में रूप प्रमुख है और वस्तु गौण। आरम्भ में प्रायः इनमें उग्र विरोध रहा है, फिर संगति और सामंजस्य के प्रयत्न हुए हैं और अन्त में यद्यपि विरोध की उग्रता कम हो गयी है पर साम्य की भूमिका से वैषम्य की भावना बहुत-कुछ स्पष्ट रूप में सामने आ गयी है। वास्तव में ये सभी दृष्टिकोण अपनी-अपनी सीमा के भीतर सही हैं—परन्तु किसी तत्त्व-विशेष के प्रति आग्रह के कारण वे सर्वांगीण नहीं बन पाये और परिणामतः विश्व-साहित्य के अनेक उत्कृष्ट अंश तथा रूप ऐसे रह जाते हैं जिनके साथ कोई एक वाद पूरा न्याय नहीं कर पाता। हमारी धारणा है कि रस-सिद्धान्त एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है जिसमें इन वादों का विरोध मिट जाता है, जो सभी के अनुकूल पड़ता है और सभी का अपने स्वरूप में समन्वय कर लेता है।

पहले आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद को लीजिए जो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के सबसे अधिक प्रसिद्ध काव्य-सिद्धान्त हैं। इन दोनों की धारणाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं—यहाँ तक कि एक का स्वरूप दूसरे के संदर्भ में ही स्पष्ट हो पाता है। इन दोनों के भी अपने ऐतिहासिक रूप या अर्थ हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वे हमारे लिए विशेष सार्थक नहीं हैं—अतः हम उनके तात्त्विक रूपों का ही विवेचन करेंगे। आभिजात्यवाद को कला का स्वास्थ्य कहा गया है—इस मत के अनुसार कला के मूल तत्त्वों का पूर्ण समंजन आभिजात्यवाद का आधार है। विचार के क्षेत्र में विवेक अर्थात् औचित्य-भावना तथा नीति एवं परम्परा के प्रति आस्था; राग के क्षेत्र में—संवेद्य और आस्वाद दोनों में—संयम और शान्ति अर्थात् चित्तवृत्तियों का समीकरण; उधर कला के क्षेत्र में व्यवस्था एवं संतुलन—तत्त्व का रूप कें साथ और रूप के विभिन्न उपकरणों का एक-दूसरे के साथ; संक्षेप में ये ही आभिजात्यवाद के प्रमुख लक्षण हैं। आभिजात्यवाद में कला के मूल विचार और अभिव्यंजना में पूर्णता का एक आदर्श रहता है और यह आदर्श मूर्त, स्पष्ट एवं सर्वांगपूर्ण होता है। 'वैचित्र्य' तथा 'वैविध्य' इसमें अन्वित होकर और 'अद्भुत' बुद्धिग्राह्य रूप में उपस्थित होता है। इसीलिए भारत की अनेक भाषाओं में, उदाहरण के लिए गुजराती में, 'अभिजात' के लिए 'स्वस्थ' शब्द का ही प्रयोग होने लगा है। किन्तु आभिजात्यवाद रीतिवाद का पर्याय नहीं है—वह शुद्धता मात्र पर निर्भर नहीं करता; गरिमा उसका सहजधर्म है—उदात्त विषय-वस्तु, उदात्त विचार और उदात्त भावना उसके प्रमुख तत्त्व हैं, परन्तु इन पर विवेक का अनुशासन अनिवार्य है। वह शक्ति और कल्पना को महत्त्व देता है, परन्तु उसकी शक्ति उच्छृंखल और कल्पना निर्बाध नहीं होती। रस-सिद्धान्त इन सभी धारणाओं का समर्थन करता है। जो 'औचित्य' आभिजात्यवाद का आधार-तत्त्व है, वही रस का भी 'उपनिषद्' है। उसकी भी नीति एवं परम्परा के प्रति आस्था है और वह भी रागात्मक संयम में विश्वास करता है; परम्परा और नीति के विरोध से रस-भंग हो जाता है और भावना का अनियन्त्रित उद्गार रस को रसाभास में स्खलित कर देता है। इसी प्रकार शान्ति अथवा चित्तवृत्तियों का समीकरण, भारतीय शास्त्र की शब्दावली में आत्म-विश्रान्ति रस का चरम लक्षण है। रस-सिद्धान्त भी मूलतः कला के एक परिपूर्ण और मूर्त रूप को ही लेकर चलता है—विभाव, अनुभाव तथा

व्यभिचारी आदि का विधान इसी परिपूर्णता और मूर्तता के निमित्त ही किया गया है। अतः रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत आभिजात्यवाद की आधारभूत प्रायः सभी धारणाओं के लिए स्थान है।

स्वच्छन्दतावाद को कभी-कभी आभिजात्यवाद का विपरीत रूप मान लिया जाता है। यद्यपि यह तो ठीक नहीं है, फिर भी, दोनों में काफ़ी विरोध है। वह काव्य-प्रवृत्ति की स्वच्छन्दता का सिद्धान्त है। वह स्वास्थ्य की अपेक्षा शक्ति में विश्वास करता है। वह विवेक और नीति की अपेक्षा प्रकृति या स्वभाव को, संयम की अपेक्षा मुक्त अभिव्यक्ति को, परम्परा की अपेक्षा प्रवाह को और विधान की अपेक्षा विद्रोह को प्रधानता देता है। वह आत्मा की शान्ति की अपेक्षा आत्मा के उद्वेलन अथवा मन्थन अथवा उल्लास को अधिक मूल्यवान् मानता है। गरिमा का वह उपासक है, उदात्त और भव्य के प्रति उसके मन में अबाध आकर्षण है—पर उसका उदात्त और भव्य असीम से जुड़ा हुआ है। व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त या अर्द्ध-व्यक्त, गोचर की अपेक्षा रहस्यमय की कामना ही यहाँ प्रमुख है। अनुभूति के क्षेत्र में ज्ञान की अपेक्षा जिज्ञासा का महत्त्व यहाँ अधिक है, बोध से संवेदन अधिक मूल्यवान् है—विचार से वासना की शक्ति कहीं अधिक प्रबल है। कला के क्षेत्र में सामंजस्य की उसकी अपनी परिभाषा है; वह संतुलन कम-से-कम बहिरंग संतुलन को कला का क्षुद्र उपाय समझता है; सामंजस्य का उसके लिए अत्यन्त गम्भीर और आध्यात्मिक अर्थ है: सामंजस्य उसके लिए बहिरंग तथा यान्त्रिक कर्म न होकर कवि की प्रसव-रत चेतना की क्रिया है—यह सामंजस्य मूलतः कवि की चेतना में सम्पन्न होकर शब्द-अर्थ में अनायास ही घटित हो जाता है। वह वैशद्य के स्थान पर वैचित्र्य और समृद्धि का अनुरागी है और मूर्त के स्थान पर अमूर्त का। सुन्दर उसके लिए पर्याप्त नहीं है, अद्भुत का योग उसमें अनिवार्य है—अद्भुत के बिना वह जीवन्त नहीं हो सकता। इसीलिए पेटर ने 'सुन्दर के साथ अद्भुत के संयोग' को स्वच्छन्दतावादी कला का प्राण-तत्त्व माना है। वह कल्पना और भावना का उपासक है, परन्तु आभिजात्यवाद की भाँति उनको सीमित और संयत रखने में विश्वास नहीं करता—उसकी मान्यता है कि इनके दमन से कला का दमन होता है और इनकी मुक्ति ही कला की मुक्ति है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद एक गत्यात्मक और जीवन्त काव्य-सिद्धान्त है जो भावना तथा कल्पना की समृद्धि, प्राचुर्य तथा शक्ति में विश्वास करता है। उपर्युक्त तत्त्वों अथवा लक्षणों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसके साथ रस-सिद्धान्त की संगति न बैठती हो या जिसका रस-सिद्धान्त के अनुसार उचित मूल्यांकन न हो सके। रस-सिद्धान्त जहाँ कला के स्वास्थ्य का समर्थक है वहाँ शक्ति का भी उपासक है—उसमें विवेक और नीति के साथ प्रकृति या स्वभाव की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण अवकाश है, जिज्ञासा उसके लिए अकाम्य नहीं है और वासना के साथ तो उसका जन्मजात सम्बन्ध है। परम्परा के प्रति आस्था उसमें निहित है, किन्तु विद्रोह से भी उसका विरोध नहीं है। भावना की समृद्धि उसका आधार है—विभाव और भाव-पक्ष की विस्तृति इसका प्रमाण है। कल्पना के वैभव—वैचित्र्य और वैविध्य को रस-सिद्धान्त आग्रह के साथ स्वीकार करता है—लक्षणा और व्यंजना की सम्पदा —गुणालंकार-सम्पदा, जिसे रस-सिद्धान्त साधन रूप में स्वीकार करता है, कल्पना की

विभूति ही तो है। वास्तव में रस का प्रेरक सिद्धान्त आनन्दवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन आत्मा के ऐश्वर्य का दर्शन है और वह भाव तथा कल्पना की रोमानी विभूतियों का अनन्त भाण्डार है। उसमें व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों की सम्यक् प्रतिष्ठा है; रस की भूमिका व्यक्तिपरक है परन्तु उसकी परिणति सार्वजनीन एवं सार्वभौम है। स्वच्छन्दतावाद का केवल एक ही लक्षण ऐसा रह जाता है जिसके विषय में शंका हो सकती है और वह यह है कि जब स्वच्छन्दतावाद में शान्ति के स्थान पर आध्यात्मिक उद्वेलन एवं उच्छलन का प्राधान्य रहता है और इधर रस का लक्षण है आत्म-विश्रांति, तब दोनों में संगति कैसे बैठ सकती है ? इसका एक समाधान तो यह है कि स्वच्छन्दतावाद में भी सर्वत्र शान्ति का अभाव नहीं है—उदाहरण के लिए वर्ड्सवर्थ की अधिकांश कविताओं में आध्यात्मिक शान्ति की परिव्याप्ति है और इधर रस-कल्पना में भी द्वन्द्व अथवा उच्छलन का अभाव नहीं है, विश्रान्ति तो परिणति का लक्षण है—उससे पूर्व की प्रक्रिया में द्वन्द्व, उद्वेलन, उच्छलन, सभी कुछ अन्तर्भाव्य है—भाव-शबलता, भाव-सन्धि, विरोधी रसों की कल्पना इसका अकाट्य प्रमाण है कि रस-सिद्धान्त सर्वथा 'अद्वन्द्व' पर आश्रित नहीं है। तात्त्विक समाधान इस शंका का यह है कि स्वच्छन्दतावाद में भी उद्वेलन और उच्छलन सर्जना तथा चर्वणा की प्रक्रिया के लक्षण हैं, परिणति के नहीं; और इसका प्रमाण यह है कि स्वच्छन्दतावाद का आनन्दवाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। शैले, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज—यहाँ तक कि रुग्ण कीट्स और आस्था-विहीन बायरन में भी—आनन्द का स्वर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुखर है; शैले का मानवता की मुक्ति में अटूट विश्वास, वर्ड्सवर्थ का सर्वात्मवाद, कॉलरिज का आत्मवाद, कीट्स की सौन्दर्य के प्रति उल्लासपूर्ण आस्था और बायरन का जीवन के प्रति अबाध उत्साह आनन्दवाद के ही विभिन्न रूप हैं। आनन्दवाद को स्वीकार कर लेने के बाद फिर उपर्युक्त शंका केवल शाब्दिक रह जाती है, क्योंकि आनन्द का स्वरूप तो एक ही हो सकता है—विश्रान्तिमय; प्रक्रिया में या स्वरूप के निर्माण में अन्वय-व्यतिरेक शैली से उसमें द्वन्द्व की भी सत्ता रहती है, परन्तु सिद्धावस्था में तो विश्रान्ति ही होगी। अतः भेद केवल निर्वचन में है, तत्त्व में नहीं है; स्वच्छन्दतावाद के व्याख्याता जब यह घोषणा करते हैं कि वह अन्तर्मन्थन का या आध्यात्मिक उद्वेलन का काव्य है तो वे अपने निर्वचन में अन्तिम चरण तक न पहुँचकर कुछ पहले ही रुक जाते हैं—शुक्लजी की शब्दा-वली में आनन्द की सिद्धावस्था तक न पहुँचकर साधनावस्था पर ही रुक जाते हैं।

इस प्रकार आभिजात्यवाद और स्वच्छन्दतावाद—दोनों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सद्भाव है। वास्तव में उसके प्रकाश में दोनों का अन्तर्विरोध मिट जाता है और किसी भी आभिजात्यवादी तथा स्वच्छन्दतावादी रचना के साथ पूर्ण न्याय किया जा सकता है। संस्कृत में 'रामायण' और 'रघुवंश', 'मेघदूत', और 'अमरुक', 'शाकुन्तलम्' और 'उत्तर-रामचरित'—हिन्दी में 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत', 'बिहारीसतसई' और 'घनानन्द-कवित्त', 'प्रियप्रवास' और 'कामायनी' में काव्य का स्वर या कवि-दृष्टि अत्यन्त भिन्न है; परन्तु रस-सिद्धान्त में यह विरोध मिट जाता है, वह सभी के साथ न्याय करता है। रसवाद के आधार पर ही आचार्य शुक्ल जायसी और तुलसी, बिहारी और घनानन्द के साथ न्याय कर सके हैं—जहाँ वे ऐसा नहीं कर सके वहाँ उनका लोकमंगल-सिद्धान्त बाधक हुआ है,

रसवाद नहीं । और, इसका प्रमाण है 'भ्रमरगीत-सार की भूमिका'; जब तक वे रस-सिद्धान्त का आँचल पकड़े रहते हैं उनकी सहृदयता सूर के काव्यामृत का छककर पान करती है, किन्तु ज्योंही लोकमंगल की भावना हावी हो जाती है, शुक्लजी मथुरा और व्रज की दूरी के आधार पर विरह के औचित्य का निर्णय करने लगते हैं । पाश्चात्य कवियों में मिल्टन और कीट्स, शेक्सपियर या गेटे (गोइटे) और शैले का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक निकष नहीं हो सकता : मैथ्यू आर्नल्ड शैले के साथ इसीलिए अन्याय कर बैठे हैं कि शुक्लजी की तरह वे भी रस की सहज भूमिका से भटक गये हैं ।

मूल चेतना की दृष्टि से काव्यगत रहस्यवाद भी स्वच्छन्दतावाद के अत्यन्त निकट है । उसे हम स्वच्छन्दतावाद का आध्यात्मिक रूप भी कह सकते हैं । इसका ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि यद्यपि पूर्व और पश्चिम में रहस्यवाद एक आदिम काव्य-प्रवृत्ति के रूप में आरम्भ से ही विद्यमान रहा है, फिर भी साहित्यिक वाद के रूप में इसका आविर्भाव स्वच्छन्दतावाद के साथ ही हुआ है : इसीलिए छायावाद के प्रथम चरण में भी छायावाद और रहस्यवाद के बीच भ्रान्ति रही । आधुनिक युग में भारत के सर्वश्रेष्ठ रसवादी आलोचक शुक्लजी ने रस-सिद्धान्त और रहस्यवाद के प्रकृत सम्बन्ध के विषय में शंका व्यक्त की है । रस-सिद्धान्त के प्रमुख अंग अभिव्यक्तिवाद के आधार पर शुक्लजी ने रस का प्रकृत सम्बन्ध सगुण भावना के साथ ही माना है और निर्गुण कल्पना पर आश्रित रहस्यानुभूति को सहज रूप से रसानुकूल मानने में संकोच किया है । परन्तु अभिव्यक्तिवाद के प्रवर्तक एवं रस-सिद्धान्त के शास्त्र-मान्य रूप के प्रतिष्ठापक अभिनवगुप्त का सम्पूर्ण विवेचन शुक्लजी की इस धारणा के विरुद्ध पड़ता है—और, इधर जयशंकर प्रसाद ने शुक्लजी के जीवन-काल में ही इस शंका का अन्तिम रूप से निवारण कर दिया था । अतः सिद्ध की साधना करने से क्या लाभ ?

आदर्शवाद और यथार्थवाद की भी धारणाएँ प्रायः युग्म रूप में उपस्थित होती हैं; ये भी आरम्भ में एक-दूसरे के विरोधी और अन्त में पूरक रूप में सामने आते हैं । आदर्श-वाद वास्तव में 'आइडियलिज़्म' का हिन्दी-पर्याय है जो सर्वथा शुद्ध न होने पर भी प्रचलित हो गया है । अंगरेजी में 'आइडियल' का अर्थ, प्रस्तुत संदर्भ में, 'विचारपरक' या 'भावपरक' या 'आत्मपरक' है 'आदर्श' नहीं है और 'आइडियलिज़्म' से अभिप्राय केवल आदर्शवादी दृष्टिकोण का न होकर अधिक व्यापक रूप में भावपरक या आत्मपरक या प्रत्ययवादी दृष्टिकोण का ही है । व्यापक अर्थ में 'आदर्शवाद' के अनुसार काव्य या कला अनिवार्यतः आत्मपरक होती है । कुछ कलाकार जीवन के यथार्थ चित्रण का दावा करते हैं और कुछ आलोचक भी उसका समर्थन करते हैं, किन्तु कला में जीवन का यथार्थ चित्रण वस्तुतः सम्भव ही नहीं है । यह ठीक है कि कला की दृष्टि जीवन पर रहती है, जीवन ही उसका विषय है और जीवन का चित्रण ही उसका उद्देश्य, किन्तु वह जीवन को चर्म-चक्षु से नहीं, मन की आँख से देखती है और कला के क्षेत्र में चित्रण का अर्थ आख्यान अथवा पुनःसृजन का ही है । कला को 'अनुकरण' भी इसी अर्थ में कहा गया है । अरस्तू ने स्पष्ट लिखा है कि कवि इतिहासकार से भिन्न है क्योंकि वह वस्तुओं का वैसा चित्रण नहीं करता जैसी कि

वे हैं, वरन् उस रूप में करता है जैसी कि वे हो सकती हैं या होनी चाहिए। वास्तव में अरस्तू के इन शब्दों में शुद्ध आदर्शवाद की प्रकल्पना का बीज निहित है। एक ओर कला को अनुकरण मानकर उन्होंने उसे जीवन की ठोस भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है, तो दूसरी ओर 'जैसी कि वे हो सकती हैं', और 'जैसी कि वे होनी चाहिए',—इन परस्पर भिन्न किन्तु सम्बद्ध वाक्यांशों के द्वारा कला में आत्मतत्त्व को स्वीकृति प्रदान कर, उस पर आश्रित आदर्शवादी कला-दर्शन के विभिन्न पहलुओं को भी निर्भ्रान्त रूप से प्रकाशित कर दिया है। आत्मपरक चित्रण कई प्रकार का हो सकता है—पदार्थों का वैसा चित्रण जैसे कि (१) वे कलाकार को प्रतीत होते हैं, (२) जैसे कि वे हो सकते हैं, (३) जैसे कि वे कलाकार के विचार या दृष्टिकोण के अनुसार होने चाहिए। पहले में कलाकार के स्वभाव, दूसरे में कल्पना और तीसरे में उसकी इच्छा या भावना और नैतिक मान्यता की स्पष्ट स्वीकृति है। कहने का अभिप्राय यह है कि आदर्शवाद का रूप मूलतः नैतिक ही नहीं है, उसमें भावना और कल्पना का भी प्राचुर्य रहता है। परन्तु धीरे-धीरे उसमें नैतिक तत्त्व प्रबल होता गया है, यह भी उतना ही सत्य है। दर्शन के क्षेत्र में काण्ट और हीगेल ने आदर्शवाद का गम्भीर दार्शनिक निरूपण किया है। इन दार्शनिकों की स्थापना है कि मानव-चेतना में एक सहज आदर्श-वृत्ति भी है जो उसे उचित कर्मों की ओर प्रेरित करती है—अर्थात् यह वृत्ति नैतिक है। काण्ट ने इसे सहजानुभूति और हीगेल ने विवेक कहा है। इस प्रकार आदर्शवाद की धारणा आत्मतत्त्व से आरम्भ होकर अन्त में प्रमुख रूप से नैतिक ही हो गयी है, राग और कल्पना के तत्त्व क्रमशः नीति के पोषक ही बन गये हैं—ऐसे आदर्शों (दिवास्वप्नों या कल्पनाओं) का जिनमें कल्याण-भावना का अभाव हो 'आदर्शवाद' में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य रूप में आदर्शवाद कल्याणवादी मूल्यों पर आश्रित भावपरक कला-दर्शन का नाम है। —यह सिद्ध करने के लिए विशेष तर्क की आवश्यकता नहीं है कि रसवाद का आदर्शवाद के साथ पूर्ण सौहार्द है। मूल रूप में दोनों का ही आधार आत्मवाद है। रसवाद भी मूलतः व्यक्तिपरक एवं भावपरक काव्यदर्शन है और भावना, कल्पना तथा औचित्य सभी की उसमें यथावत् स्वीकृति है। विभावादि का साधारणीकरण प्रकृति या जीवन के मानसिक अथवा भावनात्मक चित्रण[1] का ही एक प्रकार है। —यथार्थवाद की कल्पना आदर्शवाद से अत्यन्त भिन्न है; एकान्त वैपरीत्य न होने पर भी दोनों में पर्याप्त विरोध है। यथार्थवाद मूलतः वस्तुपरक दृष्टिकोण है—कला के क्षेत्र में वह जीवन और जगत् के यथावत् चित्रण पर बल देता है। यथार्थवादी अपनी भावनाओं, कल्पनाओं तथा विचारों को प्रतिपाद्य विषय से अलग रखकर वस्तु पर ही ध्यान केन्द्रित करता है; वह अपने को जीवन का तटस्थ द्रष्टा और चितेरा मानकर चलता है। उसका विश्वास है कि तथ्य का शुद्ध रूप में ग्रहण ही चिंतन और कला की वास्तविक सिद्धि है—अपनी भावनाओं और विचारों में रँगकर रोमानी या आदर्शवादी कलाकार वस्तु के स्वरूप को विकृत कर देता है। भौतिक जीवन में चरम आस्था यथार्थवाद का आधार

---

[1] आइडियलाइजेशन ऑफ़ नेचर

है—वह जीवन को उसके यथार्थरूप में स्वीकार कर चलता है और उसे यथावत् प्रस्तुत करना उसका लक्ष्य रहता है। किसी काल्पनिक आदर्श या रंगीन स्वप्न के प्रतिफलन का प्रयास तथ्य को विकृत कर देता है; उचित-अनुचित के कल्पनाप्रसूत नियमों में तथ्य को बाँधना प्रवंचना ही है। यथार्थवाद पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है, आलोचकों ने उसे विज्ञान का कलात्मक प्रतिरूप कहा है। भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जिन नवीन और विचित्र तथ्यों का उद्घाटन हुआ, उनसे यह प्रतीत होने लगा कि कल्पना की अपेक्षा तथ्य में अधिक वैचित्र्य है। अतः कला और साहित्य भी, जो आरम्भ से ही प्रकृति के अनुकरण का दावा करते आ रहे थे, इस नवीन सत्य से प्रभावित होकर जीवन के यथार्थ—तथ्यात्मक रूपों की ओर पूरे वेग से बढ़े। विचार के अतिरिक्त, निरूपण के क्षेत्र में भी, विज्ञान की विधि और प्रणाली का प्रभाव पड़ा : प्रकृति का यन्त्रालेखन कला का आदर्श बन गया; तथ्य के प्रति पूर्ण निष्ठा, विवरण की परिशुद्धता, प्रलेखन की सतर्कता आदि वैज्ञानिक पद्धतियों को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। यद्यपि यथार्थवाद की मूल धारणा उतनी ही पुरानी है जितना अनुकरण-सिद्धान्त, फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी में वह यूरोप भर में एक आन्दोलन के रूप में व्याप्त हो गया था—और यद्यपि उसका मुख्य क्षेत्र उपन्यास ही था, फिर भी अन्य कला-रूप भी इस सर्वग्रासी प्रभाव से मुक्त नहीं थे। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यथार्थवाद से प्रकृतवाद का जन्म हुआ जो एक प्रकार से उसका अतिरंजित रूप ही था। यथार्थवाद जहाँ जीवन के भौतिक—विशेषतः सामाजिक रूप पर ही ध्यान केन्द्रित करता था, वहाँ प्रकृतवाद मानव-प्रकृति की सहजवृत्तियों—वासनाओं के चित्रण को ही यथार्थ एवं वास्तविक मानने लगा। इन सहजवृत्तियों में स्वभावतः काम का ही प्राधान्य रहा और प्रकृतवाद नग्न यथार्थवाद का पर्याय बन गया जिसमें यौन जीवन के नग्न यथार्थ की विवृति प्रधान हो गयी। आन्दोलन के रूप में आदर्शवाद, यथार्थवाद और प्रकृतवाद का विशेष देश और विशेष काल से सम्बन्ध था, परन्तु जीवन-दर्शन या कला-दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्तों के रूप में ये देश-काल-निरपेक्ष हैं—और हम इनका इसी अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं। अब प्रश्न उठता है कि क्या यथार्थवाद से भी रसवाद का सौहार्द है? हमारा निर्भ्रान्त उत्तर है—'हाँ'। यही तो रसवाद का महत्त्व है कि वह परस्पर-विरोधी धारणाओं का भी अपने स्वरूप में अन्तर्भाव कर सकता है। आखिर यथार्थवादी कला में भी तो अपना आकर्षण रहता है, वह भी तो सहृदय के चित्त का अनुरंजन करती है। इस आकर्षण का रहस्य क्या है? अमिश्र जीवन-रस ही न। आदर्शवाद और स्वच्छन्दतावाद से भिन्न यथार्थवाद जीवन के वस्तु-रूप का चित्रण इसीलिए तो करता है कि उसके द्वारा प्रमाता विचारों और कल्पनाओं के रस से अमिश्रित, यथासम्भव शुद्ध, जीवन-रस का अनुभव कर सके। यथार्थ-वादी कला की यही सार्थकता है, इसी रस के आधार पर ही तो वह कला या काव्य के पद की अधिकारिणी बनती है। रस-विरोधी कह सकता है कि यह बुद्धि का रस है, भावना का नहीं है। परन्तु सम्पूर्ण यथार्थवादी साहित्य—चॉसर, थैकरे, फ़्लावेयर, बाल्जाक, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की, गोर्की, उधर प्रकृतवादियों में जोला और मोपासाँ के कथा-साहित्य के कलात्मक आस्वाद का विश्लेपण इस तर्क को झुठलाकर अनायास ही सिद्ध कर देता है कि यह

कलात्मक आस्वाद रागात्मक अनुभूति रूप ही है, बौद्धिक अनुभूति नहीं है। यह आस्वाद कल्पना-रंजित भावना का ही आस्वाद है अर्थात् रसानुभूति से सर्वथा अभिन्न है। यथार्थवादी कला के आस्वाद के मूल में भी, वास्तव में, जीवन के प्रति सूक्ष्म अनुराग और जड़-जंगम प्रकृति के प्रति सूक्ष्म सहानुभूति की भावना ही विद्यमान रहती है, जिसे इंगलैण्ड की प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यास-लेखिका जॉर्ज इलियट ने 'मीठी सहानुभूति' कहा है। जीवन के प्रति यह सूक्ष्म अनुराग, यह मीठी सहानुभूति ही तो जीवन का रस है और इसका आस्वाद रसानुभूति ही है। यथार्थवाद की कल्पना भारतीय काव्यशास्त्र में स्वभावोक्ति के विवेचन के अन्तर्गत मिलती है।[1] भोज ने काव्य के तीन भेद किये हैं: स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति; इनमें स्वभावोक्ति में यथार्थवादी कला और वक्रोक्ति में कल्पनाप्रधान स्वच्छन्दतावादी कला की धारणा निहित है और जिस प्रकार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति रसोक्ति का पोषण करती हैं, इसी प्रकार यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद भी रसवाद के पोषक हैं। कहने का तात्पर्य यह है रसवाद का आधार व्यापक रूप में मानववाद ही है; जिस प्रकार मानववाद में आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों के लिए स्थान है, इसी प्रकार रसवाद का भी दोनों के प्रति पूर्ण सौहार्द है। और, यह कोई नयी कल्पना नहीं है। महाभारत से बढ़कर यथार्थवादी कला का उदाहरण विश्व-साहित्य में दुर्लभ है, उधर रामायण आदर्शवादी काव्य का भव्यतम आदर्श है: इतिहास साक्षी है कि भारतीय काव्यशास्त्र, इन दोनों में क्रमशः शान्त तथा करुण रस की अंगिरस-रूप में कल्पना कर, आरम्भ से ही इनका रसपरक मूल्यांकन करता आया है—**यथा महाभारते शान्तः, रामायणे करुणः।** (सा० द०, विमला टीका, पृ० १४०)

आगे चलकर मार्क्स-दर्शन के वर्धमान प्रभाव के फलस्वरूप यथार्थवाद में सामाजिक तत्त्व का एकान्त प्राधान्य हो गया जिसकी परिणति सामाजिक यथार्थवाद में हुई। हिन्दी में और स्वदेश-विदेश की अनेक भाषाओं में इसे प्रगतिवाद अथवा इसके किसी पर्यायवाची नाम से अभिहित किया गया है। यह वास्तव में कला और साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण का ही प्रतिरूप है। मार्क्सवाद का आधारभूत सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जो यह स्थापना करता है कि संसार में केवल पदार्थ की ही सत्ता है; मस्तिष्क, चेतना आदि का स्वरूप भी अन्य ज्ञानेन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। किन्तु यह पदार्थ जड़ एवं निष्क्रिय न होकर सहज गतिशील है और इस गति के प्रेरक हैं पदार्थ में निहित दो परस्पर विरोधी अन्तस्तत्त्व जिनमें एक विकास की ओर उन्मुख है और दूसरा विनाश की ओर—विकासोन्मुख प्रवृत्ति × विनाशोन्मुख प्रवृत्ति = गति। गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है।—और, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है—एक विनाश के पथ पर है, दूसरी विकास के पथ पर। चेतन

---

[1] वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्। रुद्रट—काव्यालंकार, ७।१०

मस्तिष्क इस तथ्य को समझ कर प्रगतिशील शक्तियों को सहायता देता है और विनाशोन्मुख शक्तियों का बलपूर्वक नाश करता है। इस प्रकार संसार का एकमात्र सत्य है भौतिक जीवन जिसका प्रतिनिधि रूप है समाज और समाज का आधार है अर्थ तथा उसकी उत्पादन-प्रणाली। कला और साहित्य समाज के ही प्रतिफलन हैं—सामाजिक परिस्थितियाँ तथा उनकी आधारभूत आर्थिक प्रणालियाँ जीवन के अन्यान्य रूपों की भाँति साहित्य एवं कला की भी उत्पत्ति एवं विकास का नियमन करती हैं और इनकी भी सार्थकता यही है कि ये समाज तथा उसको गति प्रदान करने वाले वर्ग-संघर्षमय जनजीवन के विकास में योगदान करें। संक्षेप में, मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार, सच्चा या प्रगतिशील साहित्य—

(१) जनता के लिए है।

(२) यह संघर्ष का साहित्य है। इस संघर्ष का उद्देश्य है—राष्ट्रीय स्वाधीनता, जनतन्त्र की स्थापना, साम्राज्यवाद-सामन्तवाद की संस्कृति का उन्मूलन और शान्ति (जिसके लिए पूर्वोक्त परिस्थितियाँ अनिवार्य हैं।)

(३) इसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है।

(४) इस प्रकार यह साहित्य 'जनता की सांस्कृतिक विरासत का ऐतिहासिक विकास है।' (डा० रामविलास शर्मा के उद्धरण के आधार पर)।

प्रगतिशील साहित्य "जाति-द्वेष, भाग्यवाद, निराशावाद, अनैतिकता और शोषण का प्रचार करने वाले प्रतिक्रियावादी हीन साहित्य से 'अलग' वह श्रेष्ठ प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य है जो मनुष्य में मानवीय संवेदना, सौन्दर्य-बोध, कर्म-चेतना और तर्क-बुद्धि जगाता है, आशा का संचार करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठा कर हमें उन्नत और नैतिक मानव बनाता है।" × × "वह आनन्ददायी मूल्यों पर आधृत न होकर चेतना-विकासी नैतिक मूल्यों पर आधृत है।" (—शिवदानसिंह चौहान)।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत साहित्य-मान्यताओं का रस-सिद्धान्त की धारणाओं के साथ मौलिक भेद है, परन्तु यह प्रतीति बहुत कुछ भ्रान्तिजन्य है। प्रत्येक नवीन आन्दोलन की भाँति प्रगतिवाद[1] भी परम्परा के विरुद्ध अन्ध विद्रोह के रूप में उठा था और चूँकि भारतीय साहित्य में रसवाद की परम्परा प्रायः अक्षुण्ण रूप से चली आ रही थी, इसलिए प्रगतिवाद के भारतीय व्याख्याताओं ने अत्यन्त आग्रह के साथ रस-सिद्धान्त का विरोध किया। इस विरोध के मूल में दो धारणाएँ थीं—एक तो यह कि रसवाद का आधार केवल आह्लाद है, मानव-चेतना के विकास और मानव-जीवन के कल्याण के प्रति वह उदासीन है और दूसरी यह कि रस एक आध्यात्मिक या अर्ध-आध्यात्मिक कल्पना है जो आभिजात्यवादी अथवा सामन्त-वादी युग की अनेक प्रवंचक धारणाओं के समान मिथ्या एवं जन-कल्याण-विरोधी है। इसी-लिए हिन्दी के कतिपय स्थूलद्रष्टा लेखक 'ब्रह्मानन्दसहोदर' शब्द को लेकर तरह-तरह के वादमूढ़ निष्कर्ष प्रस्तुत करने लगे। वास्तव में ये दोनों धारणाएँ ही अशुद्ध हैं : रस 'प्लेजर', 'लज्जत' या विनोद का पर्याय कभी नहीं माना गया, वह आनन्द का पर्याय है जो व्यष्टि एवं

---

[1] हिन्दी में 'प्रगतिवाद' नाम ही प्रचलित है, अतः हम इसी का प्रयोग कर रहे हैं।

समष्टि के कल्याण की अन्तिम परिणति है। अतः पहली धारणा तो आनन्द और कल्याण की मिथ्या भेद-कल्पना पर आश्रित है और दूसरी धारणा का आधार है रस की आध्यात्मिक-कल्पना-विषयक भ्रान्ति जिसका निराकरण हम इस परिच्छेद के आरम्भ में ही कर चुके हैं।

इन भ्रांतियों का निराकरण हो जाने के बाद रसवाद के प्रति मार्क्सवादी काव्य-दर्शन का विरोध—कम से कम उसकी उग्रता—बहुत कुछ शान्त हो जाती है। प्रगतिवाद की प्रमुख मान्यता—समष्टिगत काव्य-चेतना—का तो साधारणीकरण सिद्धान्त के साथ प्रत्यक्ष समभाव है ही, अन्य धारणाओं के लिए भी रस की परिधि में पूरा अवकाश है। संघर्ष अथवा द्वन्द्व-भावना भी रस के अन्तर्गत उसी प्रकार ग्राह्य है जिस प्रकार प्रेम और शान्ति; संघर्ष के विभिन्न तत्त्व—उत्साह, क्रोध अथवा मन्यु, करुणा आदि का रस-चक्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जनता का साहित्य भी तो आखिर जनता के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षा, संघर्ष और सिद्धि का ही आलेख होगा और यही रस की आधारभूत सामग्री है। साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद की संस्कृति का उन्मूलन, राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा, जनतन्त्र का निर्माण, शान्ति की स्थापना आदि जनकल्याणवादी उद्देश्यों से रस-सिद्धान्त का क्या विरोध हो सकता है? मानवीय संवेदना और सौन्दर्य-बोध का विकास रसवाद का भी लक्ष्य है; नैतिक मूल्यों को भी वह पूर्ण आग्रह के साथ स्वीकार करता है; आशा का संचार, कर्म-चेतना की स्फूर्ति, व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से मुक्ति, निराशा एवं कुण्ठा का उच्छेद रसवाद के भी आधारभूत लक्षण हैं। अतः व्यापक अर्थ में साहित्य की प्रगतिशील धारणाओं को रसवाद का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। कठिनाई वहाँ होती है जहाँ मार्क्सवादी विचारक जनकल्याण का वर्ग-सीमित एवं एकांगी अर्थ करता है; परन्तु यह तो रस-सिद्धान्त का दोष नहीं है।

साहित्य में आगे चलकर, यथार्थवाद और उसकी विभिन्न विवृतियों को यथावत् ग्रहण नहीं कर लिया गया—उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई और कला के क्षेत्र में ऐसे अनेक वादों का जन्म हुआ जिनका आधार आत्मवाद या आदर्शवाद था। इनमें सबसे तीव्र स्वर था प्रतीकवाद का। यद्यपि इस सिद्धान्त के बीज प्लोटिनस और उससे भी पूर्व प्लेटो के दर्शन में मिल जाते हैं, फिर भी साहित्यिक आन्दोलन के रूप में इसका जन्म, विज्ञान तथा उससे प्रेरित वस्तुवादी जीवन-दर्शन और कला-दर्शन के विरुद्ध, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांस में हुआ और वहाँ से यह बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैंड तथा जर्मनी में फैल गया। फ्रांस में इस आन्दोलन के नेता थे बोदलेयर और मैलार्मे तथा इंगलैंड में इसके सर्वश्रेष्ठ प्रति-निधि थे कवि येट्स। प्रतीकवाद स्वीकृत रूप से आत्मवादी दर्शन है। वह यह मानता है कि पदार्थ का महत्त्व अपने आप में नहीं है, वरन् जीवन के चिरंतन सत्य के प्रतीक रूप में ही उसका वास्तविक मूल्य है। इस प्रकार प्रतीकवाद एक तरह का रहस्यवादी जीवन-दर्शन है। परन्तु धार्मिक रहस्यवाद में और प्रतीकवाद में अन्तर यह है कि इसमें परमतत्त्व की कल्पना आदर्श या आध्यात्मिक सौन्दर्य के रूप में की जाती है—यह वस्तुतः सौन्दर्य का दर्शन है। प्रो० बाउरा के शब्दों में 'प्रतीकवाद का सारतत्त्व है आदर्श या आध्यात्मिक सौन्दर्य के संसार के प्रति आग्रह और यह विश्वास कि उसकी सिद्धि कला के माध्यम से होती है। धार्मिक विश्वास के अनुसार, साधक साधना के द्वारा या भक्त प्रार्थना के द्वारा जिस आनन्द का

अनुभव करता है, प्रतीकवाद के अनुसार कवि को उसी आनन्द की सिद्धि अपनी कला-साधना के द्वारा हो जाती है। क्योंकि समाधिस्थ साधक की ध्यानावस्थिति एवं कालातीत आत्मविश्रांति मूलतः सौन्दर्यानुभूति से भिन्न नहीं हैं जिसमें कि देश और काल, आत्म और अनात्म तथा सुख और दुःख का भेद प्रतीत नहीं होता।'[१] ऐसे काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम सामान्य भाषा न होकर प्रतीकात्मक भाषा ही हो सकती है। यहाँ शब्द के सामान्य या अभिधार्थ का कोई मूल्य नहीं है, यहाँ तो प्रतीकार्थ का ही महत्त्व है, काव्य में प्रयुक्त शब्द अर्थ-बोध नहीं करता वरन् पाठक या श्रोता के मन में सौन्दर्य का बिम्ब जगाता है और इसी में उसकी सार्थकता है। वैसे तो, प्रत्येक शब्द ही अपने आप में एक प्रतीक है, परन्तु प्रतीकवादी काव्य में प्रतीक का यह रूढ़ अर्थ काफ़ी नहीं होता—यहाँ शब्द अपने रूढ़ अर्थ को भेद कर किसी सूक्ष्म-गम्भीर आन्तरिक अर्थ की व्यंजना करता है। इस प्रकार प्रतीकवाद एक शुद्ध आत्मपरक काव्य-दर्शन है जो आध्यात्मिक सौन्दर्य को काव्य का प्राण-तत्त्व और प्रतीक अथवा प्रतीक-भाषा को उसकी अभिव्यक्ति का मूल माध्यम मानता है। वह सौन्दर्य की धर्म-संहिता है।[२]

ऐसे काव्य-सिद्धान्त का स्पष्टतः ही रसवाद से कोई विरोध नहीं हो सकता और आदर्शवाद तथा स्वच्छन्दतावाद के समान प्रतीकवाद का भी रस-सिद्धान्त के साथ निश्चय ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों की दृष्टि मूलतः आत्मपरक है; दोनों ही आनन्द-तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं और रससिद्धान्त की तरह प्रतीकवाद की भी आनन्द-कल्पना देशकालातीत है। प्रतीकवाद में रससिद्धान्त की अपेक्षा रहस्य-तत्त्व अधिक है; परन्तु शुक्लजी के सभी तर्कों के बावजूद, रहस्यवाद का रसवाद से कोई विरोध तो नहीं है। इसी प्रकार अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी दोनों का माध्यम व्यंजना ही है। फिर भी, मेरा आशय यह नहीं है कि प्रतीकवाद और रससिद्धान्त में पूर्ण अभेद है—कुछ बातों में दोनों का भेद भी स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, रस में जहाँ रागात्मक अनुभूति की प्रधानता है, वहाँ प्रतीकवाद की आधारभूत सौन्दर्यानुभूति में राग की अपेक्षा कल्पना एवं विचार-तत्त्व का प्राधान्य है। इसी तरह, प्रतीकवाद जिस प्रतीकात्मक माध्यम को अनिवार्य मानता है वह व्यंजना का एक विशिष्ट एवं अतिरंजित रूप है, जबकि रसाभिव्यक्ति की आधारभूत व्यंजना का स्वरूप सामान्य एवं व्यापक रहता है। परन्तु, ये सभी भेद प्रकृति के नहीं केवल मात्रा के हैं।

लगभग इसी समय, अर्थात् उन्नीसवीं शती के अन्त में, यूरोप में कला और काव्य के कतिपय अन्य सिद्धान्त भी सामने आये—जिनमें प्रभाववाद[3] की काफ़ी चर्चा रही। प्रभाव-वाद का आरम्भ मूलतः चित्रकला के क्षेत्र में हुआ और शीघ्र ही काव्य तथा आलोचना के क्षेत्र में भी उसका प्रसार हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में उद्योग-विज्ञान के प्रसार के कारण जीवन और जीवन-दर्शन में एक अभूतपूर्व गतिशीलता आ गयी थी। वेग और परिवर्तन की इसी भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति प्रभाववाद में हुई।[४] यह सिद्धान्त

---

१ सी० एम० बाउरा—दि हेरिटेज ऑफ़ सिम्बालिज़्म—प्रथम परिच्छेद

२ टेस्टामेंट ऑफ़ ब्यूटी

3 इम्प्रैशनिज़्म

४ हॉसर—ए सोशल हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट, भाग २, पृ० ८७०-७१

समय के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अनुभूति के क्षण को पकड़ कर कला के माध्यम से उसे स्थायी रूप प्रदान करना—यही प्रभाववाद का लक्ष्य है। रोज़ेटी ने अपनी प्रगीत रचनाओं के विपय में कहा था कि ये अनुभूति के कुछ क्षण हैं जिन्हें मैंने चिरन्तन बना दिया है। आर्नल्ड हॉसर के अनुसार प्रभाववाद के आधारसूत्र हैं—स्थायित्व और नैरन्तर्य पर क्षण की विजय; यह भावना कि प्रत्येक अवस्था क्षणिक है जिसकी पुनरावृत्ति कभी नहीं हो सकती, वह समय के प्रवाह में विलीन होने वाली एक लहर है—ऐसे प्रवाह में जिसमें कि कोई पुनः प्रवेश नहीं कर सकता। इन विचार-सूत्रों का आधार यद्यपि कुछ यूनानी दार्शनिकों—हैरेक्लिटस आदि के जीवन-दर्शन में मिल जाता है, फिर भी प्रत्यक्ष रूप से इन पर नीत्शे और बर्गसाँ जैसे दार्शनिकों का प्रभाव है। इनके अनुसार सत्य वस्तु-रूप न होकर प्रक्रिया-रूप होता है—वह स्थिति-रूप न होकर गति-रूप ही होता है। स्पष्टतः इस प्रकार का दर्शन अतिवैयक्तिक होना चाहिए—क्षण और परिवर्तन को ही सत्य मानने के कारण इसमें एक प्रकार का निराशावाद भी स्वाभाविक है। इसके अनुसार मनुष्य एकाकी व्यक्ति है और देश तथा काल का लयमान, प्रस्तुत क्षणबिन्दु ही जीवन एवं जगत् का सार-तत्त्व है। इन सिद्धान्तों का आरोपण जब आलोचना पर हुआ तो स्वभावतः उसमें तात्कालिक प्रभाव मुख्य हो गया और कला के नियम एवं शाश्वत मूल्य सर्वथा अप्रासंगिक बन गये। तात्कालिक प्रभाव ही कला का लक्ष्य बन गया; नैतिक अथवा सांस्कृतिक उत्कर्ष, स्थायी प्रेरणा चारित्र्य अथवा शील का निर्माण आदि परम्परागत प्रयोजन असंगत सिद्ध हुए; व्यक्ति-मन पर पड़ने वाला यह क्षणिक प्रभाव ही कला अथवा काव्य के मूल्यांकन का निकष बना। इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धान्त की दृष्टि से प्रभाववाद और रस-सिद्धान्त में मौलिक भेद है। प्रभाववाद का आधार जहाँ क्षणिक अनुभूति है, वहाँ रस का आधार स्थायी भाव है; प्रभाववाद के विपरीत रस-सिद्धान्त जीवन और कला के शाश्वत मूल्यों में विश्वास करता है और सद्यःपरनिर्वृति के साथ-साथ स्थायी प्रेरणा तथा शील के उत्कर्ष आदि को भी सर्वथा प्रयोजनीय मानता है। फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में अविरोध है। प्रभाववाद जिस तात्कालिक प्रभाव को कला का एकमात्र प्रयोजन मानता है, वह मूलतः रागात्मक ही होता है—इसीलिए तो प्रभाववाद पर यह आरोप लगाया गया है कि वह सामान्यतः मूल्यों का निषेध करता हुआ भी प्रकारान्तर से अतिरंजित रागात्मकता को मूल्य रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। यह रागात्मकता ही प्रभाववाद और रस-सिद्धान्त का मिलन-बिन्दु है; यहाँ आकर व्यवहार की दृष्टि से दोनों में सौहार्द स्थापित हो जाता है। व्यवहार में प्रभाववाद जिस सद्यःअनुभूति को लेकर चलता है, वह रस की परिधि में ही आती है। उसके आधारभूत सिद्धान्त में भेद अवश्य है और स्वरूप में भी हो सकता है क्योंकि प्रभाववाद सहृदय की इस सद्यःअनुभूति को प्रत्येक स्थिति में आनन्दमय नहीं मानता; फिर भी रस-सिद्धान्त के अनुसार प्रभाववादी काव्य के सौन्दर्य का सम्यक् मूल्यांकन करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों में आस्वाद्य या संवेद्य तत्त्व राग ही रहता है—प्रभाववादी काव्य अनिवार्यतः सरस ही होता है।

उपर्युक्त वादों का सम्बन्ध प्रायः काव्य अथवा कला की विषयवस्तु के साथ है।

इनके अतिरिक्त पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कतिपय वाद ऐसे हैं जो अभिव्यक्ति को लेकर चलते हैं। इनमें सर्वप्रमुख है अभिव्यंजनावाद। क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजनावाद की मूलभूत धारणाएँ इस प्रकार हैं: (१) आत्मा की दो क्रियाएँ हैं—विचारात्मक और व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया अथवा ज्ञान के दो भेद हैं—स्वयंप्रकाश्य ज्ञान (सहजानुभूति) और प्रमेय ज्ञान। कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान या सहजानुभूति से ही है। कला सहजानुभूति ही है। यह सहजानुभूति एक ओर पदार्थ-बोध और दूसरी ओर संवेदन या संवेदन-पुंज से भिन्न होती है। पदार्थ-बोध के लिए पदार्थ की स्थिति अनिवार्य है, किन्तु सहजानुभूति उसके अभाव में भी होती है—उसके लिए वास्तव और सम्भाव्य में भेद नहीं है। संवेदन एक प्रकार का अरूप स्पन्दन है, आत्मा उसका अनुभव तो करती है पर उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकती, अतः वह जड़ और निष्क्रिय है। किन्तु सहजानुभूति अभिव्यंजना रूप ही होती है, अतः वह अभिव्यंजना से अभिन्न है। अतएव सहजानुभूति का अर्थ है अभिव्यंजना, केवल अभिव्यंजना—न कम न अधिक। यही कला है।

(२) तत्त्व और रूप अथवा वस्तु और अभिव्यंजना के विषय में क्रोचे का मत काव्यशास्त्र की परम्परा से भिन्न है। सौन्दर्य वस्तु में निहित है, अथवा अभिव्यंजना में, अथवा दोनों में? यदि वस्तु से अभिप्राय अनभिव्यक्त भावतत्त्व अथवा अन्तःसंस्कारों का और अभिव्यंजना से तात्पर्य व्यक्तीकरण की क्रिया का है तो सौन्दर्य न वस्तु में निहित है और न वस्तु तथा अभिव्यंजना के योग में। सौन्दर्य के सृजन में अभिव्यक्ति का भावतत्त्व में योग नहीं किया जाता, वरन् भावतत्त्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा मूर्त रूप धारण करता है, अर्थात् वह भावतत्त्व ही अभिव्यंजना के रूप में प्रकट हो जाता है जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है। अतएव सौन्दर्य अभिव्यंजना का नाम है—उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(३) कला मूलतः एक आध्यात्मिक क्रिया है, कलाकृति उसका मूर्त भौतिक रूप है जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन; (आ) अभिव्यंजना अर्थात् अरूप संवेदनों की आन्तरिक समन्विति—सहजानुभूति, (इ) आनन्दानुभूति (सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति) (ई) आन्तरिक अभिव्यंजना अथवा सहजानुभूति का शब्द, ध्वनि, रंग, रेखा आदि भौतिक तत्त्वों में मूर्तीकरण, और (उ) काव्य, चित्र इत्यादि—कला-कृति का भौतिक मूर्त रूप। इन पाँचों में मुख्य क्रिया (अर्थात् वास्तविक कला-सर्जना) दूसरी है।

(४) अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है—अभिव्यक्ति करने के अतिरिक्त उसका कोई अपर उद्देश्य नहीं होता। तदनुसार कला का अपने से भिन्न कोई उद्देश्य नहीं है: शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, धन आदि कुछ नहीं। कला कला के लिए ही है। आनन्द भी उसका सहचारी अवश्य है, किन्तु लक्ष्य नहीं है। कला का तो एक ही कार्य है—आत्मा को विशद करना। संकुल भावनाओं को अभिव्यक्त कर देने से आत्मा मुक्त हो जाती है जैसे बादलों के बरस जाने पर आकाश निर्मल हो जाता है। कला की यही चरम सिद्धि है। इसीलिए कला अपने मूल रूप में नैतिकता, उपयोगिता आदि के बन्धनों से भी मुक्त है। किन्तु, यह

कला के मूल (आन्तरिक) रूप का ही लक्षण है—कला को जब कलाकार मूर्त रूप प्रदान करता है तब वह सामाजिक नियमों के अधीन हो जाता है, उस स्थिति में उसे अपनी उन्हीं सहजानुभूतियों को मूर्त रूप देने का अधिकार रह जाता है जो समाज के लिए हितकर हैं। क्रोचे के उपरान्त अभिव्यंजनावाद, जब विचार से व्यवहार के क्षेत्र में अवतरित हुआ तो, उसकी मूल आत्मा ही बदल गयी। सर्जनात्मक साहित्य के अन्तर्गत नाटक पर अभिव्यंजनावादी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा; इटली के कलाकार पिरान्डेलो ने 'अभिव्यंजनावादी नाटक' का सूत्रपात किया और जर्मनी में इस कला का विकास हुआ। आलोचना के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद का प्रतिफलन रूपवादी आलोचना में हुआ जो कला में तत्त्व को सर्वथा नगण्य एवं अप्रासंगिक और रूप को ही सर्वस्व मानती थी। परन्तु वास्तव में इन दोनों आन्दोलनों से क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। क्रोचे का सिद्धान्त तो कला का दर्शन है जो सार्वभौम है, किसी विशिष्ट कला-प्रवृत्ति में उसे बाँधना उसके साथ अन्याय करना है। अतः अभिव्यंजनावाद का शुद्ध रूप वही है जिसका विवेचन क्रोचे ने किया है। क्रोचे के विवेचन से यह प्रतीत होता है कि अभिव्यंजनावाद और रस-सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि रस-सिद्धान्त जहाँ भाव पर आधृत है, वहाँ अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। परन्तु वास्तव में यह भेद भावना और अभिव्यक्ति के बलाबल या सापेक्षिक महत्त्व तक ही सीमित है। अभिव्यंजनावाद भावना के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करता, वरन् यह मानता है कि अभिव्यक्ति से पूर्व उसका सही रूप नहीं बनता : प्रेम, क्रोध आदि का मूल संवेदनात्मक रूप प्रेम या क्रोध नहीं है—कुछ विशिष्ट संवेदन अन्विति के माध्यम से अभिव्यक्त होकर ही 'प्रेम' या 'क्रोध' का रूप धारण करते हैं। मैं समझता हूँ कि रस-सिद्धान्त का इस धारणा से कोई विरोध नहीं है—वहाँ भी भाव की अनुभूति का नाम रस नहीं है, भाव की अभिव्यक्ति ही रस है। भेद दोनों में 'अभिव्यक्ति' शब्द के अर्थ के विषय में है; अभिव्यंजनावाद में अभिधा और व्यंजना दोनों ही अभिव्यक्ति के रूप हैं किन्तु रसवाद में व्यंजना ही अभिव्यक्ति है, अभिधा या 'कथन' नहीं। दोनों में मूल भेद यही है—यही ध्वनिवाद और अभिव्यंजनावाद का सही अन्तर है। ध्वनिवाद की तरह अभिव्यंजनावाद भी यह मानता है कि कला अनिवार्यतः अभिव्यंजना रूप ही होती है, दोनों का मूल आधार कल्पना है : कल्पना=सौन्दर्य (चारुत्व)=ध्वनि या अभिव्यंजना। किन्तु ध्वनि की आधारभूत अभिव्यंजना का अर्थ है व्यंजना मात्र जबकि अभिव्यंजनावाद की अभिव्यंजना में अभिधा का भी यथावत् अन्तर्भाव है; और सही शब्दों में, वहाँ अभिधा तथा व्यंजना का भेद ही नहीं है। इस प्रसंग में हम उपर्युक्त भिन्न धारणाओं के सापेक्षिक सत्यासत्य का निर्णय करना नहीं चाहते—वास्तव में यह दार्शनिक की तात्त्विक दृष्टि और आलोचक की व्यावहारिक दृष्टि का भेद है। हमारा प्रयोजन केवल इस निष्कर्ष से सिद्ध हो जाता है कि अभिव्यंजनावाद और रस या रसध्वनिवाद में विरोध नहीं है। एक प्रकार से अभिव्यंजनावाद ध्वनिवाद का व्यापक, वस्तुतः 'अतिव्याप्त' रूप है और जिस सीमा तक उसमें 'अतिव्याप्ति' है उसी सीमा तक काव्यशास्त्र की दृष्टि से उसमें दोष भी

है। इसी दृष्टिभेद के कारण दोनों में कुछ और सामान्य अन्तर पड़ गया है। अभिव्यंजना के सिद्धान्त में आन्तरिक या आध्यात्मिक अभिव्यक्ति ही मुख्य है और शब्द-अर्थ आदि के द्वारा उसकी मूर्त अभिव्यक्ति गौण एवं वैकल्पिक है। रस-कल्पना में भी यह आन्तरिक अभिव्यक्ति अमान्य नहीं है, किन्तु वहाँ शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति को गौण एवं वैकल्पिक नहीं माना गया है। रस-सिद्धान्त में जहाँ आनन्द रस का लक्षण है और काव्य का मौलिभूत प्रयोजन है, वहाँ अभिव्यंजनावाद में वह आनुषंगिक सिद्धि है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार कला कला के लिए है। कलाकार कला का सृजन आनन्द के लिए नहीं करता, फिर भी इस सृजन से उसे अनिवार्यतः आनन्द की सिद्धि होती है। रसवाद भी यह मानता है कि कला की सर्जना अनिवार्यतः आनन्दमय होती है, किन्तु वह इसे आनुषंगिक सिद्धि न मानकर मूल सिद्धि ही मानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह अन्तर केवल दृष्टि-भेद के कारण है, तत्त्व-भेद के कारण नहीं। वास्तव में तत्त्व-भेद के लिए अधिक अवकाश भी नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही सिद्धान्त आत्मवाद पर आवृत हैं। दोनों का आरम्भ ही इस धारणा से होता है कि समस्त सृष्टि-प्रपंच का आधार आत्मा है जो निरन्तर अभिव्यक्ति=सृष्टि=आनन्द में लीन है।

अभिव्यंजनावाद के अतिरिक्त आधुनिक युग के कुछ और भी वाद हैं जो जाने-अनजाने कविता के रूप पर अपेक्षाकृत अधिक बल देते हैं, जैसे बिम्बवाद, घनवाद आदि। बिम्बवाद का आविर्भाव अमरीका में हुआ, पर बाद में इंगलैण्ड के काव्यक्षेत्र में भी इसका प्रवेश हो गया। बिम्बवाद स्वीकृत रूप से स्वच्छन्दतावाद का विरोधी काव्य-सिद्धान्त है। इसका लक्ष्य है भाव और विचार से स्वतन्त्र, 'वस्तु' में कवित्व का अनुसन्धान करना। यह शुद्ध वस्तु या पदार्थ की कविता है, और वस्तु का गोचर रूप केवल 'बिम्ब' है अतः यह बिम्ब की कविता है। वस्तु स्वभावतः मूर्त, कठिन, सघन और शुद्ध होती है, भावना की आर्द्रता से वह मुक्त होती है—और ये ही विशेषताएँ बिम्ब में भी होती हैं, अतः शब्द के द्वारा वस्तु के इन्हीं गुणों को यथावत् प्रतिफलित करना बिम्बवादी कविता का मूल उद्देश्य है। राग की आर्द्रता मात्र का विरोध करने वाला यह सिद्धान्त रसवाद के अनुकूल कैसे पड़ सकता है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि काव्य की यह परिभाषा ही सहज मान्य नहीं है—पाश्चात्य साहित्य में भी इस वाद का उग्र विरोध हुआ है; वहाँ भी विवेकशील आलोचकों ने इस प्रकार की रचना को निर्जीव, यान्त्रिक, वैशिष्ट्य-विहीन पद्य माना है जो बिम्ब की धारणा को रूपरेखा और आकार तक ही सीमित कर कविता को भाव की आर्द्रता से सर्वथा मुक्त करने के प्रयास में उसे निष्प्राण ही बना देती है। बिम्बवादी कवि स्वयं अपने व्यवहार में सिद्धान्त से चूक जाता है—उसकी सहज प्रतिभा कठिन परिश्रम से निर्मित सूखे बिम्ब को भाव से वासित कर इस प्रकार के प्रयत्नों की व्यर्थता सिद्ध कर देती है और जहाँ यह कृत्रिम प्रयत्न सफल हो जाता है, वहाँ भाव की गंध के साथ कविता के प्राण भी उड़ जाते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में भी यह प्रश्न उठ चुका है। अलंकारवादियों ने जब रस का तीव्र विरोध किया तो दोनों का समन्वय करने के लिए आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की और रस-विरोधियों के परितोष के लिए रसध्वनि के अतिरिक्त वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि की

भी उद्भावना की। किन्तु जैसा कि हम ध्वनि के प्रसंग में सिद्ध कर चुके हैं, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि केवल शास्त्रीय कल्पनाएँ होकर रह गयीं—व्यवहार में काव्य का एक भी उदाहरण ऐसा नहीं प्रस्तुत किया जा सका या आज किया जा सकता है जो भाव की गन्ध से सर्वथा मुक्त हो। बिम्ववादियों ने और भी अतिरंजना के साथ उस प्रयोग को एक बार फिर दुहराया, परन्तु उनके प्रयत्नों का भी परिणाम वही हुआ। जिस प्रकार ध्वनिवादी वस्तु-ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना करते-करते अनजाने भाव-सौन्दर्य की दुहाई दे उठता था उसी प्रकार बिम्ववादी भी, दृढ़-कठोर, शुष्क कविता के युग का आवाहन करते-करते, शुद्ध चिंतन के क्षणों में, जब उसकी चेतना पूर्वाग्रह से मुक्त हो जाती है, सहसा कह उठता है: "………(बिम्ववादी काव्य के विधान में) कवि बाध्य हो जाता है नयी सादृश्य-योजनाओं का प्रयोग करने के लिए, विशेषकर पदार्थ का मूर्त-कठोर प्ररूप रचने के लिए जिसके द्वारा वह वस्तु-दर्शन से उद्बुद्ध अपने भाव को—अपने विस्मय और आनन्द को रूपायित कर सके।" (ह्यूम; स्पेक्यूलेशन्स)। यहीं रसवाद की विजय हो जाती है।

इन वादों के प्रसंग में स्वदेश-विदेश की नयी कविता का अनायास ही स्मरण हो आता है। यद्यपि नये कवि प्रायः सर्वत्र ही अपने प्रेरक तथा व्यावहारिक काव्य-सिद्धान्तों को वाद की संज्ञा देना पसन्द नहीं करते, फिर भी, इस स्वतःस्पष्ट तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि काव्य के प्रति इन कवियों का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जिसमें व्यक्ति-रुचि एवं तज्जन्य अवान्तर भेदों के रहते हुए भी एक निश्चित समभाव है। प्रस्तुत दृष्टिकोण का निर्माण, इसमें सन्देह नहीं, किसी एक विशिष्ट काव्यवाद के आधार पर नहीं हुआ, इसमें अनेक आधुनिक धारणाओं का संघात है—और यह भी सत्य है कि इसका स्वरूप निरन्तर विकासशील है। आरम्भ में बिम्बवाद और उसके कुछ बाद या प्रायः उसके साथ ही प्रभाववाद का गहरा प्रभाव इस पर पड़ा। फिर सार्त्र के अनास्थावादी जीवन-दर्शन 'अस्तित्ववाद' से उसने अपनी धारणाओं एवं संवेदनाओं के लिए दार्शनिक समर्थन प्राप्त किया और अन्त में आज के विघटनशील समाज ने इसे यथार्थपरक आधार प्रदान किया। इन या इन्हीं जैसे प्रभावों के फलस्वरूप 'नवसाहित्य'-चेतना का विकास हुआ है।

संक्षेप में नयी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं:

१. यह कविता पूर्णतः वर्तमान पर केन्द्रित है। यह न अतीत की ओर हसरत से देखती है और न भविष्य के प्रति आशा से। काल के निरन्तर प्रवाह में से वर्तमान क्षण की सम्पूर्ण अनुभूति को उसकी समस्त जीवंत सम्भावनाओं के साथ शब्द-बद्ध करना इसका लक्ष्य है।

२. इस प्रकार आधुनिकता का भाव-बोध और उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति का आग्रह इस कविता का केन्द्रीय तत्त्व है। आधुनिकता के वास्तविक अर्थ के विषय में नये विचारकों में मतभेद है। एक मत यह है कि आधुनिकता का सीधा अर्थ समसामयिकता है, परन्तु दूसरा मत दोनों में भेद करता है और 'आधुनिकता को अधिक आन्तरिक एवं मूल्यगत भाव' मानता है। सामान्यतः "आधुनिकता परिवर्तित भाव-बोध की वह स्थिति है जिसका प्रादुर्भाव यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक विकास-क्रम के वर्तमान बिन्दु पर आकर हुआ है," जबकि

"संसार की सामूहिक आत्म-हत्या का भय उत्पन्न हो गया है।" "विश्वव्यापी सन्दर्भ ने मानवीय भाव-बोध को एक गहरा आघात पहुँचाया है और समस्त परम्परागत मान्यताएँ वह गयी हैं। सुदृढ़ आस्थाओं के स्थान पर आकण्ठ अवसाद, भय, आशंका, संशय, अनिश्चय, क्षोभ, आक्रोश, विडम्बना से मानव-मन आक्रान्त हो उठा है। वह अपने बाह्य जीवन में अजनबी तथा आन्तरिक जीवन में स्वयं को विस्थापित अनुभव करने लगा है। चीज़ों का स्वरूप आमूल बदल जाने के कारण दोनों ही ओर से उसकी संपृक्ति टूट गयी है। क्रमशः उसकी जीवन-पद्धति तथा विचारों में अनोखा तनाव, उद्विग्नता, अशान्ति, विघटन तथा 'स्थायी संक्रान्ति' का वातावरण समा गया है। × × × वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती चली गयी हैं, आत्मनिष्ठ दृष्टियों का विकास हुआ है। × × × बाह्य परिस्थिति से सामंजस्य न होने के कारण एक प्रकार की असम्पृक्तता चारों ओर दिखायी पड़ती है। ममत्वहीनता के कारण बौद्धिक निस्संगता की प्रवृत्ति विकसित हुई है। आस्थाहीनता के शून्य की परिणति समस्त चीज़ों को मिथ्या और सारहीन समझकर ग्रहण करने में हो रही है।"

(हिन्दी वार्षिकी, १९६१, गिरिजाकुमार माथुर)

३. आस्था और तज्जन्य आन्तरिक समाहिति के अभाव में यह कविता निरानन्द है—निरानन्द होने का दावा करती है। अतः दर्शन में एकान्त व्यक्तिपरक, किन्तु 'वर्णन' में उतनी ही वस्तुपरक है यह कविता। यह भाव की कविता नहीं है—वस्तु की कविता है, अनुभूति का ग्रहण यहाँ तरल भावना के रूप में नहीं वरन् 'वस्तु' के रूप में ही होता है और बिम्बवाद की तरह अनुभूति का यह संवेदन भी यथासम्भव भाव की आर्द्रता से मुक्त, शुष्क और सघन होता है।

४. स्वभावतः इस प्रकार की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द-अर्थ के परम्परागत सम्बन्ध काफ़ी नहीं होते, इसलिए नया कवि नये भाव-बोध को रूप देने के लिए शब्द-अर्थ के नये सम्बन्धों की उद्भावना या स्थापना के लिए अपने को उत्तरदायी मानता है और नये अर्थ, नये प्रतीक, नयी लय और इन पर आश्रित नयी बिम्ब-योजना की निरन्तर उद्भावना करता रहता है।

अमरीका और इंगलैण्ड में नये कवियों ने जिस प्रकार स्वच्छन्दतावाद का उग्र विरोध किया है इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में भी (हिन्दी, मराठी, बंगला आदि में) स्वच्छन्दतावाद के साथ-साथ उसके समानधर्मा रसवाद का भी योजनाबद्ध विरोध किया जा रहा है। नयी कविता रस की कविता नहीं है—इसके विरोध में प्रायः निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(क) रस का आधार है—समाहिति, अद्वन्द्व किन्तु नयी कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।[1]

(ख) नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है—नई कविता का विषय है क्षण की अनुभूति जबकि रस का आधार है (जन्मान्तर्गत ?) वासना और स्थायी भाव।[2]

---

१ श्री वात्स्यायन के अभिभाषण
२ वही

(ग) रस-सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है—अतः रसानुभूति में केवल अव्यक्तिगत भावना का आस्वादन ही सम्भव है; किन्तु आज की कविता का संवेद्य अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है 'जिसे रसानुभूति के समकक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है'। 'रसानुभूति में व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक है, किन्तु सह-अनुभूति का आस्वादन व्यक्ति-चेतना के साथ ही हो सकता है। आत्म-विलयन के आनन्द और भावावेग के परिपाक की दृष्टि से रसानुभूति अवश्य ही उत्कृष्ट कोटि की कही जाएगी, परन्तु मानवीयता के विचार से सह-अनुभूति को उससे उत्कृष्टतर मानना ही विवेक-संगत दिखायी देता है।'[1]

(घ) परिणामतः नई कविता की अनुभूति निरानन्दमयी है। नयी कविता···आकर्षण को नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर करना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है सताती अधिक है। —कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमें सहमा देती है।[2]

(ङ) नयी कविता का मूल स्वर बौद्धिक है, रागात्मक नहीं है। 'उसमें एक अन्तर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है; यथार्थ-चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग तथा शैलीगत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान, आदि, जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषताएँ कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।'[3]

(च) 'रसवादी कविता के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण नयी कविता में नहीं मिलते, यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त, छन्द, गेयता, तथा पुनरावृत्ति आदि का अभाव या इसके प्रति उदासीनता भी बौद्धिकता का ही सहज परिणाम है। × × × अनगढ़पन में ही वह निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढ़ाने और माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है।'[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नयी कविता को नयी सिद्ध करने के लिए तर्कों का जाल बिछाया गया है और जाने-अनजाने रस-सिद्धान्त के विषय में मिथ्या कल्पनाएँ की गयी हैं। हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि रस अपने व्यापक अर्थ में मानसिक अनुभूति ही है। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनव-प्रतिपादित रस की धारणा अद्वन्द्व या अद्वैत पर आश्रित है और यह भी सत्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः वही मान्य हुई है, परन्तु शैव दर्शन या अद्वैत दर्शन में तो केवल काव्यानन्द की ही नहीं आनन्द मात्र की कल्पना इसी रूप में की गयी है—रस आनन्दमयी अनुभूति है और आनन्द के प्रत्येक रूप की प्रतीति आत्मविश्रान्ति अथवा आत्मा की अद्वन्द्वमयी स्थिति की प्रतीति ही होती है। अतएव अद्वैत

---

१ डा० जगदीश गुप्त : 'नई कविता' तथा 'आलोचना' के कतिपय अंकों से उदधृत

२ वही

३ वही

४ वही

या अद्वन्द्व का सम्बन्ध मूलतः रस के साथ नहीं वरन् शैव-दर्शन की आनन्द-कल्पना के साथ ही मानना चाहिए। और, इसका प्रमाण यह है कि रस की महत्ता केवल अद्वैतवादी आस्तिक आचार्यों ने ही नहीं, जैन आचार्यों ने भी उसी आग्रह के साथ प्रतिष्ठित की है, यद्यपि उनकी स्पष्ट मान्यता है कि 'सुखदुःखात्मको रसः'। इस प्रकार वात्स्यायन जी के आक्षेप का उत्तर स्पष्ट है। रस का मूल आधार अनुभूति, शुद्ध मानवीय अनुभूति ही है जिस पर स्वयं उनका भी पूरा बल है। इस अनुभूति के स्वरूप के विषय में भी दोनों प्रकार की धारणाएँ हैं—यह एकान्त आनन्दमयी भी मानी गयी है और सुखदुःखात्मक भी। आनन्द की वर्जना नयी कविता में भी नहीं है, अनेक कविताएँ इसका अकाट्य प्रमाण हैं और कुछ अतिवादी लेखकों को छोड़ अधिकांश ने आनन्द-तत्त्व को स्वीकार ही किया है—केवल इसकी अनिवार्यता का विरोध किया है। उनका विरोध कहाँ तक सार्थक है—सफल कविता की अनुभूति यानी किसी भी सच्ची अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति निरानन्दमयी या दुःख-मयी भी हो सकती है या नहीं, यह एक प्राचीन विवाद है जिसका अपने ढंग से समाधान हम सम्बद्ध प्रसंग में कर चुके हैं; अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि नयी कविता यदि अनुभूति को आधार मानकर चलती है, तो रस से उसकी मुक्ति नहीं है; रस के पाश से वह यह कह कर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानव-अनुभूति है, आनन्दानुभूति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति—तीव्र से तीव्र द्वन्द्व की कलात्मक अनुभूति भी—समंजित अर्थात् अद्वन्द्वमयी ही हो सकती है; द्वन्द्व प्रक्रिया में ही हो सकता है परिणति में नहीं, अन्यथा 'सच्चाई' और 'ईमानदारी' या 'अभिव्यक्ति की सफलता' की बात करना व्यर्थ होगा। इसी प्रकार तुक, छन्द, गेयता, अलंकार-परिष्कार आदि का रस के साथ अनिवार्य सम्बन्ध जोड़कर और फिर उनके अभाव में नयी कविता में रस के अभाव की प्रतिष्ठा करना भी तर्क नहीं, तर्काभास है। नयी कविता में इनके अभाव के कारण कवित्व की क्षति कहाँ तक हो रही है, यह प्रसंग दूसरा है; परन्तु कालिदास और निराला के अतुकान्त काव्य को या बाण तथा प्रसाद के गद्यकाव्य को रस से वंचित करना असंगत है। रसशास्त्र में ये सभी रस के उपकारक मात्र हैं, 'लक्षण' नहीं हैं। इसी तरह रस की अतीतोन्मुखता भी कोई प्रमाण नहीं है—वह वाक्‌चातुर्य मात्र है, तर्क की चतुर कल्पना है, क्योंकि ऐसा तो किसी भी रसाचार्य ने नहीं कहा। आप कह सकते हैं कि यह अनुगमात्मक निष्कर्ष है, पर वह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की कल्पना अधिक से अधिक प्रबन्ध के विषय में ही की जा सकती है, मुक्तक को अतीत से कैसे बाँधा जा सकता है? और, प्रबन्ध के विषय में भी यह कैसी प्रवंचना?—एक ही प्रसिद्ध कथा में विभिन्न युगों के कवियों द्वारा अपनी-अपनी युग-चेतना या व्यक्ति-चेतना के अनुसार नवीन रस तथा नवीन रूप का समावेश वर्तमान के आग्रह के कारण ही तो होता है। प्रत्येक समर्थ कवि अतीत कथा को वर्तमान में ही अनुभूत कर काव्य में परिणत करता है और इस भावन-प्रक्रिया में 'अनुभूति' का—अर्थात् अतीत कथा के साथ तात्कालिक तादात्म्यमय सम्पर्क का—जो 'क्षण' आता है, वही उसकी नवीनता या मौलिकता का निर्णय करता है; शास्त्रीय शब्दावली में वहीं इस नवीन काव्य के अंगी रस

की भी सिद्धि हो जाती है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही कथा पर आश्रित विभिन्न युगों में अनेक काव्यों की भिन्नता का आधार होता है अंगी रस, यह अंगी रस प्राय: अतीत कथा के विषय में प्रत्येक कवि की अपनी युग-चेतना का प्रतीक होता है और कवि की यह युग-चेतना क्या है ?—अतीत कथा के साथ कवि के तात्कालिक तादात्म्य की अनुभूति, और कुछ नहीं। नये कवि का मत शायद यह है कि रससिद्ध कवि अतीत (कथा) का अतीत के रूप में ही प्रयोग करता था—वह स्वयं अतीत में ही जीकर उसकी अनुभूति करता था परन्तु यह प्रत्येक के विषय में सत्य नहीं माना जा सकता; रससिद्ध कवि भी प्राय: अपने वर्तमान में ही अतीत की जीवन्त अनुभूति करता है। वाल्मीकि ने रामकथा की अपने 'वर्तमान' में ही सामयिक अनुभूति की थी, तुलसी ने मध्ययुग में और माइकेल मधुसूदन ने आधुनिक युग में—प्रत्येक ने अतीत की सामयिक अनुभूति ही की थी, तभी तो तीनों के काव्यों की आधार-चेतना भिन्न है; तीनों ही रसात्मक काव्य हैं, परन्तु प्रत्येक कवि की अपनी सामयिक अनुभूति के अनुसार तीनों के आधारभूत रसों में परिवर्तन हो गया है। द्विवेदी-युग के संस्कारी कवि ने महाभारत की अतीत कथा में अपनी वर्तमान अनुभूति के अनुसार अधर्म के विरुद्ध धर्म की विजय की प्रतीति की, और नये कवि को महाभारत का युग 'अन्धा' प्रतीत हुआ। यह तो हुई कवि की दृष्टि की बात—सहृदय की दृष्टि से भी रस तत्काल से विच्छिन्न नहीं हो सकता, उसे शास्त्र में 'सद्यःपरनिर्वृति' ही माना गया है।

अब रह जाती है रस में आत्म-विलयन की समस्या। यह ठीक है कि रसानुभूति की स्थिति में आत्म-विलयन आवश्यक माना गया है। परन्तु इस विषय में भी दो तथ्य ज्ञातव्य हैं—एक तो आत्म-विलयन रस की केवल परिपाक-अवस्था का ही लक्षण है प्रत्येक अवस्था का नहीं और दूसरे आत्म-विलयन केवल रस-दशा का ही नहीं तादात्म्य एवं आनन्द की प्रत्येक दशा का लक्षण है; सह-अनुभूति में भी तीव्रता आते ही विवेक और व्यक्ति-चेतना का लोप हो जाता है; जहाँ नहीं हो पाता वहाँ अनुभूति की क्षीणता बाधक होती है, पर रस-चक्र में उसके लिए भी स्थान है। इसलिए रसानुभूति और सह-अनुभूति में भेद नहीं है भेद का आभास मात्र है और सह-अनुभूति रसानुभूति से भिन्न नहीं वरन् प्राय: उसकी पूर्वदशा ही होती है। पहले पाठक कवि के साथ सह-अनुभूति ही करता है; फिर, चूँकि कवि की अनुभूति प्राय: पाठक की अनुभूति से प्रबलतर होती है, अत: पाठक की अनुभूति का उसमें विलय हो जाता है।

रस-सिद्धान्त के साथ नयी कविता के विरोध का अन्तिम और सबसे प्रबल आधार है उसकी बौद्धिकता। नये कवि का दावा है कि उसका युग अतिशय बौद्धिकता का युग है। अपने पूर्ववर्ती बिम्बवादी कवि की तरह वह भावना से घृणा तो नहीं करता, लेकिन भावना के तारल्य और आर्द्रता का उसकी दृष्टि में विशेष मूल्य नहीं है। वह शायद यह मानता है कि इच्छा और उसके विविध रंजित रूप स्वच्छन्दतावाद की रंगीनी के साथ तो मेल खा सकते हैं, किन्तु नयी कविता का दृष्टिकोण तो मूलत: स्वच्छन्दतावाद का विरोधी है। वह एक ऐसे युग की कविता है जिसमें इच्छा ही मर गयी है, अत: भावों और सपनों से अब उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा; उसका दृष्टिकोण आज की परिस्थिति के अनुकूल

आलोचनात्मक, वस्तुपरक एवं व्यंग्य-प्रधान हो गया है। इस विषय में हमारा निवेदन है कि रस-सिद्धान्त का बुद्धि-तत्त्व के साथ उतना विरोध नहीं है जितना कि नयी कविता के समर्थक समझते हैं। जैसा कि हम यथास्थान स्पष्ट कर चुके है, यथार्थ-चित्रण में भी रस होता है, और, व्यंग्य का रस से क्या विरोध ?—उसमें तो करुणा, हास्य, अमर्ष आदि भावों की सत्ता निश्चित रूप से रहती है, जो मूलतः मानवीय संवेदना पर आश्रित होते हैं। दूसरे, हृदय-तत्त्व की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता भी तो नयी कविता का सर्व-स्वीकृत लक्षण नहीं है। विदेश में रिचर्ड्स ने इलियट की कविता का मूल-तत्त्व राग ही माना है और ऐजरा पाउण्ड की कविता के व्याख्याता ने भी राग-तत्त्व की महत्ता का स्पष्ट शब्दों में उद्घोष किया है—"कविता एक प्रकार की सम्प्रेरित गणित-विद्या है जिससे हमें अमूर्त अंकों, त्रिभुजों और वृत्तों आदि के नहीं वरन् मानव-भावनाओं के सम्बन्ध-सूत्र प्राप्त होते हैं।"[1] आज ये नये कवि (इलियट और ऐजरा पाउण्ड) पुराने पड़ गये हैं, परन्तु नयी कविता के प्रवर्तन में इनका योगदान अक्षुण्ण है और रहेगा। हिन्दी में 'अज्ञेय' नयी कविता में मानवीय अनुभूति या रागबन्ध के सबसे प्रबल समर्थक है, और दूसरे प्रमुख कवि गिरिजाकुमार माथुर की तो कविता की समृद्धि का आधार ही रागात्मकता है। बुद्धि-तत्त्व को रेखांकित करने वाले जगदीश गुप्त ने स्वयं कविता के प्रसंग में बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा मानवीय सह-अनुभूति, संवेदना आदि का ही उल्लेख बार-बार किया है। इस प्रकार रस के बन्धन से मुक्त होने के लिए नयी कविता के प्रायः समस्त प्रयास विफल हो जाते है, जहाँ कहीं कोई प्रयास सफल हो जाता है वहीं कवि की बौद्धिक सफलता के साथ एक दुर्घटना भी घटती है—और वह यह कि कविता अकविता बन जाती है। वास्तव में नयी कविता का भी कल्याण इसी में है कि वह इन रसमय बन्धनों को स्वीकार कर ले और इसमें उसे इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। चालीस वर्ष पूर्व छायावाद ने भी रस का विरोध किया था, पर आज रस ही उसका प्राण-सर्वस्व है; उसके प्रायः दो दशक बाद प्रगतिवाद ने उस पर प्रहार किया था, किन्तु आज उसका जितना भी अंश अवशिष्ट है वह रस के आधार पर ही जीवित है।

रस तथा विभिन्न काव्य-मूल्य

विश्व के काव्यशास्त्र के इतिहास में, यों तो प्रत्येक काव्य-सिद्धान्त या काव्य-वाद के साथ उसके भजनफल के रूप में एक नये काव्य-मूल्य का जन्म होता रहा है, फिर भी अब तक उपलब्ध इन काव्य-मूल्यों को हम सामान्यतः दो व्यापक वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आनन्दवादी मूल्य (२) कल्याणवादी मूल्य। आनन्दवादी मूल्यों का आधार यह है कि काव्य का चरम प्रयोजन आनन्द है। इनके अन्तर्गत आनन्द-विषयक धारणाओं के अनुसार कतिपय सूक्ष्म भेद मिलते है। काव्य-चिन्तकों का एक वर्ग आनन्द को आत्मविश्रान्ति का पर्याय मानता है—यह वर्ग आत्मा की सत्ता मे विश्वास करता है और यह मानता है कि काव्य का प्रयोजनभूत आनन्द आत्मानन्द का ही एक प्रकार है। भारतवर्ष में अभिनव तथा जगन्नाथ आदि आचार्य और यूरोप के प्राचीन विद्वानों में प्लोटिनस आदि, नयों में काण्ट,

[1] पोइट्री ऑफ़ ऐज़रा पाउण्ट—कैनर, पृ० ५७

हीगेल, कॉलरिज और इधर प्रतीकवादी कवि-विचारक प्राय: इसी मत के समर्थक हैं। आनन्दवादियों का दूसरा वर्ग काव्यानन्द को आत्मास्वाद न मानकर मानसिक भूमिका पर ही प्रतिष्ठित करता है। इनके अनुसार काव्यानन्द निश्चय ही एक पार्थिव अनुभूति है, किन्तु यह अनुभूति सामान्य पार्थिव आनन्द-रूपों, विषयानन्द के विभिन्न रूपों, की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-गम्भीर एवं परिष्कृत होती है क्योंकि इसमें स्वार्थ-चेतना का सर्वथा अभाव होता है, और इसलिए इसका रूप उनकी अपेक्षा उदात्त एवं अवदात होता है। हमारा विचार है कि प्राचीन आचार्यों में भरत तथा लोल्लट—और शायद भामह, उद्भट तथा वामन और जैन-आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि का, उधर पाश्चात्यों में अरस्तू का यही मत था; आधुनिक युग के सभी आनन्दवादी भी इसी में विश्वास करते हैं। आनन्दवादियों का एक तीसरा वर्ग भी है जो काव्यानन्द को अलौकिक—अर्थात् आध्यात्मिक तथा ऐन्द्रिय दोनों प्रकार की अनुभूतियों से विलक्षण मानता है। भारतीय आचार्यों में दण्डी, कुन्तक तथा अधिकांश रस-वादियों का और पश्चिम में लांजाइनस, शिलर, शैले आदि का यही मत है।

उन्नीसवीं शती में इसी विचारधारा के अन्तर्गत यूरोप में आलोचकों का एक और वर्ग उठ खड़ा हुआ जो मानता था कि कला अपना प्रयोजन आप ही है—सामान्य लौकिक प्रयोजनों का तो उसने निषेध किया ही, आनन्द को भी प्रयोजन-रूप में स्वीकार नहीं किया। कला और सौन्दर्य इन आलोचकों के मत से पर्याय हैं, अत: इनकी साहित्य-चेतना का आधार है सौन्दर्य—सौन्दर्य जो सभी प्रकार की नैतिक परिभाषाओं से मुक्त स्वत:पूर्ण एवं स्वायत्त होता है : काव्य का एकमात्र प्रयोजन वही है। परन्तु जैसा कि हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं, सौन्दर्य का अन्तर्भाव वस्तुत: आनन्द में ही हो जाता है, सौन्दर्य प्रयोजन नहीं हो सकता या कम-से-कम अन्तिम प्रयोजन नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं सौन्दर्य का भी प्रयोजन आनन्द ही है।—कला के ये आनन्दवादी मूल्य और इनके विभिन्न रूप रस-सिद्धान्त में सहज स्वीकृत हैं। रस के आधारभूत आनन्द की व्याख्या विभिन्न रूपों में होती आयी है, किन्तु ये भेद केवल दृष्टिकोण के भेद पर आश्रित हैं और यह विभिन्नता उसके स्वरूप की व्यापकता का ही प्रमाण है।

कल्याणवादी मूल्यों का आधार यह अतर्क्य विश्वास है कि काव्य और कला का प्रयोजन मानव-कल्याण ही है। यहाँ भी मानव-कल्याण की परिभाषाओं के भेद के अनुसार कल्याणवादी मूल्यों के अनेक भेद मिलते हैं। कल्याण का एक रूढ़ और सीधा अर्थ नैतिक या धर्मपरक है : **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।** धर्म वह है जिसके द्वारा मानव का पार्थिव और पारमार्थिक कल्याण हो। कलाविदों का एक वर्ग कला के मूल्य की कसौटी इसे ही मानता है : प्लेटो, होरेस, मिल्टन, रस्किन आदि का यही मत है जो समष्टिवादी नैतिक मूल्यों पर आधृत है। दूसरा अर्थ अपेक्षाकृत व्यापक है—यह मानव के सुख-दुःख, शक्ति और दुर्बलता पर आश्रित करुणामूलक मानवीय मूल्यों के अनुसार कल्याण के स्वरूप को आँकता है। इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं टालस्टाय। कल्याण का तीसरा अर्थ है भौतिक उत्कर्ष जो सामाजिक मूल्यों पर आधृत है। यह कल्याण की मार्क्सवादी परिभाषा है। इनके अतिरिक्त कल्याण के दो अर्थ और भी हैं—एक सांस्कृतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक।

सांस्कृतिक अर्थ का आधार भी नैतिक मूल्य ही हैं, किन्तु वे व्यावहारिक उपयोगिता तक ही सीमित न रहकर चेतना के परिष्कार और व्यक्तित्व के उत्कर्ष पर अधिक बल देते हैं। वृत्तियों के संयमन और दमन की अपेक्षा सांस्कृतिक मूल्यों का लक्ष्य उन्नयन एवं संस्कार पर केन्द्रित रहता है, विधि-निषेध की अपेक्षा सहज अभिव्यक्ति एवं विकास में उनका अधिक विश्वास रहता है। अंगरेज़ आलोचकों में मैथ्यू आर्नल्ड और हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य के सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक हैं। मनोवैज्ञानिक अर्थ मूलतः व्यक्ति के सन्दर्भ में और व्यापक रूप में सामाजिक सन्दर्भ में भी घटित होता है। इसके अनुसार 'मूल्य' का आधार है अन्तर्वृत्तियों का परितोष और कला की सही कसौटी है अन्तर्वृत्तियों के समंजन की क्षमता : रिचर्ड्स इस सिद्धान्त के उद्भावक हैं।—कहने की आवश्यकता नहीं कि रस-सिद्धान्त का इन कल्याणवादी मूल्यों के साथ पूर्ण सामंजस्य है। उसमें भी जिस आनन्द की कल्पना की गयी है वह व्यष्टि और समष्टि के कल्याण पर ही आधृत है। रसाभास के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि रस-कल्पना लोक और शास्त्र की मर्यादा में पूर्णतः आबद्ध है, प्रकृति और आचार के नियम ही आनन्द के स्वरूप का निर्माण करते हैं—उनसे परे आनन्द की सत्ता नहीं मानी गयी। इस प्रकार रस की कल्पना नैतिक कल्पना है, लोक और शास्त्र का औचित्य ही उसका उपनिपद् है। 'रामादि के समान व्यवहार करना चाहिए रावणादि के समान नहीं'—धर्माधर्म का यह विवेक काव्य का स्वीकृत फल है जो विधि-निषेध के रूप में नहीं—प्रीति के माध्यम से प्राप्त होता है और अन्ततः जिसके द्वारा काव्य-रस की पोषणा एवं सिद्धि होती है। जीवन के परमार्थों की सिद्धि काव्य में रस के माध्यम से ही मानी गयी है। इनके अन्तर्गत व्यक्ति और समाज दोनों की कल्याण-भावना निहित है। इसी प्रकार, मानव-संवेदना तथा अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य पर आधृत कल्याण की धारणाएँ भी रस-कल्पना में सहज अन्तर्भुक्त हैं : रागात्मिका वृत्ति रस का मूल आधार है, समष्टि-भावना या साधारणीकृति उसके परिपाक का साधन है और चित्त की समाहिति ही उसकी परिणति है। अतएव रस-सिद्धान्त में आनन्द-वादी मूल्यों तथा कल्याणवादी मूल्यों का द्वन्द्व मिट जाता है। अपने सहज रूप में यह सभी प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त है : एक ओर जहाँ यह आनन्द की हीनतर अवस्थाओं—मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, ऐन्द्रिय-सुख आदि से ऊपर है तो दूसरी ओर कल्याण की क्षुद्र, उपयोगितावादी अथवा नैतिकता की विधि-निषेध-मूलक सीमाओं से परे है। यह सिद्धान्त, वास्तव में, सांस्कृतिक भूमिका पर या उससे भी गहरी शुद्ध मानवीय भूमिका पर प्रतिष्ठित है जो आनन्द और कल्याण का मिलन-तीर्थ है, जहाँ नैतिक एवं सांस्कृतिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक, भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में अविरोध मिलता है।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान

रस-सिद्धान्त का विकास और प्रसार निर्विघ्न नहीं रहा। प्रायः आरम्भ से ही समय-समय पर उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप होते रहे हैं। उन आक्षेपों का सार-संग्रह इस प्रकार है :

१. रस को जागतिक अनुभूतियों से सर्वथा विलक्षण—अलौकिक तथा ब्रह्मास्वाद-सहोदर माना गया है। मध्ययुग में इस प्रकार की कल्पना सम्भव थी, परन्तु आज के मनोवैज्ञानिक युग में वह कैसे ग्राह्य हो सकती है? मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्येक अनुभूति का निर्वचन सम्भव है—फिर रस ही अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है?

२. रस-सिद्धान्त का पूरा बल भाव पर ही रहता है; परिणामतः काव्य के अन्य रूपों के साथ न्याय नहीं हो पाता जो पाठक की कल्पना को चमत्कृत या उसके विचारों को उद्दीप्त कर अथवा शब्द-अर्थ में कलात्मक चमत्कार उत्पन्न कर अपनी सार्थकता सिद्ध करते हैं। प्राचीन युग में अलंकार, रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त इसी तर्क के आधार पर उठ खड़े हुए थे और वर्तमान युग में अनेक आलोचकों ने भी नवीन शब्दावली में इसी आक्षेप की आवृत्ति की है। उनका तर्क यह है कि काव्य के अनेक प्रयोजन हैं—भाव के उद्‌बोध की अपेक्षा पाठक के मन में सुन्दर बिम्ब की उद्‌बुद्धि या नवीन शब्दार्थ-बोध आदि भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आज के बुद्धि-प्रधान जीवन में हमारी अनुभूतियाँ शुद्ध रागात्मक नहीं रह गयी हैं, उनमें विचारसूत्र अनिवार्यतः गुँथे रहते हैं। अतः काव्य में भी आज बौद्धिक अनुभूतियों का ही प्राधान्य हो गया है। रस-सिद्धान्त में सौन्दर्य-बोध के इन नवीन रूपों के उचित मूल्यांकन की व्यवस्था नहीं है।

३. रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों की बँधी हुई संख्या है जो काव्यवस्तु की परिधि को सीमित कर देती है। मानव-मन तो अथाह सागर के समान है जहाँ असंख्य लहरें निरन्तर उठती-गिरती रहती हैं। उन्हें नौ या ग्यारह स्थायी भावों और तैंतीस संचारियों में सीमित कर देना सर्वथा असंगत है। युग-युग के काव्य में व्यक्त मानव-चेतना की असंख्य तरल-चटुल, गुरु-गम्भीर तथा परस्पर संकीर्ण वृत्तियाँ न रस की पारिभाषिक शब्दावली में बँध सकती हैं और न उनके साथ न्याय हो सकता है। विश्व के काव्य का—स्वयं भारतीय भाषाओं के आधुनिक काव्य का, जो रस-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में नहीं लिखा गया, पर्याप्त अंश ऐसा है जिसमें रस-निर्णय करना सम्भव ही नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि हेमलेट या गोदान का, कुरुक्षेत्र या वेस्टलैंड का अंगी रस क्या है? इसका कारण यह है कि आदिम वासनाओं पर ही आधृत होने के कारण रस-सिद्धान्त अपर्याप्त है। अवचेतन मन के रहस्य-लोक का उद्‌घाटन हो जाने पर तो उसकी अपर्याप्तता और भी बढ़ गयी है। निरन्तर विकसनशील मानव-चेतना और उसकी बढ़ती हुई जटिलताओं के लिए इसमें कोई व्यवस्था नहीं है।

४. रस की सिद्धि के लिए एक परिपूर्ण काव्य-विधान की अपेक्षा रहती है जो

काव्य के प्रबन्ध-रूपों के अतिरिक्त अन्यत्र प्रायः कठिन ही होता है। भारतीय मुक्तक की कल्पना भी प्रबन्ध के लघुतम रूप में ही की गयी है, अतः वहाँ भी यह विधान बैठ जाता है। किन्तु ऐसे भी अनेक छन्द या सूक्तियाँ मिलती हैं जहाँ कोई अत्यन्त सूक्ष्म भाव-गन्ध या अत्यन्त तरल अनुभूति-चित्र ही कवित्व का सार-सर्वस्व होता है। वहाँ रस की सिद्धि कैसे मानी जा सकती है ?

५. रसों के विरोध और अविरोध की स्थिर धारणाओं के कारण रस के क्षेत्र का और भी अधिक परिसीमन हो गया है। मानव-चेतना और उसकी अभिव्यक्तियाँ अन्तर्विरोधों का पुंज हैं। जीवन का चित्र जितना अधिक प्रबल एवं परिपूर्ण होगा उसमें अन्तर्विरोध उतने ही अधिक होंगे—और, कवि तथा काव्य के विषय में भी यही सत्य है। भारतीय वाङ्मय में महाभारत और पाश्चात्य वाङ्मय में शेक्सपियर का नाट्य-साहित्य अपनी समग्रता में जीवन के अनन्त अन्तर्विरोधों को समेटे हुए है। वास्तव में वहाँ तो काव्य का गौरव ही इन प्रबल अन्तर्विरोधों के कारण उभरता है। रस-सिद्धान्त की कसौटी पर तो यह महत्त्व दोष बनकर रह जाएगा।

६. रस-सिद्धान्त की एक बड़ी सीमा यह है कि वह रस को केवल सहृदयनिष्ठ मानकर चलता है जिसके कारण कविगत रस और काव्यगत रस की सर्वथा उपेक्षा हो जाती है। परिणामतः जहाँ किसी प्रकार के पूर्वग्रह आदि के कारण सहृदय की ग्रहण-शक्ति बाधित हो जाती है वहाँ सरस काव्य का भी उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यह भी सदा आवश्यक नहीं होता कि काव्य या नाट्यगत स्थायी भाव और सहृदय के स्थायी भाव में सर्वत्र तादात्म्य ही हो—कभी-कभी दोनों में केवल असंगति ही नहीं, विरोध तक उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए एक ऐसा दृश्य लीजिए जहाँ नायक-नायिका किसी निबिड़ जंगल में नर-मांस-भक्षण का दृश्य देखते हों। इस परिस्थिति में नायक के हृदय में (यदि वह वीर पुरुष है) क्रोध, नायिका के हृदय में भय और प्रेक्षक या पाठक के चित्त में जुगुप्सा का ही उदय होगा।[1] इस प्रकार काव्य में वर्णित स्थायी भाव के साथ सहृदय के स्थायी भाव का तादात्म्य न होने से रस का परिपाक कैसे होगा ? रस-सिद्धान्त की यह एक अत्यन्त स्पष्ट विसंगति है।

७. रस की अभिव्यक्ति मानना संगत नहीं है।—रस का अर्थ यदि काव्यास्वाद है तो उसकी प्रायः निर्मिति ही होती है। रस या काव्यास्वाद किसी एक भाव की शुद्ध एवं अमिश्र अनुभूति न होकर अनुभूतियों का एक विधान ही होता है, जिसका उद्बोध न होकर निर्माण ही सम्भव है। अतः रस-सिद्धान्त, जिसके अनुसार वासना रूप से स्थित किसी एक स्थायी भाव के अभिव्यक्त रूप का ही नाम रस है, काव्यास्वाद के सच्चे स्वरूप का निरूपण नहीं करता।

८. आत्मवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित होने के कारण रस-सिद्धान्त स्थायी मूल्यों का ही आधार लेकर चलता है। किन्तु, वर्तमान जीवन में तो स्थायित्व की भावना

---

[1] देखिए, श्री नर्डेकर का मत : आधुनिक हिन्दी तथा मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ० २८४

का ही पूर्णतः विघटन हो गया है। आज तो परिवर्तन ही सत्य है जिसमें केवल क्षण की ही सत्ता स्वीकार्य हो सकती है। अतः आज की कविता केवल अनुभूयमान क्षण की ही अभिव्यक्ति कर सकती है। इसके विपरीत रस की सिद्धि के लिए स्थायी भाव का संस्कार अनिवार्य होता है—भाव की सद्यःअनुभूति अथवा अनुभूयमान रूप के निरूपण का आस्वाद रस नहीं हो सकता। इसलिए समसामयिक कविता के सही मूल्यांकन के लिए रस-सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है।

६. रस-सिद्धान्त में आनन्द पर, विशेषकर आनन्द की सिद्धावस्था पर, अनावश्यक बल दिया जाता है। काव्य के अन्य भव्यतर प्रयोजन, जैसे चारित्र्य का निर्माण, सत्कर्म में प्रवृत्ति, चेतना का उत्कर्ष आदि उपेक्षित हो जाते हैं और रंजन पक्ष प्रमुख बन जाता है। बलाबल के इस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विपर्यय से काव्य और जीवन दोनों की क्षति हो सकती है और हुई है।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध प्रायः ये अथवा इसी प्रकार के आक्षेप किये गये हैं और किये जा रहे हैं। इनमें से अनेक का समाधान हम विभिन्न प्रसंगों के विवेचन में कर चुके हैं; फिर भी सत्यासत्य का सम्यक् रूप से निर्णय करने के लिए अन्त में, एक बार फिर, इन पर विचार करना उपादेय होगा।

पहला आक्षेप रस की ब्रह्मानन्दसहोदरता को लेकर किया जाता है—यह सबसे सरल और बहुचर्चित आक्षेप है जिसका प्रयोग रस की मान्यता के विरुद्ध कोई भी किसी समय कर सकता है। इसका उत्तर हम इसी परिच्छेद में दे चुके हैं। ब्रह्मानन्दसहोदर विशेषण केवल इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि रसानुभूति सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है, वह भावों के साधारण सुख-दुःखात्मक अनुभव से भिन्न है, रागद्वेष से मुक्त होने के कारण उसका स्वरूप सामान्य विषयानुभूति की अपेक्षा अत्यन्त उदात्त और अवदात होता है। अद्वैतवादी आचार्यों ने केवल रस की ही नहीं आनन्द के प्रत्येक रूप की कल्पना ही आत्मानन्द के संदर्भ में की है, क्योंकि आनन्द अद्वैत दर्शन के अनुसार केवल आत्मा का ही 'स्व-रूप' है, मन तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं। अपने अत्यन्त सूक्ष्म-परिष्कृत रूप के कारण काव्य का आनन्द विषयानन्द से दूर और आत्मानन्द के निकट है—ब्रह्मानन्दसहोदर का अर्थ केवल इतना ही है। यदि आपकी आत्मा में आस्था नहीं है तो आप चेतना शब्द का प्रयोग कर सकते हैं और रस को चेतना की समाहिति मान सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'ब्रह्मानन्दसहोदर' विशेषण एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली का पारिभाषिक शब्द है—उसे केवल ऐतिहासिक सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिए और आज का प्रमाता यदि ब्रह्म अथवा आत्मा की धारणा को ग्रहण या स्वीकार नहीं कर सकता तो इस शब्द का आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावली में आख्यान कर लेना चाहिए। मैं स्वयं रस को आत्मानन्द के सन्दर्भ में ग्रहण नहीं करता; इसलिए नहीं कि आत्मा के अनस्तित्व के विषय में मैं सर्वथा आश्वस्त हो गया हूँ, वरन् इसलिए कि आत्मानन्द की धारणा उलझी और विवादग्रस्त है जबकि रस के विषय में मेरी या प्रत्येक सहृदय की अनुभूति सर्वथा असंदिग्ध है। अतः मैं रसशास्त्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली—सत्त्वोद्रेक, आत्मविश्रान्ति, ब्रह्मानन्दसहोदर

आदि—का विवेक-सम्मत अर्थ ही ग्रहण करता हूँ—करना चाहता हूँ। जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों की धारणाएँ देशकाल-परिबद्ध और व्यक्ति-सीमित न होकर विकासशील ही होती हैं, इसी रूप में वे सार्वभौम एवं शाश्वत हो सकती हैं। केवल रस-सिद्धान्त का ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र का यह दुर्भाग्य रहा है कि जिसने उसे पढ़ा और समझा है वह प्राचीन धारणाओं को एकदम रूढ़ मान बैठा है और जिसने कभी पढ़ने और समझने का प्रयत्न नहीं किया वह कुछ उड़ती हुई बातों को लेकर अनर्गल आलोचनाएँ कर रहा है।

दूसरे आक्षेप का उत्तर, ध्वनि और अलंकार के साथ अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित कर, रस-सिद्धान्त आज से एक सहस्राब्द पूर्व दे चुका है। काव्य में ध्वनि की प्रतिष्ठा वस्तुतः कल्पना-तत्त्व की प्रतिष्ठा है और अलंकार भी बिम्ब-विधान का ही पर्याय है। इनमें से ध्वनि तो रस का अनिवार्य माध्यम है ही, अलंकार भी उपेक्षणीय नहीं है—और इसका प्रमाण यह है कि प्रबल से प्रबल रसवादी आचार्य ने भी अपने शास्त्र-ग्रन्थ में अलंकार का सविस्तार वर्णन किया है। उसने रस को काव्य का जीवित मानते हुए भी वाग्वैदग्ध्य के महत्त्व को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इस प्रकार बुद्धि-तत्त्व का भी रस के विधान में त्याग नहीं किया गया : उत्कृष्ट कोटि के सरस काव्य के लिए भाव-वैभव के साथ-साथ अर्थ-गौरव की भी अपेक्षा अनिवार्यतः रही है। अतः कल्पना और विचार को रस-सिद्धान्त में अस्वीकृत नहीं किया गया; शर्त केवल इतनी है कि ये दोनों ही अनुभूति का विषय बनकर आने चाहिए। अनुभूत कल्पना और अनुभूत विचार रस के अंग बन जाते हैं और केवल कल्पना या केवल विचार अर्थात् अननुभूत कल्पना और विचार तो काव्य के ही विषय नहीं रहते।—रस-सिद्धान्त में अगर उनके लिए स्वतन्त्र स्थान नहीं है, तो उसका क्या दोष ? वास्तव में अपने व्यापक अर्थ में रस सौन्दर्य का ही पर्याय है, सौन्दर्य अपने तत्त्व रूप में रमणीय अर्थ-बोध का ही नाम है—और रमणीय वह है जिसमें सहृदय का चित्त रमण करे अर्थात् जो उसकी आनन्द-चेतना का विषय हो। इस प्रकार सौन्दर्य की कल्पना रस के बिना नहीं हो सकती—सुन्दर और सरस में भेद नहीं किया जा सकता।

रस-संख्यान से सम्बद्ध आक्षेप विषय के अल्पबोध पर ही आश्रित है। हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि संख्या का प्रश्न रस-सिद्धान्त का अत्यन्त गौण विषय है। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश आचार्यों ने रस-भावादि की निश्चित संख्या को ही स्वीकार किया है, परन्तु यह विषय अन्त तक विवादास्पद ही रहा है और संख्या को बढ़ाने-घटाने के प्रयत्न निरन्तर चलते रहे हैं। साथ ही यह आवाज़ भी बराबर उठती रही है कि रसों और भावों की संख्या का परिसीमन अधिक संगत नहीं है—प्रत्येक भाव से यहाँ तक कि सात्त्विक भाव से भी रस की सिद्धि सम्भव है। उधर रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भाव-सन्धि, भाव-शबलता आदि का भी रस में अन्तर्भाव होने से यह सर्वथा निश्चित हो जाता है कि रस-सिद्धान्त रसों और भावों की 'बँधी हुई संख्या' का क़ायल नहीं है। सामान्य सिद्धान्तों और विषयों का निर्धारण करना प्रत्येक शास्त्र का कर्तव्य-कर्म है और उसके लिए वर्गीकरण आदि की प्रणाली, नाम-रूप-संख्या आदि का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। कभी किसी शास्त्रकार ने भेद-प्रस्तार या गणना को एकान्त निश्चित एवं अन्तिम नहीं माना—जब कभी

भेद-वर्णन का प्रसंग आया है, संस्कृत के आचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि ये भेद उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् ईदृक्ता के ही द्योतक हैं, इयत्ता के नहीं। ऐसी स्थिति में बँधी हुई संख्या और लीक का आरोप दुहराते रहना या तो दुराग्रह का द्योतक है या अल्प-बोध का। अतः हेमलेट या गोदान में कौनसा रस है, यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि परम्परा-निष्ठ रसवादी के लिए हेमलेट या वेस्टलैण्ड, गोदान या शेखर—किसी में भी नियम के अनुसार रस-निर्णय करना कठिन नहीं है, फिर भी समस्या का समाधान हम यह नहीं मानते। शेखर में कौन-सा रस है, यह प्रश्न ही रूढ़िवादी दृष्टिकोण का परिचायक है और इसका उत्तर भी उसी दृष्टिकोण से तुरन्त दिया जा सकता है। परन्तु हम तो प्रश्न और उत्तर दोनों को ही महत्त्वहीन मानते हैं—रस-सिद्धान्त का गौरव यह सिद्ध करने में नहीं है कि इन ग्रन्थों का अंगी रस कौन-सा है, वरन् यह सिद्ध करने में है कि इनमें से प्रत्येक की आस्वाद्यता का मूल आधार रस अथवा रागात्मक प्रभाव या अनुभूति की समृद्धि ही है।

उपर्युक्त समाधान में अगले आक्षेप का उत्तर भी अन्तर्भूत है। रस केवल परिपाक-अवस्था का ही नाम नहीं है। यह कहीं नहीं कहा गया कि रसवत्ता के लिए सर्वत्र रस का पूरा परिकर ही प्रस्तुत रहना चाहिए: व्यभिचारी भाव के नहीं केवल अनुभाव के चित्रण से भी रस की सिद्धि हो जाती है: जो अवयव वर्णित नहीं हैं उनका आक्षेप हो जाता है। विभावादि के विधान पर रसशास्त्र में बल इसलिए दिया गया है कि उनकी प्रच्छन्न या प्रकट सत्ता के आधार के बिना भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं है अनुभूति तो दूर की बात रही। भाव की निराधार या निरपेक्ष सत्ता रसशास्त्र में ही नहीं मनोविज्ञान में भी सर्वथा अमान्य है और आधुनिक मनोविज्ञान तो भाव की स्वतन्त्र कल्पना के विषय में और भी शंकालु होता जा रहा है। मराठी के रसवादी आलोचकों ने इसी आक्षेप का प्रतिवाद करने के लिए भाव से भी सूक्ष्मतर 'भाव-गन्ध' की कल्पना की है। रस-सिद्धान्त में और भी आगे बढ़ने का अवकाश है: रस का स्थायी धर्म है गुण जो चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्याप्ति आदि अवस्थाओं का वाचक है। अतः ऐसी उक्ति भी जहाँ भाव का स्वरूप स्पष्ट न हो, जो केवल चित्त का स्पर्श ही करती हो, सिंहद्वारों पर स्थापित विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की दृष्टि बचाकर अनुभूति के मन्त्रबल से रसचक्र में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। एक उदाहरण देकर मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट करना चाहता हूँ—

सोन-मछली

हम निहारते रूप,
काँच के पीछे
हाँप रही है मछली।
रूप-तृषा भी
(और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

'अज्ञेय' की यह कविता नयी कविता है और सुन्दर भी। इसके आकर्षण का रहस्य क्या है? सुन्दर बिम्ब? हाँ, इन पंक्तियों द्वारा प्रमाता की कल्पना में उद्बुद्ध बिम्ब

निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है। काँच के पीछे अपनी प्राण-रक्षा के लिए जल में थिरकती हुई, सोन-मछली का चित्र एकदम आँखों के सामने नाच उठता है—चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति मानो 'जिजीविषा' शब्द के वलयित उच्चारण के साथ शब्द-मूर्त हो जाती है। इतने कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना निश्चय ही सधे हुए कलाकार का काम है। परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या यह शब्द-चित्र ही इस कविता की अन्तिम सिद्धि है ? क्या प्रस्तुत शब्द-चित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना, जो केवल मानव-चेतना को ही वरदान रूप में प्राप्त है, इसकी चरम सिद्धि नहीं है ? बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है पर उस बिम्ब को जीवन्त करने वाला तत्त्व तो मानव-चेतना का स्पर्श ही है, और उसी का नाम रस है।

एक अन्य आक्षेप रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध को लेकर किया गया है। इसकी मूल ध्वनि यह है कि रस-सिद्धान्त में भावों का परस्पर सम्बन्ध सर्वथा निश्चित मान लिया गया है; परिणामतः अपनी दृढ़ता में रस-प्रक्रिया इतनी सरल और सुलझी बन जाती है कि अन्तश्चेतना की उलझनों और गुत्थियों के लिए उसमें अवकाश नहीं रह जाता। हमारा निवेदन है कि यह आक्षेप भी अल्पज्ञान का ही प्रमाण है। जैसा कि हम यथाप्रसंग स्पष्ट कर चुके हैं, रस-सिद्धान्त में रसों के परस्पर विरोध-रूपों के विवेचन के साथ-साथ उनके शमन का भी अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। और, शमन के ये उपाय इतने अधिक एवं विभिन्न हैं कि मानसिक जीवन के सभी प्रकार के सहज अन्तर्विरोध उनमें समाहित हो जाते हैं। केवल एक रस के सन्दर्भ में ही विचार करें तो भी रस-प्रक्रिया पर सरलता का आरोप संगत नहीं है, क्योंकि शृंगार जैसे रस के वृत्त में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और परस्पर विरुद्ध प्रायः सभी भावों का मुक्त संचरण शास्त्र-सम्मत माना गया है। शेक्सपियर के जिन नाटकों की दुहाई देकर अंग्रेज़ी के विद्वानों ने रस-सिद्धान्त पर प्रस्तुत आक्षेप किया है उनमें भी ऐसा प्रसंग शायद ही हो जहाँ भावों के विरोध का, रसशास्त्रीय नियमों के अनुसार, परिहार न हो सके। और, यदि कहीं ये नियम लागू नहीं होते तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता—क्योंकि एक तो विरोध-कल्पना रस-सिद्धान्त का मौलिक अंग नहीं है और दूसरे यह स्थिर न रहकर काव्य के विकास के साथ-साथ विकासशील रही है, अर्थात् इसमें समय-समय पर आवश्यक संशोधन भी होते रहे हैं। वस्तुतः रस-संख्यान की भाँति रस-विरोध की कल्पना भी रस-सिद्धान्त की आनुषंगिक सिद्धि मात्र है, यद्यपि उसी की भाँति इसका भी मनोवैज्ञानिक आधार अपने आप में काफ़ी पुष्ट है।

रस को केवल सहृदयनिष्ठ मान लेने से रस-कल्पना में काव्यगत रस और कवि की रस-चेतना की उपेक्षा की गयी है—इस आक्षेप पर कई पहलुओं से विचार किया जा सकता है। रस का अर्थ यदि मूलतः काव्यास्वाद है, तब तो उसकी स्थिति सहृदय में ही माननी पड़ेगी, क्योंकि आस्वादन की चेतन-क्रिया व्यक्ति में ही सम्भव है, वस्तु में नहीं। कवि काव्य और सहृदय के त्रैत में काव्य जड़ पदार्थ है, अतः आस्वाद की क्षमता उसमें नहीं है ? हाँ, वह आस्वाद का निमित्त अवश्य ही होता है। कवि भी व्यक्त रूप में रस का स्रष्टा है—शास्त्रीय शब्दावली में रस के अभिव्यंजक काव्य का कर्ता है। अतः रस अर्थात् काव्य के आस्वाद का

भोक्ता वस्तुतः सहृदय ही है, इसका निषेध कम-से-कम व्यवहार में नहीं किया जा सकता। तत्त्वदृष्टि से भी, प्रमाता के अतिरिक्त पदार्थ में रस की स्थिति प्रमाणित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है : भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों की समस्त ऊहापोह अभी तक अद्वैत से अधिक प्रामाणिक कल्पना नहीं कर सकी। परन्तु हम इस विवाद में आपको नहीं उलझाना चाहते, क्योंकि काव्य के सत्यों को हम दर्शन और तर्कशास्त्र की उपकल्पनाओं से यथासम्भव दूर रखकर काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझना चाहते हैं। किन्तु यहाँ एक-दूसरा प्रश्न सामने आता है कि काव्य का इस रस से क्या सम्बन्ध है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि काव्य इस रस का प्रेरक या निमित्त कारण है। स्वयं अभिनव ने गुणालंकारमय शब्दार्थ=काव्य के महत्त्व का उच्छ्वासमय वाणी में निर्वचन किया है; यह गुणालंकारमय शब्दार्थ ही विभावादि के साधारणीकरण—आधुनिक शब्दावली में भावात्मक रूप में उप-स्थापन—द्वारा सहृदय के स्थायी भाव को देशकाल की सीमा एवं व्यक्तिगत रागद्वेप से मुक्त करता हुआ, रस में परिणत कर देता है। अभिनव के अनुसार स्थायी भाव की निर्विघ्न प्रतीति ही रस है—इस प्रतीति का भोक्ता निश्चय ही सहृदय है, परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में इसे निर्विघ्न करने का एकमात्र साधन गुणालंकारमय शब्दार्थ या काव्य ही है। अतः काव्य का महत्त्व रस-सिद्धान्त में गौण नहीं है, हो भी कैसे सकता था, उसकी तो जन्मभूमि या आधारभूमि ही काव्य है, जिसके बिना उसका अस्तित्व ही काल्पनिक बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सहृदय की ग्रहण-शक्ति की विफलता रस का सबसे बड़ा विघ्न है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उससे काव्य-सौन्दर्य का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। रसविघ्नों के प्रकरण में इस शंका का निवारण किया जा चुका है; ऐसी स्थिति में कवि या काव्य का दोप नहीं होता, यहाँ तो सहृदयता ही दुष्ट हो जाती है। यहाँ तक तो हुई प्रमातृगत रस की बात, वस्तुगत रस-कल्पना का भी भारतीय रसशास्त्र में अभाव नहीं है। भरत, लोल्लट और शंकुक द्वारा प्रतिपादित रस तो निश्चय ही वस्तुगत है—उसकी रंगमंच पर काव्य-कौशल तथा नाट्य-कौशल के द्वारा सृष्टि होती है और वह आस्वाद रूप न होकर आस्वाद्य ही होता है। उधर जैन आचार्यों ने भी रस की स्थिति काव्यगत भाव-सामग्री में ही मानी है। इसी प्रकार कविगत रस की कल्पना भी नयी नहीं है, भरत, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, तथा अभिनव आदि सभी मूर्धन्य रसाचार्यों ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उसे स्वीकार किया है :

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। अर्थात् जो कवि की अनुभूति का भावन कराता है, शास्त्र में उसका नाम भाव है।

> **यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।**
> **तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥** नाट्यशास्त्र ६.७

—अर्थात् जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते है, इसी प्रकार [कविगत] रस ही मूल हैं और उनके द्वारा ही भावों की स्थिति होती है।

भरत द्वारा उद्धृत इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, अभिनव ने, आनन्दवर्धन का प्रमाण देकर, कविगत रस का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है :

उसी कविगत साधारणीभूत रससंविन्मूलक काव्य के द्वारा नट का व्यापार होता है। और वही [कविगत] संवित् वास्तव में [मूलभूत] रस है। उसकी प्रतीति के वशीभूत उस [कविगत रस से प्रभावित] सामाजिक को अपोद्धारबुद्धि अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक आदि के द्वारा बाद को विभावादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस [भावादि का मूल कारण] है। कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए ध्वन्यालोक-कार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि 'यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और वह यदि वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है' इत्यादि। उस [बीजस्थानीय कविगत रस] से वृक्षस्थानीय काव्य [उत्पन्न] होता है। उसमें पुष्प-स्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए [सामाजिक के लिए सारा काव्य]—जगत् रसमय ही होता है।

(हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१५)

कविगत रस की इस व्याख्या के उपरान्त श्री मर्ढेकर के आक्षेप का सहज ही निराकरण हो जाता है : मांसभक्षण के उपर्युक्त प्रसंग में कवि की अनुभूति ही मूल रस है, सहृदय की अनुभूति—रस का निर्णय उसी के अनुसार होगा। काव्यगत स्थायी भाव से अभिप्राय प्रत्येक पात्र के स्थायी भाव का नहीं है वरन् कविगत स्थायी भाव का ही है : कवि का भाव यदि जुगुप्सा है तो सहृदय को भी जुगुप्सा (बीभत्स रस) का अनुभव होगा, कवि का भाव यदि क्रोध है तो क्रोध (रौद्र रस) का और यदि भय है तो भय (भयानक रस) का। साधारणीकरण के प्रसंग में हम इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके हैं।

रस की अभिव्यक्ति का विरोध भी भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नया नहीं है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व लोल्लट तथा शंकुक ने और उसके बाद भी भट्टनायक, महिमभट्ट, धनंजय आदि ने रस की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निषेध किया है। स्वयं भरत का मत ही उसके विरुद्ध है, भरत के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ वस्तुतः निर्मिति ही है। निष्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने षाडवादि रस का जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह सन्देह नहीं रह जाता कि उनके मत से रसास्वाद एक मिश्र अनुभूति है जिसमें आधारभूत स्थायिभाव के साथ काव्य तथा नाट्य सौन्दर्य की अनुभूतियों का भी मिश्रण रहता है, जिस प्रकार षाडवादि रस के आस्वाद में अन्न के स्वाद के साथ द्रव्य, व्यंजन और ओषधि आदि का स्वाद मिला होता है। लोल्लट ने भी उपचिति की प्रकल्पना के द्वारा इसी मत का पोषण किया है और भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए भुक्ति की कल्पना इसी आधार पर की है—भट्टनायक के मत के अनुसार भी सहृदय रस रूप में जिस स्थायी भाव का भोग करता है वह अमिश्र रत्यादि न होकर गुणालंकार अर्थात् काव्य-सौन्दर्य और चतुर्विध अभिनय अर्थात् नाट्य-सौन्दर्य की अनुभूति से संवलित होता है : वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र में निरूपित 'कलात्मक भाव' का ही पर्याय है। अतः 'निर्मिति' की धारणा रसशास्त्र में अज्ञात नहीं थी। किन्तु, इसके साथ, यह कहना भी संगत नहीं है कि रसाभिव्यक्ति का सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है। जिस आधुनिक आलोचक ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में काव्यास्वाद को शुद्ध अनुभूति न मानकर अनुभूतियों का एक विधान माना

है, उसी के विश्लेषण के आधार पर 'अभिव्यक्ति' की भी सिद्धि हो जाती है। डॉ० रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उसके छह अवस्थान माने हैं : चाक्षुष संवेदन (बिम्ब-विधान); सम्बद्ध बिम्ब-विधान; स्वतन्त्र बिम्ब-विधान; विचार; भावोद्बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण। इस विश्लेषण के अनुसार—किसी मुद्रित या लिखित कविता का अध्ययन करने पर पाठक के मन में पहले तो अक्षरों के बिम्ब उभरते हैं, फिर उनकी रूपाकृतियों और नाद से सम्बद्ध बिम्ब, तब इन अक्षरों द्वारा निर्मित शब्दों के प्रचलित वाच्यार्थ से सम्बद्ध बिम्ब उभरकर आते हैं जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होते हैं; इसके उपरान्त इन शब्दों के वाच्यार्थ के समन्वित रूप द्वारा पाठक की कल्पना और विचार जागृत हो उठते हैं जिनके फलस्वरूप उसके **भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं**—और अन्त में इस प्रक्रिया का संयुक्त परिणाम होता है एक विशेष मनोदशा का निर्माण। इस प्रकार कविता द्वारा प्रमाता के भाव का उद्बोध तो मनोवैज्ञानिक को भी मान्य है : मनोविज्ञान भी भाव की उद्बुद्धि का निषेध नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी मानव-चेतना की कुछ प्रवृत्तियों की 'स्थिर वृत्तियों' के रूप में कल्पना की गयी है। कविता के द्वारा प्रमाता की चेतना में जिस भाव या भाव-शबलता का उद्बोध होता है वह निश्चय ही उसका अपना भाव या अनुभव होता है, कवि का भाव या अनुभव उसका प्रेरक या निमित्त कारण अवश्य होता है, परन्तु कवि के भाव का ही यथावत् संचरण या स्थानान्तरण प्रमाता के चित्त में नहीं होता—नहीं हो सकता। यहीं हम अभिव्यक्ति तथा सम्प्रेषण या संचार-सिद्धान्तों के विवाद की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं और हमारे सामने एक बार फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यानुभूति अथवा रस का संचरण (संप्रेषण)[१] होता है अथवा अभिव्यक्ति ? इस प्रश्न का समाधान भी हम यथाप्रसंग कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि अभिव्यक्ति-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाता के चित्त में जिस अनुभूति के उदय की कल्पना निहित है वह कवि की अनुभूति से स्वतन्त्र एवं भिन्न नहीं होती; उसका मूल कविगत अनुभूति ही है, अतः वह कविगत अनुभूति के बहुत-कुछ समान ही होती है। इसी तरह 'संचरण' का भी यह अभिप्राय नहीं है कि प्रमाता के चित्त में कवि की अनुभूति का ही यथावत् संप्रेषण या स्थानान्तरण हो जाता है और प्रमाता अपनी अनुभूति का नहीं कवि की अनुभूति का ही आस्वादन करता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने अत्यन्त निर्भ्रान्त शब्दों में ऐसी अनर्गल कल्पना का प्रतिवाद किया है। संचरण-सिद्धान्त का भी प्रतिपाद्य यही है कि किसी कविता को पढ़कर प्रमाता के चित्त में उस कविता में व्यक्त कवि की मूल भावना के समान अनुभूति का ही उदय होता है—ठीक वही अनुभूति प्रमाता के चित्त में संचरित नहीं हो जाती, हो ही नहीं सकती। अतः संप्रेपण और अभिव्यक्ति का विरोध प्रायः शास्त्रीय ही है, व्यवहार में दोनों में विशेष भेद नहीं रह जाता, क्योंकि दोनों में 'समान अनुभूति' की कल्पना ही निहित है : न तो संप्रेषण-सिद्धान्त यह दावा करता है कि काव्य के आस्वादन में प्रमाता केवल कवि की ही अनुभूति का आस्वादन करता है—उसमें प्रमाता की अपनी अनुभूति का योग नहीं होता और न अभिव्यक्तिवाद यह प्रस्तावना करता है कि प्रमाता कवि की अनुभूति से सर्वथा

---

१ कम्युनिकेशन

स्वतन्त्र शुद्ध स्वानुभूति का ही आस्वादन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'निर्मिति' तथा 'संप्रेपण' की स्थापनाओं के द्वारा 'अभिव्यक्ति' का खण्डन करने से रस-सिद्धान्त की अमान्यता सिद्ध नहीं हो जाती, क्योंकि एक तो रस की अभिव्यक्ति का एकान्त निषेध असम्भव है, दूसरे अभिव्यक्ति की कल्पना में 'निर्मिति' और 'संप्रेषण' की कल्पनाओं का भी अभाव नहीं है।

अब केवल दो आक्षेप शेष रह जाते हैं। इनमें से एक तो यह है कि रस-सिद्धान्त के साथ आज के साहित्य की मूल चेतना की संगति नहीं बैठती। रस-सिद्धान्त जीवन के स्थायी मूल्यों पर आधृत है, जबकि आज तो स्थायित्व की धारणा ही विघटित हो गयी है। आज के जीवन में आस्था का ही पूर्णतया विघटन हो गया है, अतः आज की कविता के लिए आनन्दवादी मूल्यों पर आधृत रस-सिद्धान्त निरर्थक है। आस्था का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है जिसका काव्य से ही नहीं सम्पूर्ण जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि आज जीवन के लिए जितना खतरा पैदा हो गया है उतना इतिहास के किसी युग में नहीं था और जब मानवता का अस्तित्व ही प्रति क्षण ख़तरे में है तो आस्था के लिए अवलम्ब ही क्या रहा ? इसलिए यह अनास्था—और तज्जन्य विषाद आज का अनुभूत तथ्य है जिससे कोई सच्चा कलाकार बच नहीं सकता। फिर भी मैं पूछता हूँ कि क्या आज वास्तव में ही आस्था का विघटन हो गया है ? यदि ऐसा है तो प्रभाव-विस्तार, शक्ति-संगठन, शान्ति और सुरक्षा के विश्वव्यापी प्रयत्नों का आधार क्या है ? क्या सर्वनाश का यह ख़तरा ही हमारी जिजीविषा को तीव्र नहीं कर रहा और क्या जिजीविषा की तीव्रता ही आस्था की अनिवार्यता को सिद्ध नहीं करती। क्या आज की सम्भावनाओं में केवल प्रलय की सम्भावना ही काम्य है ? सर्वनाश के भय से एकत्र मानव-समाज के सार्वभौम संगठन की सम्भावना का कोई मूल्य नहीं है ? सम्भावनाएँ दोनों ही हो सकती हैं : अब यह आप पर निर्भर करता है कि किसका चयन करें। यदि आप यही मानने का आग्रह करते हैं कि प्रलय का ख़तरा ही आज का एकमात्र सत्य है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है, तो इसमें रस-सिद्धान्त का क्या दोष ? —यद्यपि यह आत्मघाती निराशा भी रस की परिधि से बाहर नहीं पड़ती और यदि आप में सचमुच ही इस निराशा को सुन्दर रूप प्रदान करने की क्षमता है, तो रस-सिद्धान्त ही वस्तुतः आपकी कला का मूल्यांकन कर सकता है। फिर भी, व्यापक दृष्टि से, इस विषय में मैं केवल यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जिनकी चेतना अधिक अनाविल और विचारणा अधिक स्वस्थ है, वे आपसे सहमत नहीं हैं। जब तक जीवन है, तब तक आस्था अनिवार्य है और यदि जीवन में ही विश्वास नहीं है तो कला के प्रति विश्वास करने से क्या सिद्ध होगा ? इसी आक्षेप का दूसरा पहलू यह है कि रस के परिपाक के लिए स्थायी भाव की सद्यःअनुभूति की नहीं वरन् अतीत अनुभूति के संस्कार या वासना की आवश्यकता होती है जबकि वर्तमान जीवन में केवल क्षण ही सत्य है और आज की कविता सद्यःअनुभूति की भी नहीं वरन् अनुभूयमान क्षण की ही कविता है। किन्तु यह केवल वाग्विलास है : सिद्धान्त का कल्पनात्मक प्रतिपादन है जो तथ्य से भिन्न है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनुभूति और कर्म, भोग और सृजन की युगपत् सत्ता नहीं होती—यह प्रकृति का नियम

है। अतः काव्य की सृष्टि भी अनुभूति के भोग की अवस्था में असम्भव है। जब अनुभूत क्षण को शब्द-बद्ध करना ही इतना कठिन होता है तो अनुभूयमान क्षण को आप शब्द में कैसे बाँध सकते हैं ? अनुभूयमान भाव की संवेदनों से अधिक कोई स्थिति नहीं—इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्मचेता कलाकार की कल्पना इन अरूप संवेदनों को रूप देने का प्रयास करती है, परन्तु ज्यों ही ये संवेदन रूपायित होते हैं त्यों ही अनुभूत भी हो जाते हैं : अनुभूयमान की रूपायिति ही अनुभूति है जहाँ 'क्षण' 'अतीत' बन जाता है। क्रोचे ने इसे ही सहजानुभूति माना है। क्रोचे के अनुसार यह सहजानुभूति ही कला है। परन्तु कला के वे दो रूप मानते हैं—एक आन्तरिक रूप और दूसरा व्यावहारिक रूप। सहजानुभूति कला का आन्तरिक रूप ही है जो अवश भाव से कलाकार की चेतना में घटित हो जाता है—व्यवहार दृष्टि से यह कला की 'प्रकल्पना' है, कला नहीं; व्यवहार में हम जिसे कला कहते हैं, जो विवेचना का विषय है, वह इस सहजानुभूति की मूर्त उपकरणों द्वारा प्रस्तुति का ही नाम है जिसे कलाकार स्वेच्छा से अपनी अतीत सहजानुभूति के आधार पर ही सिद्ध करता है। अतः अनुभूयमान क्षण की अभिव्यक्ति की कल्पना असिद्ध है; अनुभूत की ही सर्जना या पुनःसर्जना सम्भव है। इस प्रकार पहले असम्भव की कल्पना कर और फिर शब्द को, जो अनादि काल से मानव-जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे समर्थ साधन रहा है, सर्वाधिक वेध्य उपकरण कहकर, असाध्य-साधन के श्रेय का भागी बनना बुद्धि का चमत्कार तो माना जा सकता है किन्तु काव्य-सत्य के रूप में उसके लिए मान्यता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

रस-सिद्धान्त के विरुद्ध अन्तिम आक्षेप यह है कि उसके कारण काव्य-में पूरा बल आनन्द पर ही पड़ जाता है जिससे भोग-वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और उदात्त वृत्तियों की अपेक्षा हो जाती है। यह आक्षेप मूलतः नैतिक है और भिन्न-भिन्न युगों में तरह-तरह के रूप धारण कर जीवन तथा काव्य में आनन्दवाद का विरोध करता रहा है। इसका एक उत्तर तो यह है कि भारतीय दर्शन और काव्यशास्त्र में आनन्द के जिस रूप की कल्पना की गयी है वह मानव-चेतना के परिपूर्ण विकास का पर्याय है—मानव-व्यक्तित्व के सर्वांग उत्कर्ष का भावात्मक रूप या आस्वाद ही आनन्द है। यह विषय-भोग, सुख, मनोरंजन, प्लेज़र या लज़्ज़त का पर्याय नहीं है। आनन्द की इसी सर्वांगपूर्ण कल्पना पर आधृत होने के कारण रस की परिधि में मानव-चेतना की मधुर और कटु, सुखमय और दुःखमय सभी प्रकार की वृत्तियों का सहज रूप में अन्तर्भाव कर लिया गया है। उसमें आनन्द की सिद्धावस्था ही नहीं, साधनावस्था की भी पूर्ण स्वीकृति है। अतः रस के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर इस प्रकार का आरोप नहीं लगाया जा सकता—और इसका प्रमाण है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस-विवेचन जिन्होंने आनन्द का विरोध करते हुए भी रसवाद को ही काव्य का सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त माना है। इसके अतिरिक्त क्या आनन्द अपने आप में ही कल्याणकर नहीं है—क्या कल्याण की भी चरम सिद्धि आनन्द नहीं है ?

उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान के पश्चात् रस-सिद्धान्त की महत्त्व प्रतिष्ठा अनायास ही हो जाती है। शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में

काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य का, सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव-चेतना की मूल वृत्ति—राग—को धुरी बनाकर यह अन्य सभी प्रमुख तत्त्वों को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अतः जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य है जिसमें विभिन्न वादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हे। कारण वास्तव में यह है कि रस-सिद्धान्त मानववाद के दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है : यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ स्वीकार करता है; इसलिए मानव के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अन्तिम सत्य मानकर जीवन के विकास के साथ निरन्तर विकासशील है उसी प्रकार मानव-संवेदना को चरम सत्य मानकर रस-सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जैसे-जैसे जीवन की गतिविधि बदलती जाती है, वैसे-वैसे मानववाद की प्रकल्पना में भी संशोधन होता जाता है; ठीक इसी प्रकार जैसे-जैसे साहित्य की गतिविधि में परिवर्तन होता जाता है, वैसे-वैसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आकलन जिस प्रकार मानववाद में ही हो सकता है, इसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परितोष भी रस-सिद्धान्त के द्वारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका में जब तक मानवता से महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता—और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव-संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।

——— ———